आई. एस. एस. एन. 0523-1418 अंक 323, वर्ष 65
पौष—माघ—फाल्गुन
विक्रम संवत् 2082

भाषा

जनवरी—फरवरी 2026

पं. विद्यानिवास मिश्र पर विशेष

भाषा
जनवरी—फरवरी 2026

सत्यमेव जयते

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

भाषा (द्वैमासिक)

लेखकों/रचनाकारों हेतु दिशानिर्देश संबंधी नियमावली

1. 'भाषा' पत्रिका में मुख्य रूप से भारतीय भाषाओं पर आधारित भाषावैज्ञानिक, शोधपरक, साहित्यिक, तुलनात्मक साहित्य तथा अनूदित रचनाओं को प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अलावा प्रवासी साहित्य तथा समसामयिक विमर्शों (स्त्री/दलित/आदिवासी आदि) पर भी लेख प्रकाशित किए जाएँगे।
2. रचनाकारों से प्लेगरिजम संबंधी वचनबद्धता अनिवार्य है।
3. लेखों में संदर्भ–सूची देना अनिवार्य है। संबंधित संदर्भ प्रत्येक पृष्ठ के नीचे अंकित होने चाहिए।
4. समीक्षा केवल दो वर्ष पुरानी पुस्तकों की ही प्रकाशित की जाएगी। समीक्षा हेतु पुस्तक की दो प्रतियाँ ली जाएँगी। स्वतः की गई समीक्षा को प्रकाशित किए जाने के लिए संपादन–मंडल बाध्य नहीं है।
5. 'भाषा' पत्रिका में केवल केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक वर्तनी का प्रयोग ही किया जाएगा।
6. पत्रिका में प्रकाशन हेतु हस्तलिखित रचनाएँ स्वीकार नहीं की जाएँगी। हस्तलिखित रचनाएँ प्राप्त होने की स्थिति में रचनाएँ लौटाई नहीं जाएँगी।
7. 'भाषा' में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध होनी चाहिए। रचनाएँ अनिवार्य रूप से टंकित रूप में यूनिकोड फॉन्ट में ही स्वीकार की जाएँगी।
8. लेख सामान्यतः फुलस्केप आकार के दस पृष्ठों से अधिक नहीं होंने चाहिए और हाशिया छोड़कर एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए। लेख इत्यादि भेजते समय इस आशय का प्रमाण–पत्र भी भेजा जाए कि रचना मौलिक तथा अप्रकाशित है तथा किसी भी रूप में अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुई है।
9. अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना अनिवार्य है।
10. 'भाषा' पत्रिका में प्रकाशित अंकों से संबंधित लेखकों/रचनाकारों/पाठकों की टिप्पणियों तथा सुझावों को पत्रिका के अंत में 'आपने लिखा' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित किया जाएगा।
11. पत्रिका की ई–प्रति पीडीएफ स्वरूप में यथासमय निदेशालय की आधिकारिक वेबसाइट (www.chdpublication.education.gov.in) पर अपलोड की जाएगी।
12. सामग्री के प्रकाशन के संबंध में प्रधान संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।

संपादकीय कार्यालय

संपादक, भाषा पत्रिका, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110066

भाषा

जनवरी–फरवरी 2026

प्रधान संपादक
हितेंद्र कुमार मिश्र

परामर्श मंडल
जी. गोपीनाथन
चक्रधर त्रिपाठी
श्रीराम परिहार
नरेंद्र मिश्र
किरण हजारिका
विशाला शर्मा
कुलदीप अग्निशेखर

संपादक
एस. श्रीनिवासन

संपादक मंडल
नूतन पाण्डेय
अनुपम माथुर
किरण झा
प्रदीप कुमार ठाकुर
रमना
रामअवतार

कार्यालयीन व्यवस्था
विक्रांत हुड्डा
संजीव कुमार

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

ISSN 0523-1418
भाषा (द्वैमासिक)
वर्ष : **65** **अंक** : **1** **(323)**

जनवरी–फरवरी 2026

संपादकीय कार्यालय
केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.education.gov.in / www.chd.education.gov.in
ई–मेल : bhashaunit@gmail.com दूरभाषः 011-26105211/12

बिक्री केंद्र 1 :

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 दूरभाषः 011-26105211/12 (सदस्यता हेतु ड्राफ्ट निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में भेजें।)

बिक्री केंद्र 2 :

नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, सिविल लाइंस, दिल्ली - 110054, वेबसाइट : www.deptpub.gov.in, ई–मेल : acop-dep@nic.in दूरभाष : 011-23817823/ 9689 (सदस्यता हेतु ड्राफ्ट नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, दिल्ली के पक्ष में भेजें।)

निर्देश :

1. शुल्क सीधे www.bharatkosh.gov.in → Quick Payment → Ministry (007 Higher Educationn) → Purpose (Education receipt) 211766 JR.ADMN. OFFICER CENTRAL HINDI DIRECTORATE में digital mode से जमा करवाई जा सकती है।
2. कृपया ऊपर दिए गए बिंदुओं के आधार पर सूचनाएँ देते हुए संलग्न प्रोफॉर्मा भरकर भेजें।
3. 'भाषा' पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र निदेशालय की वेबसाइट www.chdpublication.education.gov.in से डाउनलोड किया जा सकता है।

मूल्य :

1. एक प्रति का मूल्य	=	रु. 50.00	(डाक खर्च सहित)
2. वार्षिक सदस्यता शुल्क	=	रु. 250.00	
3. पंचवर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 1250.00	
4. दस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 2500.00	

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे भारत सरकार या संपादन मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

प्रधान संपादक की कलम से
संपादकीय

धरोहर

1.	गंगा बहती हो क्यूँ/जय जयति भारत भारती	पं. नरेंद्र शर्मा	11
2.	लछमा	महादेवी वर्मा	13

पं. विद्यानिवास मिश्र पर शताब्दी विशेष

3.	भारतीय संवेदना और मानवीय गरिमा के कृती रचनाकार	गिरीश्वर मिश्र	22
4.	पंडित विद्यानिवास मिश्र : एक व्यक्तिव्यंजक निर्बंध निबंध	नर्मदा प्रसाद उपाध्याय	31
5.	पंडित विद्यानिवास मिश्र का 'नव्य भाषा–चिंतन'	दिलीप सिंह	38
6.	लोक तथा शास्त्र का समन्वय	अजयेन्द्रनाथ त्रिवेदी	54
7.	वही अमराई कहती है राम राम	परितोष मणि	60
8.	भारत और भारतीय परंपरा का विवेक	चित्तरंजन मिश्र	70

आलेख

9.	एक शताब्दी पुरुष का 'रागदरबारी'	गिरीश पंकज	83
10.	'मेघदूत' के परिप्रेक्ष्य में भारतबोध	विकास शर्मा	89
11.	भाषाई संरचना और विद्यापति की कीर्तिलता	राहुल सिद्धार्थ	103
12.	असम में राम–साहित्य की परंपरा	नागेश्वर यादव	112
13.	पून्तानं की कृष्ण भक्ति	अंजली. एस	127
14.	ज्ञान से कला तकः भारतीय लोक परंपरा, सामाजिक मूल्य और आधुनिक संदर्भ	नम्रता सिंह और पी. फणी कृष्णा	137

यात्रा वृत्तांत

15.	मेरी महेश्वर यात्रा	कमला नरवरिया	143

कहानी

16.	घंटियाँ	रेखा राजवंशी	148
17.	उस रात	आनंदप्रकाश त्रिपाठी	153
18.	बोनी(तमिल/हिंदी)	मूल : शिवशंकरी अनुवाद : जमुना कृष्णराज	166

19. अर्द्धांगिनी (ओडिया/हिंदी)	मूल : सदानंद त्रिपाठी अनुवाद : भगवान त्रिपाठी	171

कविता

20. भय/मैं कौन हूँ (हिंदी)	प्रदीप मिश्र	182
21. कितने हिस्सों में बँटी हूँ (हिंदी)	पारमिता षड़ंगी	184
22. जयिल मुट्टत्ते पूक्कल (मलयालम/हिंदी)	मूल : ए अय्यप्पन अनुवाद. अनुपमा सी. वी.	186
23. रिल्के (कन्नड/हिंदी)	मूल : सुमतींद्र नाडिग अनुवाद : टी. आर. भट्ट	190

समीक्षा

24. गालिब–ओ–मीर को सीने से लगाए घूमेः ('आसान' –आलोक श्रीवास्तव)	हीरालाल नागर	194
25. विहंगमः समस्या से समाधान की यात्रा (विहंगमः गंगापथ के भगीरथ आख्यान–अभय मिश्र)	गौरव गौतम	200
26. प्रकारांतर से (कुबेर कुमावत)	हेमचन्द्र पांडे	206
27. भारतीयता, भारतीय संस्कृति और आधुनिकता (संगीता कुमारी)	प्रियंका यादव	210
आपने लिखा		214
सदस्यता फॉर्म		216

प्रधान संपादक की कलम से

भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं होती, वह किसी समाज की स्मृति, उसकी संवेदना, उसके विवेक और उसकी सांस्कृतिक चेतना का जीवंत स्वरूप होती है। भाषा के माध्यम से ही कोई सभ्यता अपने अतीत से संवाद करती है, वर्तमान को आकार देती है और भविष्य की दिशा निर्धारित करती है। ऐसे में भाषा से जुड़ी बौद्धिक और सृजनात्मक धरोहर जिसमें महान लेखकों और विचारकों का अथक योगदान निहित है, हमारे लिए केवल अध्ययन का ही नहीं, बल्कि कृतज्ञता और उत्तरदायित्व का विषय भी है। अतएव आवश्यक है कि हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक धरोहरों के रचयिताओं की स्मृतियों का भी समय–समय पर मनन किया जाए।

हिंदी भाषा और भारतीय चिंतन परंपरा को जिन मनीषियों ने नए आयाम दिए, उनमें पंडित विद्यानिवास मिश्र का स्थान अत्यंत विशिष्ट और सम्माननीय है। यह वर्ष उनकी जन्म शताब्दी का वर्ष है और यह संयोग नहीं बल्कि एक सार्थक अवसर है कि हम उनके वैचारिक अवदान को समग्रता में स्मरण करें, समझें और आत्मसात करें। वे केवल भाषा के विद्वान नहीं थे, वे भारतीय संवेदना के सजग अन्वेषक, मानवीय गरिमा के प्रखर पक्षधर और लोक एवं शास्त्र के सेतु–निर्माता भी थे। उनकी दृष्टि में भाषा एक जीवंत सत्ता थी–ऐसी सत्ता जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है, समाज को संस्कृति से और परंपरा को आधुनिकता से। उनकी कृतियों में भारतीय संवेदना और मानवीय गरिमा का जो स्वर मुखर होता है, वह आज के समय में और भी अधिक प्रासंगिक हो उठता है।

नए वर्ष के इस प्रवेशांक में 'भाषा' पत्रिका के कलेवर तथा उसकी आतंरिक संरचना को बदलने का प्रयास किया गया है। इस नए अंक से लेखकों तथा रचनाकारों के लिए दिए गए दिशानिर्देशों को और अधिक स्पष्ट किया गया है ताकि 'भाषा' पत्रिका की प्रकृति के अनुसार देश के कोने–कोने से विशेषकर हिंदीतरभाषी राज्यों से भी अधिकाधिक रचनाएँ प्राप्त हो सकें। एक तरह से हम इसे भारतीय भाषाओं की पत्रिका बनाने की ओर अग्रसर हैं ताकि इसमें हिंदी भाषा के साथ–साथ अन्य भारतीय भाषाओं का भी उचित प्रतिनिधित्व हो सके।

जनवरी–फरवरी माह हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के लिए विशेष है। विश्व हिंदी दिवस तथा अंतरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस जैसे विशिष्ट आयोजन इन्हीं

महीनों के दौरान आयोजित किए जाते हैं। ये आयोजन हमें अपनी तय परिधि से बाहर निकलकर वैश्विक फलक पर अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति को पहुँचाने तथा उसका नए सिरे से मूल्यांकन करने तथा सोचने–विचारने का अवसर प्रदान करते हैं। इस संदर्भ में हम गांधीजी से बहुत कुछ सीख सकते हैं। गुजराती भाषी होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय हित में अपनी मातृभाषा के बरक्स हिंदी को विशेष तरजीह दी और उसे राष्ट्र की आवाज़ बनाने का पुरजोर समर्थन किया।

भारत सरकार अपनी इसी नीति के तहत समृद्ध भाषाओं को शास्त्रीय भाषा का दर्जा भी प्रदान कर रही है। वर्तमान में कुल ग्यारह भारतीय भाषाओं को शास्त्रीय भाषा का दर्जा प्राप्त है। भारत सरकार भारतीय भाषाओं को हिंदी के साथ उसकी समग्रता में देखने का प्रयास कर रही है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप विश्व की अनेक भाषाओं के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है, ऐसे में यह जरूरी है कि देश के विभिन्न प्रांतों में बोली जाने वाली भाषाओं के संरक्षण और संवर्धन का प्रयास किया जाए। इस मायने में 'भाषा' पत्रिका का यह अंक विशेष उल्लेखनीय है। वास्तव में भाषा केवल बात कहने का साधन नहीं है, बल्कि सोचने, समझने और जुड़ने की प्रक्रिया है। यह वह भाषा है जो मनुष्य के मन की भावनाओं से लेकर समाज की सच्चाइयों तक को स्पष्टता और ईमानदारी से सामने रखती है। इसमें एक भरा–पूरा इतिहास निहित होता है, जो हमारी ज्ञान–परंपरा में बहुत कुछ बहुमूल्य जोड़ता है।

इस अंक का उद्देश्य पाठक को केवल जानकारी देना नहीं है, बल्कि उसे ठहरकर सोचने का अवसर देना है। यह अंक यह सवाल उठाता है कि हम भाषा का उपयोग कैसे करते हैं और उससे हम किस तरह का समाज बनाते हैं? इस अर्थ में यह अंक भाषा के माध्यम से मनुष्य और समाज के रिश्ते को समझने का एक सादा, लेकिन अर्थपूर्ण प्रयास है।

प्रधान संपादक के रूप में मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हम भाषा को इस प्रकार पढ़ें और समझें कि वह हमारे जीवन, हमारे व्यवहार और हमारे सामाजिक दृष्टिकोण का हिस्सा बन जाए, तभी ऐसे अंकों की सार्थकता सिद्ध होगी। इसी आशा और विश्वास के साथ यह अंक पाठकों को समर्पित है कि वे इसमें निहित भाषा, परंपरा और मानवीय मूल्यों के आलोक को अपने भीतर उतारेंगे और उसे आगे बढ़ाने में सहभागी बनेंगे। आपके सुझाव भाषा के लिए संजीवनी है।

(हितेंद्र कुमार मिश्र)

संपादकीय

भारत केवल विविधताओं का ही देश नहीं है बल्कि विविधता को एकता में पिरोने की संस्कृति वाला देश भी हैं। भारतीय संस्कृति लोककथाओं, भक्ति, साहित्य, दर्शन, मौखिक परंपरा तथा लोकजीवन से विकसित हुई हैं। इन सभी का प्रमुख माध्यम रही है 'भाषा'। यहाँ की संस्कृति, परंपराएँ, भाषाएँ तथा धर्म लोगों की पहचान हैं। इसमें हिंदी भाषा का अहम् योगदान हैं। हिंदी न केवल संपर्क भाषा है बल्कि जन–जन की भावनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम तथा विविधताओं की संवाहक भी है। आज के बदलते सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक परिवेश में हिंदी भाषा का शिक्षण एक गंभीर विमर्श की माँग करता है। आज हिंदी ने वैश्विक स्तर पर अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है। भक्तिकाल में कबीर, तुलसीदास और सूरदास ने भाषा को जनसाधारण तक पहुँचाया तो आधुनिक काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, निराला और अज्ञेय जैसे साहित्यकारों ने हिंदी को विचार, संवेदना और सामाजिक चेतना का माध्यम बनाया।

आज शिक्षा व्यवस्था में हिंदी को केवल एक विषय तक सीमित कर दिया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे जीवन–मूल्यों, सांस्कृतिक–चेतना तथा व्यक्तिगत सर्वांगीण विकास से जोड़कर पढ़ाया जाना चाहिए। भाषा–शिक्षण का उद्देश्य केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना ही नहीं होना चाहिए बल्कि इससे अभिव्यक्ति, संवेदनशीलता और चिंतन–क्षमता का विकास भी होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, अंग्रेजी के बढ़ते प्रभाव के कारण हिंदी को कई बार कमतर आँका जाता हैं। यह प्रवृत्ति न केवल भाषाई असंतुलन प्रकट करती है, बल्कि सांस्कृतिक विश्वास को भी कमजोर बनाती है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा पर बल देकर सामाजिक परिवेश को एक सकारात्मक दिशा दी है। अब आवश्यकता है कि हिंदी भाषा शिक्षण को आधुनिक तकनीक, समसामयिक विषयों और रचनात्मक गतिविधियों से जोड़ा जाए। नाटक, वाद–विवाद, कहानी–लेखन, डिजिटल–माध्यम और लोक कला के माध्यम से हिंदी को समृद्ध और जीवंत बनाया जा सकता है। हिंदी भाषा का विकास और संरक्षण केवल सरकारी योजनाओं से ही नहीं बल्कि हमारे दैनिक व्यवहार, शिक्षा और सोच से संभव है। यदि हम अपनी भाषा को सम्मान देंगे तो हमारी संस्कृति स्वतः सुदृढ़ होगी। यही आधुनिकता की माँग है और सच्चा राष्ट्र–निर्माण भी।

प्रसिद्ध साहित्यकार, भाषाविद् तथा ललित–निबंधकार पंडित विद्यानिवास मिश्र के जन्मशताब्दी वर्ष (2026) के उपलक्ष्य में उनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक

विरासत को याद करते हुए उनकी स्मृतियों को **पं. विद्यानिवास मिश्र पर शताब्दी विशेष** के अंतर्गत इस अंक में पिरोया गया हैं। उनके लेखन में गहन चिंतन के साथ–साथ सहजता और मानवीय संवेदना दिखाई देती है। वे केवल साहित्यकार ही नहीं, बल्कि संस्कृति, दर्शन और भारतीय परंपरा के गहरे अध्येता थे। पं. विद्यानिवास मिश्र का व्यक्तित्व भारतीय परंपरा की समग्रता की दर्शाता है। उनके लेखन में धर्म का अर्थ संकीर्णता नहीं, बल्कि मानवता, करुणा और कर्तव्यबोध है। पं. विद्यानिवास मिश्र का लेखन भारतीय जीवन–मूल्यों पर केंद्रित है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय उनकी स्मृति को नमन करता है।

जनवरी का यह पावन महीना हमें दो ऐसे महत्वपूर्ण अवसरों से रूबरू करवाता है, जो विश्व स्तर पर भारत की मजबूत छवि को दर्शाते हैं– प्रवासी भारतीय दिवस 9 जनवरी तथा विश्व हिंदी दिवस (10 जनवरी) प्रवासी भारतीय दिवस करोड़ों प्रवासियों के सम्मान का दिन है जिन्होंने अपनी कड़ी मेहनत से विदेशों में भारत का गौरव बढ़ाया हैं। प्रवासी भारतीयों के इस सफर में जो डोर उनको अपनी मिट्‌टी से जोड़ती है, वह है हमारी भाषा–'हिंदी'। 10 जनवरी को मनाया जाने वाला 'विश्व हिंदी दिवस' का उद्‌देश्य हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनाना है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय की ओर से सभी पाठकों और भाषा प्रमियों को नववर्ष, प्रवासी भारतीय दिवस तथा विश्व हिंदी दिवस की अनंत शुभकामनाएँ।

भाषा पत्रिका के इस नए वर्ष (2026) के प्रवेशांक में विद्यानिवास मिश्र जी के साथ–साथ तुलनात्मक भाषा एवं साहित्य पर भी विशिष्ट सामग्री को शामिल किया गया है। हमें आशा है कि यह आपकी उम्मीदों पर खरा उतरेगा।

आपके सुझावों का स्वागत है।

एस. श्रीनिवासन

(एस. श्रीनिवासन)

श्रद्धांजलि

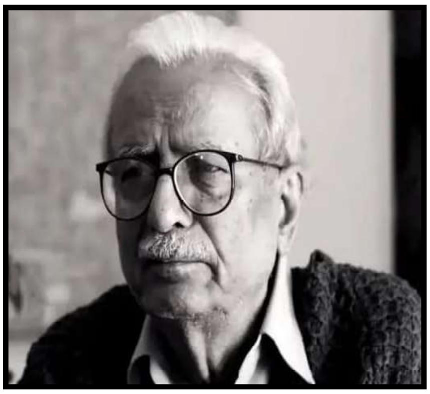

हिंदी साहित्य के शिखर पुरुष, अद्वितीय कथावाचक और कवि श्री विनोद कुमार शुक्ल जी का इस नश्वर जगत से गमन (23 दिसंबर 2025) साहित्य जगत के लिए एक युग का अंत है। अपनी जादुई यथार्थवादी शैली और 'साधारण' में 'असाधारण' ढूँढ लेने वाली दृष्टि के कारण वे समकालीन भारतीय साहित्य के एक जाज्वल्यमान और प्रेरणादायक आलोक–स्तंभ थे।

विनोद जी ने अपनी सहज, संवेदनशील और मौलिक अभिव्यक्ति से कविता, उपन्यास और कहानी सहित सभी विधाओं को एक नई ऊँचाई प्रदान की। 'नौकर की कमीज़' और 'सब कुछ होना बचा रहेगा' जैसी कालजयी कृतियों के माध्यम से उन्होंने न केवल हिंदी भाषा को समृद्ध किया, बल्कि वैश्विक पटल पर भारतीय संवेदना को स्थापित किया। उनकी लेखनी में छत्तीसगढ़ की माटी की सोंधी महक और मानवता के प्रति अगाध प्रेम स्पष्ट झलकता है। उनके अमूल्य योगदान के लिए उन्हें वर्ष 2024 के लिए भारत के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान ज्ञानपीठ पुरस्कार (59वें) से सम्मानित किया गया था। साथ ही उन्हें पैन–नाबोकोव पुरस्कार (2023) और साहित्य अकादेमी पुरस्कार (1999) जैसे कई अन्य प्रतिष्ठित सम्मानों से भी विभूषित किया गया था।

उनके निधन से साहित्य जगत को एक अपूरणीय क्षति हुई है। भारतीय साहित्य ने अपना एक ऐसा 'स्वप्नदृष्टा' खो दिया है जिसने शब्दों के माध्यम से एक बेहद कोमल और मानवीय संसार की रचना की थी। केंद्रीय हिंदी निदेशालय के भाषा परिवार की ओर से दिवंगत आत्मा के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि।

श्रद्धांजलि

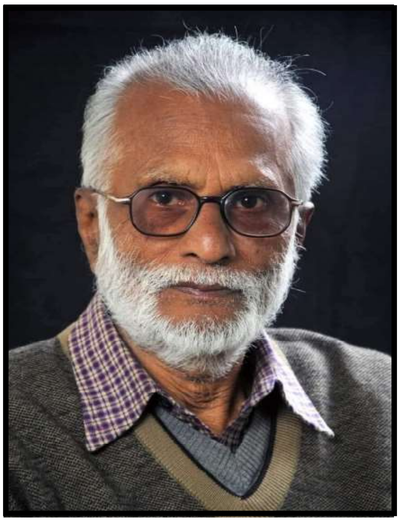

हिंदी के प्रमुख कथाकार और 'पहल' पत्रिका के संपादक ज्ञानरंजन जी का जन्म 21 नवंबर, 1936 को हुआ तथा 7 जनवरी, 2026 को वे अनंत मे विलीन हो गए। वे हिंदी साहित्य के उन रचनाकारों में थे, जिन्होंने अपनी सृजनात्मकता के माध्यम से समय, समाज और मनुष्य की जटिलताओं को गंभीरता से अभिव्यक्त किया। उनकी प्रमुख कृतियों में 'कबाड़खाना', 'फेंस के इधर और उधर', 'पिता के बाद', 'उपस्थिति का अर्थ' प्रमुख रूप से शामिल हैं। उनकी कविताओं में जीवन के यथार्थ पक्ष का सूक्ष्म चित्रण मिलता है। उनकी रचनाशीलता विचारप्रधान होते हुए भी संवेदनात्मक स्तर पर पाठक से सीधा संवाद स्थापित करती है। भाषा की सादगी, कथ्य की स्पष्टता और दृष्टि की प्रामाणिकता उनकी साहित्यिक पहचान रही है। ज्ञानरंजन जी का साहित्यिक योगदान हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। उनका विराम साहित्य जगत के लिए एक अप्राप्य क्षति है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय की ओर से दिवंगत आत्मा को विनम्र श्रद्धांजलि।

धरोहर

गंगा बहती हो क्यूँ

पं. नरेन्द्र शर्मा

विस्तार है अपार.. प्रजा दोनों पार.. करे हाहाकार...
निःशब्द सदा, ओ गंगा तुम, बहती हो क्यूँ?
नैतिकता नष्ट हुई, मानवता भ्रष्ट हुई,
निर्लज्ज भाव से, बहती हो क्यूँ?

इतिहास की पुकार, करे हुंकार,
ओ गंगा की धार, निर्बल जन को, सबल संग्रामी,
समग्र–गामी, बनाती नहीं हो क्यूँ?

विस्तार है अपार..प्रजा दोनों पार..करे हाहाकार ...
निःशब्द सदा, ओ गंगा तुम, बहती हो क्यूँ?
नैतिकता नष्ट हुई, मानवता भ्रष्ट हुई,
निर्लज्ज भाव से, बहती हो क्यूँ?

इतिहास की पुकार, करे हुंकार गंगा की धार,
निर्बल जन को, सबल–संग्रामी, समग्र–गामी,बनाती नहीं हो क्यूँ?
इतिहास की पुकार, करे हुंकार,ओ गंगा तुम, बहती हो क्यूँ?

अनपढ़ जन, अक्षरहीन, अनगिन जन,
अज्ञ विहिन नेत्र विहिन दिक मौन हो क्यूँ?
व्यक्ति रहे, व्यक्ति केंद्रित, सकल समाज,
व्यक्तित्व रहित, निष्प्राण समाज को तोड़ती न क्यूँ?
ओ गंगा की धार, निर्बल जन को, सबल–संग्रामी,
समग्र–गामी, बनाती नहीं हो क्यूँ?

विस्तार है अपार..प्रजा दोनों पार..करे हाहाकार...
निःशब्द सदा, ओ गंगा तुम, बहती हो क्यूँ?

अनपढ़ जन, अक्षरहीन, अनगिन जन,
अज्ञ विहिन नेत्र विहिन दिक मौन हो क्यूँ?
व्यक्ति रहे, व्यक्ति केंद्रित, सकल समाज,
व्यक्तित्त्व रहित, निष्प्राण समाज को तोड़ती न क्यूँ?
ओ गंगा की धार, निर्बल जन को सबल संग्रामी,
समग्र–गामी, बनाती नहीं हो क्यूँ?
विस्तार है अपार.. प्रजा दोनों पार.. करे हाहाकार...
निःशब्द सदा,ओ गंगा तुम, बहती हो क्यूँ?

2

जय जयति भारत भारती!

जय जयति भारत भारती!
अकलंक श्वेत सरोज पर वह
ज्योति देह विराजती!
नभ नील वीणा स्वरमयी
रविचंद्र दो ज्योतिर्कलश
है गूँज गंगा ज्ञान की
अनुगूँज में शाश्वत सुयश

हर बार हर झंकार में
आलोक नृत्य निखारती
जय जयति भारत भारती!

हो देश की भू उर्वरा
हर शब्द ज्योतिर्कण बने
वरदान दो माँ भारती
जो अग्नि भी चंदन बने

शत नयन दीपक बाल
भारत भूमि करती आरती
जय जयति भारत भारती!

❑❑❑

धरोहर

लछमा

महादेवी वर्मा

धुल–धुल कर धूमिल हो जाने वाले पुराने काले लहँगे को एक विचित्र प्रकार से खोंसे, फटी मटमैली ओढ़नी को कई फेंट देकर कमर से लपेटे और दाहिने हाथ में एक बड़ा–सा हँसिया सँभाले लछमा, नीचे पड़ी घास–पत्तियों के ढेर पर कूदकर खिलखिला उठी। कुछ पहाड़ी और कुछ हिंदी की खिचड़ी में उसने कहा – *हमारे लिए क्या डरते हो! हम क्या तुम्हारे जैसे आदमी हैं! हम तो हैं जानवर! देखो हमारे हाथ–पाँव! देखो हमारे कान!*

मुक्त हँसी से भरी यह पहाड़ी युवती, न जाने क्यों मुझे इतनी भली लगती है।

धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी ने कच्चे सेब को आग की आँच पर पका लिया हो। सूखी–सूखी पलकों में तरल–तरल आँखें ऐसी लगती हैं, मानो नीचे आँसुओं के अथाह जल में तैर रही हों और ऊपर हँसी की धूप से सूख गई हों!

शीत सहते–सहते होठों पर फैली नीलिमा, सम दाँतों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात–दिन कठिन पत्थरों पर दौड़ते–दौड़ते पैरों में और घास काटते–काटते और लकड़ी तोड़ते–तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गई है, उसे मिट्टी और गोबर की आर्द्रता ही कुछ कोमल कर देती है।

एक ऊँचे टीले पर लछमा का पहाड़ के हृदय पर पड़े छाले जैसा छोटा घास–फूस का घर है।

बाप की आँखें खराब हैं, माँ का हाथ टूट गया है और भतीजी – भतीजे की माता परलोकवासिनी और पिता विरक्त हो चुका है। सारांश यह है कि लछमा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इतना स्वस्थ नहीं, जो इन प्राणियों की जीविका की चिंता कर सके। और इस निर्जन में लछमा कौन–सा काम करके इतने व्यक्तियों को जीवित रखे, यह समस्या कभी हल न हो पाती। अच्छे दिनों की स्मृति के समान एक भैंस है। लछमा उसके लिए घास और पत्तियाँ लाती है। दूध दुहती, दही जमाती और मट्ठा बिलोती

है। गर्मियों में झोंपड़े के आस–पास कुछ आलू भी बो लेती है पर इससे अन्न का अभाव तो दूर नहीं होता ! वस्त्र की समस्या तो नहीं सुलझती!

लछमा की जीवन–गाथा उसके आँसुओं में भीग–भीगकर अब इतनी भारी हो गई है कि कोई अथक कथावाचक और अचल श्रोता भी उसका भार वहन करने को प्रस्तुत नहीं।

सभ्यता के शेष चिह्नों से साठ मील दूर स्थित एक गाँव में लछमा का विवाह हुआ था। उसकी ससुराल में बहुत जमीन थी, बहुत खेती होती थी, बहुत गाय, भैंस, बैल पड़े थे– सारांश यह कि सभी कुछ बहुत था पर कठोर भाग्य ने अपना व्यंग्य छिपाने के लिए एक स्थान निकाल ही लिया। उसका पति पागल तो नहीं कहा जा सकता पर उसका मानसिक विकास एक बालक के विकास से अधिक नहीं हो सका। पागल लड़के की बुद्धिमती और परिश्रमी बहू को सास–ससुर चाह सकते हैं पर देवर जेठों के लिए तो वह एक समस्या ही हो सकती है, क्योंकि उसकी उपस्थिति में भाई की संपत्ति का प्रबंध करना भी आवश्यक हो जाता है और उसे आत्मसात् करने की इच्छा रोकना भी अनिवार्य हो उठता है।

अनेक अत्याचार सहकर भी जब लछमा ने अपना अधिकार छोड़ने की इच्छा नहीं प्रकट की, तब एक बार वह इतनी अधिक पीटी गई कि बेहोश हो गई और मृत समझकर खड्ड में छिपा दी गई। कैसे वह होश में आई और किस असह्य कष्ट से घिसट–घिसट कर खड्ड के पार दूसरे गाँव तक पहुँच सकी, यह बताना कठिन होगा। अपने संबंधियों के अत्याचार के संबंध में उसने एक शब्द भी मुँह से न निकलने दिया, क्योंकि इससे उसके विचार में घर की मर्जाद चली जाती। इसके अतिरिक्त अपने मारे–पीटे जाने की बात अभिमानिनी लछमा कैसे बताती ! अचानक बहुत ऊँची शिला से गिरकर चोट खा गई है, इस कल्पित कथा के असत्य में जिस साहस का परिचय मिलता था, वह पीटे जाने की क्रूर कहानी के सत्य में दुर्लभ हो जाता।

मार्ग में तीन दिन तक कुछ खाने को न मिल सका। लछमा हँसकर कहती है– जब बहुत भूखा हुआ, तब पीली मिट्टी का एक गोला बनाकर मुँह में रखा और आँख मूँद कर सोचा– 'लड्डू खाया, लड्डू खाया।' बस फिर बहुत–सा पानी पी लिया और सब ठीक हो गया। मृत्यु की वैतरणी पार करके आई हुई लछमा को देखकर जब नैहरवालों ने उसके ससुराल वालों को दंड देना चाहा, तब लछमा के तीव्र विरोध ने ही एक महाभारत का सूत्रपात रोका।

इस अभागी स्त्री की छाया में मानो दुःख स्थायी रूप से बस गया है। उसके लौटते ही भौजाई ने एक बालिका और एक मास–भर के शिशु पुत्र को उसकी गोद में रखकर चिरकाल के लिए विदा ली। टूटे शरीर और फूटे भाग्य के साथ लछमा को

जो पूर्ण और स्वस्थ हृदय मिला है, उसी को लेकर उसने यह मधुर–कटु कर्तव्य –भार सँभाला। पर वह बेचारी संतान पालन क्या जाने। न तो आस–पास किसी छोटे बालक की माता ही मिल सकी और न वह शिशु कटोरे से दूध पीना ही सीख सका। तब लछमा की बुद्धि ने नया उपाय खोज निकाला। वह अनुनय–विनय करके किसी से तेल की बोतल खाली करा लाई और उसमें कपड़े की, बत्तीनुमा कुछ ढीली डाट लगाकर बच्चे को पानी मिला भैंस का दूध पिलाने लगी। ससुराल के अत्याचार से उसकी हड्डी–हड्डी ढीली हो गई है। कुछ देर बैठने से रीढ़ का दर्द व्याकुल कर देता है और खड़े रहने से घुटनों में चिलक उठती है। पर उसने बिना किसी की सहायता के रात–रातभर खड़े रहकर, दिन–दिनभर झुके रहकर अपनी भाभी की धरोहर को पाल लिया और आज तो वह शिशु इतना बड़ा हो गया है कि पालतू पशु की तरह बुआ का मूक अनुसरण करता फिरता है।

पहली बार लछमा को देखकर मेरे मन में उसे प्रयाग लाकर पढ़ाने–लिखाने का विचार उठा था पर प्रस्ताव के उत्तर में लछमा ने केवल अपने जीर्ण–शीर्ण घर की ओर देखकर सिर झुका लिया। उतने प्राणियों को वह किसके भरोसे छोड़ आती? उस समय आशा थी कि पत्नी वियोग से अव्यवस्थित भाई संभवतः लौटकर अपना कर्तव्य सँभाल ले, पर उस आशा के दुराशा सिद्ध होने पर भी लछमा की उजली हँसी निराशा की छाया से म्लान नहीं हुई। सहज भाव से मुस्कुराकर कह देती है कि जंगल में पढ़–लिखकर क्या होगा। यहाँ तो पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ और पत्तियाँ तोड़ना आना चाहिए। जब बूढ़े माँ–बाप नहीं रहेंगे और बच्चे बड़े हो चुकेंगे, तब भगवान उसे संसार में क्यों पड़ा रहने देंगे! फिर उसे अवश्य ही ऐसा जन्म मिलेगा, जिसमें मेरे पास रहकर पढ़–लिख भी सके और कर्तव्य का पालन भी कर सके।

यदि मैं उसे पढ़ाना चाहूँ, तो कम–से–कम दूसरे जन्म तक प्रतीक्षा करूँ, इस विचित्र कथन में यदि कर्तव्य के प्रति इतनी निष्ठा और जीवन के प्रति इतना सरल विश्वास न होता, तो पगली लछमा पर हँसने को जी चाहता।

समता के धरातल पर सुख–दुःख का मुक्त आदान–प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जावे, तो मेरे पास मित्र का अभाव है।

अपने आनंद के प्रकाशन के लिए मेरे निकट कला ही नहीं, पशु–पक्षी, पेड़–पौधे भी महत्त्व रखते हैं, क्योंकि उन पर भी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करके मुझे पूर्ण संतोष हो जाता है। रहा दुख का प्रकटीकरण – तो उसका लेशमात्र भी, भार बनाकर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

दूसरे के सुख में एक प्रकार की निश्चिंतता का अनुभव करके मैं दूर ही रह जाती हूँ और दुखग्रस्त से मेरे संबंध का आधार वात्सल्य ही रहता है।

पर कँटीली डालियों से छिदे हाथों और पैने पत्थरों से क्षतविक्षत पैरों वाली मलिन पर ह्रास से उज्ज्वल लछमा के प्रति मेरे मन में सम्मानयुक्त सख्यत्व की भावना ही प्रधान है। वह अपने दुःख में न इतनी अस्थिर है, न हल्की कि उसे मेरे सहारे की आवश्यकता जान पड़े। और अनेक अवसरों पर तो मैंने उसे अपने–आप से बहुत गुरु और ऊँचा पाया है।

लछमा के व्यवहार में भी मुझे एक ऐसी समानता का अनुभव होता है, जिसका अन्य पहाड़ी स्त्रियों में अभाव है। मेरे अपने बीच का अंतर वह अपनी सहज समता से भर लेती है, अतः मुझे उस तक पहुँचने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

मैं अच्छे–अच्छे व्यंजन खा सकती हूँ, यह जानकर भी वह बड़े यत्न से ऐसी वस्तुएँ लाती ही रहती है, जो जंगल में प्राप्य हैं। एक दिन वह छत्ते के मोमी टुकड़ों के साथ हाल का निकाला हुआ शहद लेकर दौड़ी आई और तुरंत खा लेने के लिए अनुरोध करने लगी। मीठा मुझे वैसे ही कम रुचता है, उस पर मधु को देखते ही मुझे मधुमक्खियाँ इस तरह स्मरण आने लगती हैं कि खाना कठिन हो जाता है, पर लछमा के अनुरोध की रक्षा के लिए कुछ चखना ही पड़ा।

वहाँ तो अनेक व्यक्ति मधुमक्खियाँ पालकर मधु का व्यापार करते हैं, पर लछमा न तो मधुमक्खियों को पालने के लिए काठ का बना घर खरीद सकती थी और न उसके घर की दीवारें ही ऐसी थीं, जिनमें ऐसा घर बनाया जा सकता। पूछने पर पता चला कि एक दीवार फट गई है। लछमा को उसकी दरार में मधुमक्खियाँ पालने की इच्छा हुई, पर मक्खियाँ वहाँ पहुँचें तो क्योंकर, प्रतीक्षा करते–करते थककर लछमा मधुमक्खियों को पकड़–पकड़ कर उस दरार में बैठाने लगी। कई बार उनके काटने से उसके हाथ सूज गए कई बार वे उस दरार के संकीर्ण घर को नापसंद कर उठ गईं, पर अंत में कुछ उदार मक्खियों ने वहाँ बसकर बेचारी लछमा को कृतार्थ किया। उन्हीं के छत्ते का पहला मधु वह मेरे लिए लाई है।

एक बार इसी प्रकार मेरे आने के दिन सब जगह घूम–घूमकर, वह मुझे विदा में देने के लिए काले अंगूरों का गुच्छा ले आई थी। भैंस जब दूध देती है, तब कभी काठ की प्याली में दूध, कभी दोने में दही और कभी पत्ते पर मक्खन लिए लछमा दौड़ती चली आती है और गोबर–मिट्टी से गीले पैरों के द्वारा सूखे फर्श पर मटमैले चित्र से बनाती हुई मेरी चौकी के पास पहुँचकर थोड़ा सा खा लेने के लिए हठ–भरा अनुरोध करने लगती है। आदि से अंत तक मेरी शिक्षा छात्रावास में रहकर ही हुई है–बीच में घर जाने पर माँ ही खिलाने–पिलाने की विशेष चिंता करती थीं, पर उनका चिंता करना नियम का अपवाद जैसा लगता रहा है, इसी से मैं ऐसी चिंता की अभ्यस्त नहीं हूँ।

पढ़ना समाप्त करते ही मैंने स्वयं अनेक विद्यार्थियों की चिंता करने का कर्त्तव्य स्वीकार कर लिया, अतः मुझे हठ कर खिलाने वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है। लछमा का हठ करना मेरे आरोपित और कल्पित बड़प्पन को दूर कर मुझे फिर बचपन की सहज और स्वाभाविक स्थिति में पहुँचा देता है।

वह अपनी ममता में सरल है। अपने लिखने–पढ़ने में बहुत व्याघात पड़ते देख एक दिन मैंने खिजलाकर लछमा से कहा– 'अब आने पर मैं सामने वाले पहाड़ की सुनसान चोटी पर कुटी बनाकर रहूँगी, जहाँ कोई न पहुँच सके।'

निरंतर सबके भोजन की चिंता करते–करते वह जान चुकी है कि भोजन की समस्या सहज सुलझने वाली नहीं होती और बिना उसे सुलझाए संसार का कोई काम संभव नहीं। निर्जन में कहीं मैं भी इसी समस्या में उलझकर न रह जाऊँ, यही सोचकर उसने जो उपदेश–गर्भित अनुरोध किया, वह उसी के योग्य था। लछमा की इच्छा है कि जब उसकी भैंस की दो वर्ष की पडिया चार की होकर दूध देने लगे, तब पहाड़ की ऊँची चोटी पर जाकर रहूँ। तब एक भैंस का दूध बूढ़ा–बूढ़ी और बच्चों के काम आएगा और दूसरी का मेरे। वह प्रतिदिन नियम से एक सेर दूध, एक सेर दही, दो–चार आलू और लकड़ी, पानी आदि वहाँ पहुँचा आया करेगी। वह बोलेगी भी नहीं, देखेगी भी नहीं – केवल दरवाजे पर सब कुछ रखकर लौट आया करेगी। फिर जब मेरी मोटी पोथी लिखी जा चुके और मैं अकेले रहते–रहते ऊब जाऊँ, तो 'लछमा!' पुकारते ही वह सौ काम छोड़कर वहाँ जा पहुँचेगी और सब सामान, यहाँ तक कि कुटी का छप्पर भी ढोकर नीचे ले आवेगी। इस महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के अंत में जब लछमा बड़ी विनीत गंभीरता से मेरे मुख की ओर देखने लगी, तब मैं विस्मय से बोल ही न सकी। एकांत और निर्जन सहज प्राप्य है, मोटे–मोटे पोथे लिख लेना भी कठिन नहीं, पर लछमा जैसा अकारण ममतालु सहायक दुर्लभ ही रहेगा।

लछमा का यह कथन कि उसके पास भाग्य की कमी है, समझ की नहीं, बहुत कुछ सत्य है।

एक बार मेरा हिमालय का चित्र बनाना देखते–देखते वह बोल उठी *सामान मिलता, तो मैं ठीक–ठीक बर्फान उतार देती*। मैंने उपहास के भाव से प्रश्न किया *क्या–क्या चाहिए?* लछमा ने कुछ विचित्र भाव–भंगिमा से जो उत्तर दिया, उसका अर्थ था कि उसे एक बड़ा–सा नीला कागज चाहिए और सफेद और हरा रंग। फिर वह एक बहुत ऊँची चोटी पर किसी समतल चट्टान के ऊपर अपना नीला कागज बिछाकर दिन भर बैठेगी और कहीं दीवार की तरह खड़े, कहीं छप्पर की तरह फैले और कहीं मंदिर के समान कलशदार हिमालय को उतारेगी। नीला कागज आकाश रहेगा, सफेद रंग से बर्फ बनेगी और हरे से देवदार के पेड़। छोटी लछमा की बुद्धि

का इतना विशाल परिचय पाकर चकित होना ही स्वाभाविक था। मुझे सफेद कागज पर बड़े प्रयास से नीला आकाश बनाते देख उसने नीले कागज की बात सोच ली होगी।

पूछने पर पता चला कि बिना सिखाए ही लछमा को फूल–पत्ती, बेल–बूटे बनाने की इतनी चाह है कि वह अपनी ही नहीं, पड़ोस के घरों की दीवारों को भी गेरू और चावल से गोद चुकी है। उसकी चित्र – रचना में चाहे अर्थ कुछ न रहे; पर बनाने वाली उँगलियों का अपटु परिश्रम और साधनहीनता तो प्रत्यक्ष हो ही जाती है।

इसी प्रकार देखते–देखते वह कुछ–कुछ बुनना भी जान गई है, पर ऊन और सलाइयों के अभाव में बूढ़े बाप के लिए स्वेटर बुनने की इच्छा साकार न हो पाई। दूसरों से उसकी निराशा का कारण जानकर मैंने उसे वे वस्तुएँ मँगवा दीं अवश्य पर यदि सर्दी में पिता की रक्षा का प्रश्न न होता, तो वह उन सब को छोड़कर भाग खड़ी होती, इसमें संदेह नहीं। मुझ पर उसका स्नेह कम नहीं है, पर उस स्नेह को साधन बनाकर छोटे–से–छोटे स्वार्थ की सिद्धि भी उसे अभीष्ट नहीं रही।

साधारणतः असंख्य असुविधाएँ और विविध अभाव पहाड़ी जीवन में स्वार्थ भावना को बहुत स्थूल और स्पष्ट रूप दे देते हैं, पर लछमा के जीवन को मैंने इसका अपवाद ही पाया।

मुझे उसकी स्वाभाविक हँसी में छिपे आँसुओं को खोजना पड़ता है और उन आँसुओं के नीचे छिपे कारणों का पता लगाना पड़ता है। फिर अंत में, 'हम तो ऐसे ही जंगली हैं, हमें क्या चाहिए', आदि के द्वारा लछमा मेरा सारा परिश्रम निष्फल किए बिना नहीं रहती।

हृदय से इतनी स्वच्छ लछमा को बाहर से मलिन ही रहना पड़ता है। कभी–कभी तो अपनी मलिनता पर आप ही झुंझलाकर कह उठती है– 'मैं तो इतनी मैली हूँ। मुझे भीतर मत आने दो, बाहर ही रोक दिया करो। देखो तो, सारा का सारा घर कैसा लगने लगता है। *उसके इस प्रकार के उद्गार स्वयं अपने ही प्रति हुआ करते हैं, क्योंकि उनके उपरांत वह मुझे सफाई देने लगती है– 'पाँव तो सवेरे ही मल–मलकर धोये थे, पर आधे रास्ते से भैंस को घास डालने लौट जाना पड़ा। लहँगा तो कल पत्थर पर मोगरी से पीट–पीटकर छाँटा था, पर बच्चे ने मिट्टी भरे हाथ पोंछ दिए। ओढ़नी तो परसों झरने में धोकर सुखाई थी, पर घास बाँधने की रस्सी बीच में टूट गई और इसी से बाँधकर लाना पड़ा।*

न जाने किस युग में लछमा के पास एक काठ की कंघी थी। फिर जब से वह खोई, तब से झरने में धोकर बहुत उलझे बालों को नोचकर फेंक देना ही उसका प्रसाधन हो गया है। मेरे यहाँ एक पुराने काले कंघे का उपहार पा लेना उसके लिए एक असंभावित घटना हो गई। उस कंघे को दराती के साथ कमर में खोंसकर वह

पहाड़ के किस–किस कोने में किस–किस झरने की सहायता से शृंगार नहीं करती फिरी, यह बताना कठिन है; पर उसकी विचित्र केश– रचना जनित प्रसन्नता देखकर आँसू आए बिना नहीं रहते।

शृंगार के असंख्य अभूतपूर्व साधनों से भरी बीसवीं शताब्दी में भी जिस स्त्री के लिए इतनी तुच्छ वस्तु दुर्लभ है, उसके दुर्भाग्य को कौन–सा नाम दिया जावे!

एक बार अन्य स्त्रियों से सुना कि लछमा न जाने क्या धूप–दीप करके उनकी संतान का अमंगल मनाती रहती है। पूछने पर पता चला कि वह संतान का तो नहीं, पर कुछ आँखों का अमंगल अवश्य मनाती है। उसके घर न जाने कब की पुरानी और कीड़ों की खाई हुई दुर्गा की तस्वीर है। सवेरे–साँझ उसके सामने कुछ अंगारे रखकर और उन पर कुछ सूखी; पर सुगंधित पत्तियों की धूप डालकर वह कह लेती है कि जो उस पर बुरी दृष्टि डाले, उसकी आँखें जलकर क्षार हो जावें।

दूसरों की आँखों का अमंगल चाहने से किसी की पवित्रता की रक्षा नहीं होती, क्योंकि वास्तविक पवित्रता का प्रमाण तो यही है कि मलिन–से–मलिन दृष्टि भी उसका स्पर्श कर पवित्र हो जावे, इस सत्य को समझाना सहज नहीं था; पर लछमा को मेरे कथन के सूक्ष्म भाव तक पहुँचने में कठिनता नहीं हुई। तब से उसके धूप–दीप में अपनी ही नहीं, सबकी कल्याण–कामना रहती है।

यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है, उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दराती के साथ वह अँधेरी–से–अँधेरी रात में भी मार्ग ढूँढ़ लेती है, उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर–से–घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।

कुछ वर्ष पूर्व लछमा के जीवित हो जाने का समाचार पाकर ससुराल के कुछ संबंधी उसके अबोध पति को लेकर उसे बुलाने आए। उसने अपने बालक–बुद्धि पति से अनुरोध किया कि वह अपने भाइयों को सब कुछ सौंपकर आ जावे और उसी के पास रहे। वह स्वयं भैंस की गोठ में पड़ी रहेगी; पर पति के रहने के लिए एक लिपी – पुती स्वच्छ कोठरी का प्रबंध करेगी। स्वयं चाहे मलिन दुर्गंधित घास में पड़ी रहेगी; पर उसके लिए गाँव वालों से चारपाई माँग लावेगी। आप भूखी रहेगी; पर रात–दिन मजदूरी करके भोजन का प्रबंध करेगी। लछमा के साथ उसका विवाह हुआ है; अतः उसे वह जीवन भर न छोड़ेगी। पर वह उसके घर नहीं जा सकती, क्योंकि वहाँ लोग उसे मार डालेंगे और उसके माता–पिता, भतीजा–भतीजी भूख से अपने–आप मर जाएँगे।

संबंधियों ने उसके पति को वहाँ न छोड़ा, क्योंकि उन्हें मर कर जीवित हो जाने वाली मायाविनी बहू की सच्चाई पर विश्वास नहीं।

लछमा के इस व्यवहार से आस–पास असंतोष की लहर सी फैल गई और वह अनेक प्रकार की चर्चा का आधार बनने लगी।

समाज के मनोविज्ञान का जैसा परिचय समतल में मिलता है, वैसा ही पर्वत की विषम भूमि में। एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने को उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दंड को अधिक भारी बनाए बिना नहीं रहतीं।

इस तरह पग–पगपर पुरुष से सहायता की याचना न करने वाली स्त्री की स्थिति कुछ विचित्र सी है। वह जितनी ही पहुँच के बाहर होती है, पुरुष उतना ही झुंझलाता है और प्रायः यह झुंझलाहट मिथ्या अभियोगों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि जो अप्राप्त है, उसी को प्राप्त प्रमाणित करके हमें संतोष होता है; जो प्राप्त है, उसे प्राप्त प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पर खड़ा हुआ व्यक्ति यदि अपने गिरने की घोषणा सुनते–सुनते खड़े होने के प्रयास को व्यर्थ समझने लगे, तो आश्चर्य क्या इसी कारण, जब तक स्त्री स्वभाव से इतनी शक्तिशालिनी नहीं होती कि मिथ्या पराभव की घोषणा से विचलित न हो, तब तक उसकी स्थिति अनिश्चित ही रहती है।

लछमा में मैंने अविचलित रहने की शक्ति भी देखी और बड़े–से–बड़े अपकार को क्षमा कर देने की उदारता भी। न वह दूसरों की निंदा करके हल्की बनती है और न अपनी सफाई देकर आत्मविश्वास की न्यूनता प्रकट करती है। उसका दर्पण जैसा मन स्वयं ही अपनी स्वच्छता का प्रमाण है। एक बार तो जब एक सज्जन मेरे घर में बैठकर मुझे लछमा के कल्पित दोष गिना रहे थे, तब वह दरवाजे के बाहर खड़ी होकर उन्हें छोटे बच्चों की तरह मुँह चिढ़ा रही थी।

गाँव के बुरे–से–बुरे व्यक्ति की भी चर्चा चलते ही वह सरल भाव से कह देती है– *अपने आप रहेगा' उसके स्वनिर्मित शब्दकोश में इसका अर्थ है– 'रहने दो, जैसा करेगा वैसा पाएगा*।

मार्ग में आने–जाने वाले सभ्य जब चरने वाली भैंस और चराने वाली लछमा के साथ एक–सा उपेक्षा–भरा व्यवहार करते हैं, तब वह रुष्ट नहीं होती–उल्टे उनकी सफाई देने लगती है– 'हम तो आदमी जैसे नहीं। वे बहुत अच्छे हैं, फिर हमसे कैसे बोलें, हम भी नहीं बोलते; तुम बहुत अच्छा नहीं करते, क्योंकि हमसे बोलते हो–पर तुम हमसे अच्छा बोलते हो, इसी से हम तुमको घेरते हैं, ऐसे टूटे–फूटे वाक्यों में लछमा का जो तात्पर्य छिपा रहता है, उसे पूर्णतः समझ लेना चाहे सहज न हो; परंतु इतना तो समझ में आ ही जाता है कि उसके अपनी लघुता पर संकुचित हृदय में किसी के प्रति कोई दुर्भावना रखने का स्थान नहीं।

मेरे आने का दिन लछमा के लिए बहुत व्यथा–भरा दिन रहता है। भैंस दुहकर वह मेरे यहाँ दौड़ आती है। पानी भरकर वह फिर एक चक्कर लगाने चल देती है। बच्चों को रोटी देकर वह फिर एक फेरी दे जाती है। जैसे–जैसे मेरा सामान बँधता है, वैसे–वैसे मानो लछमा के जोड़–जोड़ के बंधन शिथिल होते जाते हैं।

एक मील तक मुझे पहुँचाने का उसका नियम है। मील का दूसरा पत्थर आते ही, जब मैं उसे लौट जाने का आदेश देती हूँ, तब वह खोई सी खड़ी हुई, बार–बार आँखें पोंछकर दृष्टि से ही कुछ दूर तक मेरा अनुसरण करती रहती है।

पहाड़ी राह तो हमारे यहाँ की लंबी–चौड़ी सड़क नहीं है। चार पग चलकर ही कभी दाहिनी ओर मुड़ जाना पड़ता है, कभी बाईं ओर; कभी कोई पेड़ दृष्टि रोक लेता है, कभी कोई शिला–खंड। मेरे दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी लछमा का आँसुओं से गीला कंठ दूर तक सुनाई देता रहता है – *सँभाल के जाना–जल्दी लौटना–अच्छा–अच्छा*

इन दिनों लछमा के सामने भूखे मरने का प्रश्न नहीं रहता। सेब के बाग फलों से लदे हुए हैं। पेड़ों के नीचे गिरे कच्चे और खट्टे सेब वहीं सूख या सड़ जाते हैं, इसी से कोई उन्हें लेने से नहीं रोकता। आजकल किसी भी पेड़ के नीचे बैठकर लछमा सेर–तीन पाव खट्टे और न खाने योग्य सेब गले के नीचे उतार लेती है और फिर दो–दो दिन तक निराहार काम में लगी रहती है।

पर धीरे–धीरे वह जाड़ा आ रहा है, जब धरती के हृदय पर दुःख भार के समान तीन–तीन फुट ऊँची बर्फ जम जाएगी, जब लोग अपने–अपने घर में आग तापते हुए पुरानी कथाओं को नए ढंग से कहेंगे, जब संपन्न और निर्धन सब अपने संचित अन्न के भरोसे प्रकृति की तरल; पर क्रूर क्रीड़ा का उपहास करेंगे, जब कुछ पशु नीचे के गर्म गाँवों की ओर भेज दिए जाएँगे और कुछ सुखाई हुई घास देकर गर्म गोठों में सुरक्षित रखे जाएँगे। और तब विकलांग बूढ़ों असमर्थ बालकों तथा अरक्षित पशुओं को लेकर लछमा क्या करेगी?

मुझे उसका कोई समाचार नहीं मिलता, यह सत्य भी है और नहीं भी। वह पढ़ी–लिखी होती, तो पत्र लिखने की सुविधा रहती, यह सुनकर लछमा एक विचित्र भाव–भंगिमा के साथ अपनी अटपटी–सी भाषा में उत्तर देती है– *हम तो अपने जैसी लिख लेते हैं। एक टीले पर बैठकर सोचते हैं, यह लिखा वह लिखा, यह ठीक लिख गया... वह लिखना अच्छा नहीं हुआ। जब मन में आता है कि चिट्ठी गई, तब उठकर खुशी से घास काटते हैं, लकड़ी तोड़ते हैं। क्या हमारा लिखा नहीं पहुँचता?*

कागज, कलम, स्याही और अक्षरों से शून्य तथा पोस्ट आफिस की सहायता के बिना भेजी गई चिट्ठी की बात सुनकर किसे हँसी नहीं आएगी !

पर जब सर्दियों में मैं अचानक ही यहाँ के कमरे को छोड़कर उस हिम से मूर्छित पर्वत की ओर जाने को उद्यत हो जाती हूँ, गर्मियों में सभ्य समारोह से मुखरित पर्वतीय सौंदर्य का निरादर कर, उस व्यथा से नीरव हिमानी के कोने में पहुँचने के लिए विकल हो उठती हूँ, तब मुझे निरक्षर लछमा की चिट्ठी नहीं मिलती, यह कौन कह सकता है?

❑❑❑

भारतीय संवेदना और मानवीय गरिमा के कृती रचनाकार

गिरीश्वर मिश्र*

ज्ञान, शिक्षा और सूचना से अतिशय समृद्ध हो रही आज की दुनिया में सोच–विचार के लिए वैज्ञानिक दृष्टि का लबादा ओढ़कर वांछित–अवांछित बहुत कुछ अंगीकार और आत्मसात करने का रिवाज चल पड़ा है; इतना कि अब विज्ञान को बाजारी विज्ञापन का औजार बनाया जा चुका है। पर जीवन में तृप्ति की अनुभूति अनुपस्थित है। सभी लोग, जो है, प्रायः उससे असंतुष्ट हैं और अधिकाधिक उपार्जित करने के लिए यत्न में लगे हुए हैं। लोभ और आसक्ति के चलते समस्याओं का समाधान वस्तुओं की दुनिया में वस्तुओं के माध्यम से खोजा जा रहा है जब कि वह हमारी विश्व दृष्टि से जुड़ा हुआ है जिसके द्वारा हम अपनी दुनिया को समझते–समझाते और रचते–रचाते हैं। हम एक व्यक्ति केंद्रित विश्व में जीना चाहते हैं जिसमें जो कुछ है वह हमारी निजी इच्छा, सुख और सम्मान की पुष्टि करता रहे। जीवन मात्र उपभोग के लिए अवसर के रूप देखना हमारी नियति होती जा रही है। इसमें मैं और मेरा, अहम् तथा मम, इनके अलावा किसी दूसरे को जगह नहीं है। परंतु वैश्विक संकटों से जूझते हुए आज का मनुष्य सीमित और तात्कालिक भौतिक जगत की सीमाओं से परिचित होने लगा है। वह उसे अंतिम सत्य मानने से अब कतरा रहा है। अब यह लगने लगा है कि सतही स्तर पर दिख रही विविधता सत्य नहीं हैं। उसके पीछे का सत्य खोजना जरूरी है। इस दृष्टि से हिंदी निबंध विधा के प्रमुख हस्ताक्षर और भारतीय ज्ञान परंपरा के आधिकारिक व्याख्याता पंडित विद्यानिवास मिश्र (1926–2005) का अवदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साहित्य और संस्कृति की दुनिया में भारत की ज्ञान परंपरा के विभिन्न आयामों को उद्‌घाटित करने में वे आजीवन संलग्न रहे। पूर्णता की और अग्रसर होने की सृजनात्मक आकांक्षा उनके सृजन का उत्स थी। मिश्र जी के लेखन में सीमित विश्व दृष्टि का सतत प्रतिकार

* पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र।

मिलता है। वह विकल्प ढूँढने के लिए समग्रता की तलाश करते हैं और अकेले की नहीं सबकी सुधि लेते हैं। वह अनेक को एक की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। दृश्य जगत की विविधता को बाँधकर चलने वाली या कहें विभक्त चीजों में अविभक्त तत्त्व को देखने–पहचानने की दृष्टि जिसे भगवद्गीता में *सात्विक दृष्टि* कहा गया है मिश्र जी को अत्यंत प्रिय है। यह दृष्टि समावेशी है और दूसरों को और उनकी विविध दृष्टियों को भी जगह देती है। मिश्र जी एक सत्य के अनेक दृश्य रूपों को संभव मानते हुए *'एकं सद् विप्राः बहुधा वदंति'* के वैदिक विचार को आगे बढ़ाते हैं। वे परस्पर हित के अनुरूप जीवन जीने का आवाहन करते हैं। मिश्र जी की इस दृष्टि का स्रोत भारतीय चिंतन है जो चिरकाल से सृष्टि मात्र के संचालन के लिए शाश्वत जीवन मूल्यों पर बल देता आ रहा है। मिश्र जी ने बड़े यत्न से ऋत, सत्य, धर्म, ऋण, प्रकाश, कर्म, वाक्, रस, संस्कार, लोक, पुरुषार्थ, जैसे अनेक बीज शब्दों को यथार्थ जगत में होने वाले अनुभव की भाषा में उपस्थित करते हुए भारतीय परंपरा और आज के भारतीय समाज के बीच सुदृढ़ सेतु का निर्माण किया है। इसके लिए मिश्र जी संवाद की विधा अपनाते हैं और आम आदमी के सरोकारों, अभ्यासों और संवेदनाओं के माध्यम से संभावनाओं को व्यक्त करते हैं।

वस्तुतः सतत आत्मान्वेषण और अपनी शक्ति का संधान करते रहना अपनी पहचान स्थापित करने की पहली शर्त होती है। यह आत्मान्वेषण कोई स्थायी स्थिति या उपलब्धि की तरह न होकर एक रचनात्मक प्रक्रिया होती है और बहुत हद तक कल्पनाशील भी। अपनी सीमाओं को सजगता से पहचान कर विकल्पों की खोज करते हुए सारे आविष्कार होते हैं जो भविष्य का निर्माण करते हैं। इसके लिए अनुशासन की अपेक्षा होती है। अनुशासन की संस्कृति बाहर से आरोपित नहीं हो सकती उसके लिए अपने को समर्पित कर जीना होगा। स्वदेशी का अभिप्राय अपने देश यानी मातृभूमि के प्रति हर तरह से अपनत्व की भावना है। इस दृष्टि को अपनाते हुए व्यक्ति देश रूपी समष्टि को अपने जीवन और आचरण में स्थान देता है। भारत के स्वातंत्र्य की संघर्ष गाथा में स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना और विदेशी का बहिष्कार की केंद्रीय भूमिका रही है। वह मात्र प्रतीकात्मक न होकर निजी व्यवहार में उतारने का प्रयास था जैसे खादी, चरखा और दूसरे उपायों को अपनाना। मिश्र जी इस पृष्ठभूमि की चेतना रखते हुए समकालीन सरोकारों पर विचार करते थे और जो भी अशिव था उसका प्रतिकार करने के लिए तत्पर रहते थे। इसके लिए उन्होंने अपने को यत्नपूर्वक साधा था।

प्रतिरोध की यह क्षमता मिश्र जी को अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि में मिली और आगे चलकर कई दृढ़ व्रती गुरुजनों और मित्रों से मिली थी। मिश्र जी के प्रारंभिक व्यक्तित्त्व का गठन एक आस्तिक परिवेश में हुआ था। एक बड़े संयुक्त परिवार में तीन पीढ़ियों के साथ नियमित जीवन–चर्या थी। वहाँ शास्त्र–चर्चा और आचार–विचार पर विशेष रूप से बल दिया जाता था। स्नेह और अनुशासन के साथ संस्कारों के बीच

बाल्य जीवन और किशोरावस्था व्यतीत हुई। प्राकृतिक परिवेश और लोक–जीवन के साथ बड़ी निकटता थी क्योंकि तब प्रकृति सिर्फ उपभोग का संसाधन न होकर जीवन–स्रोत के रूप में उपस्थित थी। खेत–खलिहान, बाग–बगीचे, नदी–नाले, लता–वृक्ष आदि सहज और स्वाभाविक परिवेश दे रहे थे। घर के आस–पास रहने वाले विभिन्न वर्गों के लोगों से निकट संबंध रहता था और जीवन के तमाम उपक्रमों में उनकी भागीदारी होती थी। भिन्न जाति और समुदाय से आने पर भी वे मानवीय या कहें पारिवारिक रिश्तों में भैया, चाचा, काका, दादा के रूप में एक दूसरे से बंधे रहते थे। युवावस्था से ही मिश्र जी को घर से दूर इलाहाबाद में स्वतंत्र रहते हुए जीने और अपनी राह स्वयं तय करने का अवसर मिला। इन स्थितियों में मिश्र जी ने विचारपूर्वक भारतीय वेश–भूषा, सात्विक आहार और सहज आचरण का स्वेच्छया वरण किया। वे सांस्कृतिक विवेक के साथ आचरण की पवित्रता और शुचिता को मूल्यवान मानते रहे। वैसा करना उन्हें न केवल आनंदित और आश्वस्त करता था बल्कि कार्य के लिए ऊर्जा और चुनौती भी देता था और यह सब आजीवन चलता रहा। उनके जीवन में परंपरा का पुरुषार्थ सजीव होकर आकार पा रहा था। पूजा–पाठ और स्नान–ध्यान की सार्थकता को समझने के लिए जो संवेदना चाहिए वह आज घट रही है। यह कहना पर्याप्त होगा कि मिश्र जी के लिए यह सब दिखावटी न होकर उनके जीवन और जीवन–दृष्टि का हिस्सा या स्वभाव था और जो संभवतः अधिसंख्य भारतीयों के मन में आज भी बसा हुआ है। यहाँ इस बात को भी रेखांकित करने की ज़रूरत है कि स्वाधीनता का मूल्य वह सबके लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण समझते थे। मिश्र जी अपनी जीवन शैली को कभी दूसरों पर आरोपित नहीं करते थे। वे अपनी स्वतंत्रता की ही तरह दूसरों की व्यक्तिगत निजता, रुचि तथा पसंद/नापसंद का ख्याल रखते थे और तदनुसार यथेष्ट सम्मान देते थे। वे इसका अच्छी तरह ख्याल रखते थे कि अतिथियों और मित्रों को किसी तरह का कष्ट न हो। इस दृष्टि से वे निश्चय ही समावेशी दृष्टि रखते थे और उदारवादी थे। हाँ, वे स्वयं को ज़रूर अनुशासित रखते थे और वहाँ कोई समझौता नहीं करते थे। शायद इसी का यह परिणाम रहा कि पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षिक और प्रशासनिक व्यस्तताओं से भरे अति व्यस्त जीवन में भी वे अध्ययन, पर्यटन, मिलने–जुलने और लेखन के लिए अवकाश के क्षण निकाल पाते थे। जीवन के परिसर में वे बड़े ही सक्रिय थे। उन्हें घर–परिवार के बीच रहना जितना अच्छा लगता था उतना ही नदी, पर्वत, समुद्र, आश्रम, सत्संग, ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक स्थलों की यात्रा करना प्रिय था। पर्यटन और सांस्कृतिक आयोजनों में भी भागीदारी उनका व्यसन सा हो गया था।

निश्चय ही मिश्र जी ने अपने अध्यवसाय से विद्या क्षेत्र में बहु आयामी दक्षता अर्जित की थी। उनकी अकादमिक रुचियों का बड़ा व्यापक फलक था । औपचारिक रूप से संस्कृत साहित्य के विद्यार्थी होने पर भी उनमें अप्रत्याशित औदार्य था। वे भाषा,

साहित्य, दर्शन, कला, इतिहास और संस्कृति आदि अन्यान्य विषयों में अध्यवसायपूर्वक लगातार जुड़े रहे। मिश्र जी अपने को भारतीय और पाश्चात्य चिंतन और साहित्य दोनों से सदैव अद्यतन करते रहते थे। विदेश में लंबे प्रवास से संस्कृति और मानवीय गरिमा के प्रति व्यापक दृष्टि का विकास हुआ। साथ ही वे अपने समय यानी समकालीन परिदृश्य से भी सदैव जुड़े रहते थे। अपने संपर्क में आने वाले छात्रों, अध्येताओं और मित्रों को भी वे सदैव अकादमिक और सांस्कृतिक कार्यों में निबद्ध करते रहते थे। उनके रचना संसार की विविधता और विशदता चकित कर देने वाली है। कर्मठ जीवन जीने का यह दुर्लभ पाठ उन्हें गुरुजनों से मिला था। पंडित क्षेत्रेश चंद्र चट्टोपाध्याय, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा कवि लेखक स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' जैसे महान विभूतियों के साथ लंबी अवधि तक उनका आत्मीय संबंध बना रहा था। इन सबके साथ निकट से जुड़ने और कार्य करने से उनकी दृष्टि का सतत विकास होता रहा। दूसरी ओर उनके जीवन की परिस्थितियों और कार्य क्षेत्र में भी बड़े उतार–चढ़ाव आए। उथल–पुथल भरे जीवन में परिस्थितियों के दबावों और देश–काल की बदलती स्थितियों ने उनकी सृजनधर्मिता को अलग पहचान दी थी। इन सबके बीच मिश्र जी की रचनाओं में विषय की विविधता और व्यापकता आती गई। उनकी रचनात्मक संवेदना मनुष्य, समाज, और प्रकृति के विविध आयामों से जुड़ती रही। जीवन उनके लिए स्वयं को पहचानने और व्यक्त करने का अवसर था। साथ ही वे स्वयं जीवन जिस रूप में और जो भी देता है उसे स्वीकार करने को प्रस्तुत रहते थे। लगातार बदलती भूमिकाओं और विभिन्न प्रकार के दायित्वों के बीच उनके लेखन सृजन में सातत्य और नियमबद्धता दुष्कर थी। उसे तलाश करने से कदाचित् निराशा ही हाथ लगे पर वैचारिक समृद्धि निश्चय ही मिलेगी। वे सबको अवसर देते थे और साथ ले चलने का यत्न कराते थे। इसलिए उनके जीवन में व्यवस्था कम ही चल पाती थी। ऐसे में कार्यों का बेतरतीब और बेहिसाब विस्तार होता गया। उन कार्यों को पूरा करने और वादों को निभाने को लेकर चिंता भी रहती थी। इनके चलते ही कदाचित उनके स्वभाव में किंचित व्यग्रता या व्याकुलता भी शामिल हो गयी थी।

मिश्र जी के व्यक्तित्त्व का खुलापन, औदार्य और संवेदना उनके संपर्क में आने वालों को सहज ही आकर्षित और प्रभावित करती थी। कहा जा सकता है उनमें एक क़िस्म की संक्रामक सामाजिक वृत्ति थी। वे मित्रों के लिए एक अच्छे मित्र थे और उनका ग़ुस्सा या प्यार, बिना किसी दुराव–छिपाव के, अंदर और बाहर एक सा होता था। अक्सर कार्य के लिए उनकी अपेक्षाएँ नए ढंग की और सामान्य से अधिक हुआ करती थीं जिनके लिए श्रम और लगन की ज़रूरत होती थी जो आज के माहौल में धीरे–धीरे कम होती जा रही है। ऐसे में कार्य में बाधाएँ भी आती रहीं फिर भी कई नई दिशाओं में वे यत्नशील रहे। उनके सृजन कर्म में एक विरल किस्म की बहु–

आयामी संलग्नता आसानी से देखी जा सकती है। निबंध–रचना, अनुवाद, कोश–निर्माण, काव्य–सृजन, भाषा–अध्ययन, संस्कृति तथा दर्शन की गुत्थियों की व्याख्या, व्याख्यान, पत्रिकाओं और अनेक ग्रंथों का संपादन, विभिन्न सांस्कृतिक तथा साहित्यिक संस्थाओं के संचालन में सक्रिय भागीदारी, प्रशासनिक दायित्व का निर्वाह जैसे कार्य को रुचि के साथ कर पाना मिश्र जी के ही बूते का था। इन सभी उपक्रमों में मूल का आदर करते हुए नए मार्ग तलाशने की तीव्र उत्सुकता झलकती है। यह उत्सुकता भारतीय चेतना की विविधवर्णी अभिव्यक्तियों को जन्म देती है। साथ ही मिश्र जी संवाद के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उनकी वक्तृता में ओज और प्रवाह के साथ ही विषय का सुग्राह्य प्रतिपादन होता था।

मिश्र जी का रचना–संसार अत्यंत विस्तृत और विपुल है अतः यहाँ इसका संकेत देने के लिए सत्तर के दशक में आई उनकी कृतियों का उल्लेख समीचीन होगा। यह वह अवधि थी जब उनकी सृजनशीलता चरम पर थी। उस प्रकाशित कृतियों में से कुछ की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। इनका उल्लेख इसलिए भी आवश्यक है कि इनसे मिश्र जी की प्रयोगशीलता, अनुसंधित्सा और कल्पनाशीलता उभर कर सामने आती है। वर्ष 1973 में उन्होंने रीति विज्ञान में सृजनात्मक आलोचना की एक नई दृष्टि प्रस्तुत की। मिश्र जी ने शैली विज्ञान (स्टाइलिस्टिक्स) के विकल्प के रूप में इसे स्थापित किया था। उन्होंने रीति विज्ञान के सिद्धांत पक्ष का विकास और उसका प्रयोग दोनों प्रकार का कार्य किया। फिर दो निबंध संग्रह आते हैं: 'वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं' (1974) और 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' (1974) जो उनकी परिपुष्ट सांस्कृतिक दृष्टि का परिचय देते हुए लोक जीवन से संवाद का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन संग्रहों ने साहित्य जगत का ध्यान भी आकृष्ट किया। इसी क्रम में वैचारिक–सांस्कृतिक रचना 'हिंदू धर्मः जीवन में सनातन की खोज' और 'परंपरा बंधन नहीं' 1976 में प्रकाशित हुई। इन दोनों रचनाओं ने भारतीय जीवन और सभ्यता के पुनराकलन और पुनराविष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। इसके बाद 'कौन तू फुलवा बीन निहारी', (1980) और 'निज मुख मुकर', 'तमाल के झरोखे से' और 'भ्रमरानंद के पत्र' जैसी कृतियाँ प्रकाशित हुईं। इसके बाद 'अंगद की नियति' (1984), 'अग्निरथ' (1985), 'शेफाली झर रही है' (1987) जैसे निबंध संग्रह और 'लागौ रंग हरिः श्याम रसायन' (1985), 'महाभारत का काव्यार्थ' (1986), 'भाव पुरुष श्रीकृष्ण' (1989), 'भारतीय परंपरा' (1998), 'सौहम' (1991), 'फागुन दुई रे दिना' (1994), 'पीपल के बहाने' (1994), 'शिरीष की याद आई', (1995), 'सहृदय' (1995), 'भारतीयता की पहचान' (1994), 'बूँद मिले सागर में' (1994), 'भारतीय चिंतन धारा' (1995), 'तंत्र कला और आस्वाद' (1996), कँटीले तारों के आर–पार (1998), और जयदेव के 'गीत गोविन्द' की व्याख्या 'राधा माधव रंग रंगी' (2000) प्रकाशित हुई। इन सारी रचनाओं का विस्तृत फ़लक लेखक की बहु आयामी चिंतन प्रक्रिया और जीवंतता को उद्घाटित

करता है। इनमें लोक, शास्त्र, परंपरा और व्यवस्था के चिरंतन और समकालीन प्रश्नों को संबोधित किया गया है। जीवन के खुरदरे और स्वस्थ सभी पक्षों का उन्होंने बौद्धिक निर्भीकता से निरूपण किया। साथ ही संवाद का मार्ग खुला रखा तथा संस्कृति के स्तर पर व्याख्या प्रस्तुत की। पर इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्म–साक्षात्कार के साथ कुहासे भरे समय में राह ढूँढने की लगातार कोशिश। व्यक्तिगत स्तर पर भी मिश्र जी के लिए संवाद महत्त्वपूर्ण था। वे रिश्तों को निभाना जानते थे और यह अपेक्षा भी करते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। वे अपने गुरुजनों को हृदय से आदर देते थे। उनकी मित्र मंडली अत्यंत व्यापक थी और गाँव से लेकर विदेशों तक फैली हुई थी। वे अपने व्यस्त जीवन में मित्रों के साथ संपर्क साधने का कोई न कोई बहाना निकालते रहते थे। उनके साथ हास–परिहास में वह तरोताज़ा होने का अवसर पाते थे। मिश्र जी के आचरण और व्यवहार में आडंबर ढूँढना संकुचित दृष्टि के कारण होता है जो अपने को 'आधुनिक' और 'वैज्ञानिक' कहलाना पसंद करती है। यह दृष्टि अपने प्रतिमान यूरो–अमेरिकी चिंतन से उधार लेती आ रही है और एक नए आडंबर की परिधि में संचरित है। वह औपनिवेशिक पृष्ठभूमि के वास्तविक निहितार्थ को नज़रअंदाज़ कर विस्मृत कर देती है। बिडंबना यह है कि औपनिवेशिकता अब वैश्विकता या भूमंडलीकरण के बाने में नई छवि के साथ पाँव पसार छाती जा रही है और हम अनभिज्ञ बने हुए हैं।

यह इतिहास में प्रमाणित है कि वैश्विक स्तर पर भारत सदियों से अनेक देशों के लिए आकर्षण का केंद्र बना रहा है। प्राचीन भारत की भौतिक समृद्धि से प्रभावित हो खिंचे आए विदेशी आक्रांताओं ने भारत का अनेक प्रकार से शोषण और दोहन किया और अनैतिक ढंग से विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न अवधि के लिए अपना अनाधिकृत आधिपत्य जमाया। इस प्रक्रिया में भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य और जीवन पद्धति में अनेक परिवर्तन आए। इस शृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में बर्तानवी (अंग्रेजी) उपनिवेश की लगभग दो सौ वर्षों की त्रासदी थी। यह इस अर्थ में विशेष अर्थ रखती है कि इस दौर में देश को न केवल भौतिक और आर्थिक क्षति पहुँची अपितु दुर्भाव के साथ उसमें मानसिक रूप से भी बदलाव लाया गया। शिक्षा के क्षेत्र में जो हस्तक्षेप किया गया उसके बड़े दूरगामी परिणाम हुए जिनसे हम आज तक नहीं उबर सके हैं। इस हस्तक्षेप के अंतर्गत भारतीय चिंतन, ज्ञान–परंपरा और भारतीय विश्व दृष्टि को अप्रासंगिक ठहरा कर उसे हाशिये पर डाल दिया गया। भारतीय प्रतिभा, कौशल और ज्ञान संपदा का समूचा अवदान कालबाह्य घोषित कर दिया गया। इस अहैतुक उपेक्षा का सीधा परिणाम यह हुआ कि हमारा आत्मबोध और हमारी पहचान पश्चिम के आलोक में परिभाषित की जाने लगी। पश्चिमी चिंतन 'वैज्ञानिक' और 'आधुनिक' कहलाते हुए मुख्य धारा बनकर हम सब पर थोप दिया गया। दूसरी तरफ़ भारतीय दृष्टि उस मुख्य धारा से विचलन के रूप में अग्राह्य और व्यर्थ मानी जाने जाने लगी।

उसकी ओर सतत उपेक्षा और वितृष्णा की प्रवृत्ति ने एक ऐसा माहौल बनाया जो हमें सोच–विचार और अपनी निर्णय–क्षमता के लिए पर निर्भर कर दिया। हमने आचार–व्यवहार के लिए मानक भी उधार लेने शुरू कर दिए। हीनता और अपर्याप्तता की तीव्र अनुभूति से ग्रस्त होकर बहुतों ने भारतीयता की अवधारणा को प्रश्नांकित कर डाला। इस पूरे परिदृश्य में 'भारत' को समझना, उसे अंगीकार करना आज भी प्रमुख प्रश्न है। आज जब एक सशक्त और आत्मनिर्भर भारत की कल्पना को हम साकार करने को तैयार हो रहे हैं तो हमें यह भी सोचना होगा हम किस भारत की प्रतिमा के साथ चल रहे हैं।

स्वावलंबी विकास की दिशा एक ऐसे दौर में जब विश्व में चारों ओर अस्थिरता का वातावरण बना हुआ है यह सुखद आश्चर्य की बात है कि तमाम विघ्न बाधाओं के बावजूद भारत की आर्थिक उन्नति निरंतर प्रगति दर्ज कर रही है। विश्व की पाँचवी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरकर भारत ने विश्व को गंभीर संदेश दिए हैं। इसके साथ ही भारत की युवा प्रधान जनसंख्या भी अवसर उपलब्ध करा रही है। परिवर्तन की बयार लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि, आधारभूत संरचना में सुधार और खाद्य उत्पादन में बढ़ोत्तरी कुल मिलाकर संतोषजनक स्थिति बयान कर रहे हैं। देश की सीमाओं के निकट सामरिक हलचलों पर भी काफ़ी हद तक काबू पाया गया है। सैन्य बल की सामर्थ्य आतंकी शत्रु को परास्त करने और उसके अत की ठिकानों को ध्वस्त करने में सफल रही है। आर्थिक दुनिया में अन्य देशों के साथ आयात–निर्यात के लिए चुनौतियों का दौर चल रहा है। नए बाजार तलाशे जा रहे हैं और नए समीकरण भी बन रहे हैं। यह दृश्य आम भारतीय को उत्साहित और प्रोत्साहित करता है। तेज़ी से बदल रहे इस वैश्विक परिदृश्य में हम ऐसा बहुत कुछ होते देख रहे हैं जो विश्व की मानवता के हित में नहीं है। वह हमें सावधान तथा सचेत रहने के लिए प्रेरित करता है। इस वैश्विक बदलाव का एक प्रमुख संकेत यह है कि दूसरे देश से उधार लेने या खरीदने की जगह देश को स्वयं अपने ही संसाधनों को विकसित करना होगा। स्वदेशी को अपनाना और आत्मनिर्भर होना हमारी पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें स्वदेशी सोच और व्यवस्था को गंभीरता से अमल में लाना होगा। ऐसा करना सरल नहीं है क्योंकि हम लगभग दो सदियों के औपनिवेशिक राज के दौर में उसकी दृष्टि के जाल में फँसे रहे और आधुनिकता के छद्म आवरण में उसी का अवलंबन करते रहे। उसी की भाषा, उसी के भाव, उसी की वेशभूषा उसी की संस्थागत सोच और उन्हीं जैसी मूल्य व्यवस्था तक को अंगीकार करते रहे।

यह परंपरा स्वतंत्र होने के बाद भी जारी रही और हम ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में स्वाधीन नहीं हो सके। देशज प्रयास हुए ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता परंतु वे पाश्चात्य विचार की तीव्र आँधी में उखड़ गए और जो बचा वह निष्प्रभ रहा और उसे अविश्वसनीय और अनुपयोगी मानते हुए हम उससे मुक्त हो लिए। बहुत सारे सामाजिक–आर्थिक प्रयोगों की अवधारणा को गांधी, विनोबा, जय प्रकाश, लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय और नानाजी देशमुख आदि ने आगे बढ़ाया और कई तरह के

उपक्रम भी शुरू हुए थे। अनेक छोटी बड़ी संस्थाओं और व्यक्तियों ने देश के विभिन्न भागों में भी सार्थक बदलाव लाने की पहल की थी। पर व्यापक जमीनी वास्तविकता निश्चय ही पश्चिम की अनुगामी ही बनी रही। शिक्षा–दीक्षा, नियम–क़ानून और तौर–तरीक़े सबमें हमने पश्चिम को ही मानक बना लिया और उसका अभ्यास भी करते रहे। हम अपने मूल स्वभाव में बदलते चले गए और जो अपना था उसके प्रति संदेह का भाव विकसित करते रहे और पश्चिम की अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति को ही आधार बनाते रहे। प्रामाणिकता का केंद्र भारत से खिसक कर पश्चिम हो गया। अज्ञान और भ्रम से आगे बढ़कर पश्चिम पर हमारी निर्भरता कई तरह के प्रलोभनों का उपाय बनती गई। इस तरह हमारी अपनी समझ पराए ढाँचे में पराए निहित उददेश्यों की पूर्ति का साधन बन गई। हम विकल्पहीन बनकर अनुकरण प्रधान शैली का अनुसरण करने लगे। यह कम श्रम साध्य और सरल भी थी। इसमें बड़े प्रश्नों से न टकराते हुए तात्कालिक सतही उत्सुकता को प्रश्रय मिलता रहा। यह सब एक दुविधाग्रस्त मानसिकता का जनक बन गया जिसके तहत आत्म–बोध और सामाजिक अस्मिता के प्रश्न उलझते गए। आत्मनिर्भर देश की संकल्पना को देखते हुए हमें अपने भीतर झाँकने की जरूरत है और स्वयं को पहचानने की जरूरत है। आत्मान्वेषण और आत्मानुभव की यह अनिवार्य अपेक्षा होती है कि अपनी जाँच परख करते रहा जाय।

मिश्र जी ने सांस्कृतिक पर्यालोचन और प्रत्यभिज्ञा का कार्य किया। वे भारतीय उत्सवों को लेकर उनकी प्रकृति केंद्रकता को बड़ा महत्त्व देते हैं। यहाँ के मनुष्य को सृष्टि की लय। ऋतुओं का संगीत मुग्ध करता रहा है। यह जगत देव का काव्य है जिसके उद्यान में नए–नए रंग–बिरंगे सुगंधित पुष्प खिलते रहते हैं। आज के दौर में आत्म–प्रस्तुति ही प्रमुख सरोकार होती जा रही है। आत्म–मुग्ध होते हुए लोग आत्म–छवि के प्रबंधन पर अधिक ध्यान देने लगते हैं। आत्म–प्रशस्ति पाने की बलवती इच्छा पात्र–अपात्र होने से परे जाकर दिखावे के आत्म विस्तार या ठीक कहें तो आत्म–प्रसार में हैरान परेशान रहता है। प्रदूषण की पारिस्थितिकी के बीच जीना आम आदमी की मजबूरी होती जा रही है। इसके अनेक विकृत रूप सामने आ रहे हैं। आज मिलावट के बाजार के अपरिमित विस्तार में दूध और उससे तैयार होने वाले छेना , मावा तथा घी, मिठाई, दवा, दारू सभी शामिल हो चुके हैं। इसी का वृहद रूप जीवनदायी जल, वायु, अन्न, जमीन आदि के प्रदूषण में भी दिखता है। मानसिक और भावनात्मक प्रदूषण भी अनियंत्रित सा हो रहा है। आपराधिक आँकड़ों का ताजा सार्वजनिक विवरण और मानसिक स्वास्थ्य की रपटें कड़ी चेतावनी दे रही हैं कि उपभोग प्रधान जीवन शैली खतरनाक है और भ्रमात्मक है क्योंकि पृथ्वी के संसाधन असीमित नहीं हैं। उनका अंधाधुंध इस्तेमाल या दोहन प्रतिस्पर्धा और हिंसा को बलवान बनाता है। मन के भीतर पैठे मोह, लोभ, ईर्ष्या और द्वेष गहन अंधकार फैला रहे हैं जिसमें कुछ सूझता नहीं। बाहर जो प्रकाश है वह भी उसी अंधकार से निकला और समर्थित है। संशय, ईर्ष्या और भ्रम तभी निरस्त होंगे जब हम व्यापक मानुष सत्य को प्रतिष्ठित करेंगे।

भारतीय संस्कृति और विचार–परंपरा के प्रति मिश्र जी का सुचिंतित आग्रह इस सांस्कृतिक सोच की अंतर्निहित जीवनदायी विशेषताओं पर टिका है जो वैश्विक महत्त्व की हैं। यह वह सोच है जो विश्व में सब तत्त्वों के बीच पारस्परिकता और पूरकता को देखती है। भारतीय दृष्टि अनेक प्रकार से जीवन जीने और सीमित आत्मबोध से परे आध्यात्मिक होने का अवसर देती है। इसमें सबका समावेश संभव है। हर लघु के विराट होने की संभावना है। मिश्र जी ने भारत को जीवन में उतारा था और उनके साहित्य का मूल स्वर विचार और कर्म दोनों ही स्तरों पर अव्यय भाव को प्रकाशित करना था जो सत्य को समग्रता के अनुभव की ओर ले जाता है।

❑❑❑

संपर्क

गिरीश्वर मिश्र, 307, टावर–1 पार्श्वनाथ मैजेस्टिक फ्लोर्स इंदिरापुरम, (वैभव खंड) गाजियाबाद– 201014, ई–मेल misragirishwar@gmail.com , मो. 9922399666

'सौजन्य से'– अर्चना श्रीवास्तव

पं. विद्यानिवास मिश्र : एक व्यक्तिव्यंजक निर्बंध निबंध

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय*

व्यक्तित्त्व और निर्बंध दोनों एक जैसे हैं। व्यक्तित्त्व भले व्यक्ति से उद्भूत हो लेकिन उसकी व्याप्ति अपरिमित होती है उस निबंध की तरह जो भले बाँधे जाने से बना हो लेकिन जो अपने स्वभाव में निर्बंध होता है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र ऐसे ही निर्बंध के बंधन हैं जो भले व्यक्ति के रूप में दिखाई दें लेकिन अपनी विलक्षण सृजनात्मकता के कारण जो अपरिमित व्यक्तित्त्व हैं।

हिंदी में निबंध और विशेष रूप से ललित निबंध की परंपरा को उन्होंने नए धरातल पर स्थापित किया। वे मानते हैं कि ललित निबंध व्यक्ति व्यंजक निबंध का एक छोटा सा अंग है। उनके अनुसार ललित में एक विशेष प्रकार की योजना की सीमा है। वह भाषा के मँजाव में सहायक भी हो सकती है और भाषा की सजीवता में बाधक भी। जहाँ कहीं ललित शब्द का प्रयोग संस्कृत वांङ्मय में आता है वहाँ एक सजने का भाव बराबर मन में रहता है और इस सजने के भाव में आत्मरति से ग्रस्त होने का खतरा भी सन्निहित रहता है।

अपने संपादित निबंध संग्रह 'स्तबक' की भूमिका में वे यह स्पष्ट कहते हैं कि व्यक्ति व्यंजक निबंध, व्यक्ति का व्यंजक नहीं है, व्यक्ति के माध्यम से व्यंजक है। व्यक्ति व्यंजक निबंध व्यक्ति का वाचक नहीं है अर्थात् उसमें व्यक्ति मुख्य रूप में उपस्थित नहीं रहता, वह सतह पर उपस्थित नहीं रहता, सतह के नीचे रहता है। वह व्यक्ति का व्यंजक है अर्थात् व्यक्ति के वे अंश, वे अनुभव जो उसके घेरों के कारण उन्मीलित नहीं होते अब साझेदारी की दुर्निवार आकांक्षा से उन्मीलित होना चाहते हैं तब व्यक्ति व्यंजक निबंध की रचना होती है। पंडितजी का मानना है कि व्यक्तिव्यंजक निबंध, निबंधकार की आंतरिक छटपटाहट की अपरिहार्य अभिव्यक्ति है। उनके सभी निबंध उनकी इसी अनुभूति के साक्षी है। व्यक्ति व्यंजक निबंध का छोटा–सा प्रकार है ललित निबंध। ललित निबंध के लिए सौंदर्य की अनुभूति या लालित्य की अनुभूति की पृष्ठभूमि आवश्यक है तथा इसका उद्देश्य यही है कि जो व्यक्ति की दृष्टि में सुंदर या ललित है वह लोक का सुंदर और ललित हो।

* प्रख्यात कलाविद् ललित निबंधकार, समीक्षक, संस्कृतिविद् तथा भारतीय कला के विभिन्न अनुशासनों के जानकार।

विद्यानिवास जी ने हिंदी के इस व्यक्तिव्यंजक निबंध की मौलिक परंपराओं पर भी प्रकाश डाला है। वे इसे संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की कथा, विशेष रूप से 'आख्यायिका' का ही उत्तराधिकारी मानते हैं तथा इस व्यक्तिव्यंजक निबंध को वे पश्चिम के पर्सनल ''ऐस्से'' से भिन्न मानते हैं। उनका मत है कि ललित निबंध ''बैले लेटर्स'' का अनुवाद है। उनका कहना है कि प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण उस व्यक्तिव्यंजक निबंध साहित्य में अवश्य मिलता है जो निबंध प्रकृति तथा मानव जीवन में एक बिंब का भाव देखने का अभ्यासी है। ऐसे निबंध में प्रकृति में रमने की उत्कंठा भी मिलती है लेकिन प्रकृति के साथ वैसा गहरा तादात्म्य और प्रकृति में गठित होने वाले परिवर्तनों में मानव–जीवन–संवत्सर का जैसा आवर्तन देखने का भाव है वैसा पश्चिम के निबंध साहित्य में नहीं है और वह इसलिए कि हिंदी के निबंध साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि से पश्चिम की वैचारिक पृष्ठभूमि इन मायनों में भिन्न है कि पाश्चात्य विचार भूमि में अखंड विश्व दृष्टि, फक्कड़ भाव तथा सामान्य में गूढ़ विशिष्टता की तलाश का अभाव है। वे यह भी कहते हैं कि शैली निबंध नहीं है। उनका यह भी मानना है कि व्यक्तिव्यंजक निबंध लिखने वाले हिंदी में थोड़े हैं और जो हैं वे व्यक्तिव्यंजक निबंधों के अलावा भी कुछ लिखते रहते हैं, ऐसा निबंध जल्दी नहीं लिखा जाता। इस निबंध को लिखने के लिए भीतर की निरंतर घुमड़न जरूरी है और जब यह बार–बार होती है तब लिखने की लाचारी उपस्थित हो जाती है और निबंध लेखन की यह पहली शर्त है।

एक निबंध लेखक के लिए क्या–क्या आवश्यक है, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि निबंधकार के लिए जरूरी है कि वह रिपोर्टर न हो। वह बहुश्रुत हो अर्थात् वह ज्ञान के विविध स्रोतों से रस ग्रहण करने वाला हो और उन विभिन्न प्रकार के रसों में एक प्रवाहशीलता देखने वाला हो। कोरे पांडित्य से निबंध नहीं लिखा जाता। निबंध में अनुभव की यात्राओं के संदर्भ जरूरी हैं और ये संदर्भ कला से, लोक संस्कृति से, समसामयिक घटना से जुड़े हो सकते हैं। निबंध में संदर्भों का उपयोग पांडित्य प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं होना चाहिए क्योंकि निबंधकार का उद्देश्य पाठक को संदर्भ की ओर ले जाना नहीं है, संदर्भ को अभीष्ट भाव–बोध की ओर लाना है।

निबंध के शिल्प के संबंध में उनका मानना है कि निबंध की बुनावट में पुनरुक्ति लग सकती है लेकिन यदि गहरे देखें तो यह पुनरुक्ति नहीं बल्कि अतिरिक्त बल देने की लाचारी होती है। निबंध की भाषा में शब्द चयन बड़ा महत्त्वपूर्ण है लेकिन यह शब्द चयन ऐसा हो जिससे वास्तविक प्रयोजन स्पष्ट हो सके। निबंधकार के लिए यह जरूरी है कि वह अपने आसपास के जीवन से गहरा संपृक्त हो। जो निबंधकार लोकजीवन में जितना रमा हुआ होगा उसका निबंध उतना ही प्रभावी होगा।

उनके दृष्टिकोण से हिंदी निबंध साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि में तीन विशेषताएँ हैं, पहली अखंड विश्व दृष्टि, दूसरी फक्कड़भाव और तीसरी सामान्य में निगूढ़तम वैशिष्ट्य की तलाश। लेकिन अक्सर लोग इस वैचारिक पीठिका को भूलकर शैली को ही निबंध मान लेते हैं तथा विचार को गौण मान लेते हैं जो उचित नहीं है। उनके अनुसार वे निबंधों के द्वारा संवाद नहीं रचते, संवाद की स्वीकृति देते हैं। वे शब्दों के पीछे दौड़ते हैं ठीक उसी तरह जैसे बच्चे तितलियों के पीछे। शब्द रंग बदलते रहते हैं, तितलियों की तरह और वे मुग्ध भाव से उनका पीछा करते हैं। वे कभी–कभी मिल जाते हैं तो उन्हें वे बोध देने की कोशिश करते हैं और लोग कह देते हैं कि ललित निबंध बन गया। उनके निबंध द्विवेदी जी की परंपरा को बहुत आगे ले जाते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और कुबेरनाथ राय जैसे समकालीन निबंध लेखकों के साथ उनकी त्रयी बनती है। ठीक उसी तरह जिस तरह हरिशंकर परसाई, रवींद्रनाथ त्यागी और शरद जोशी की त्रयी व्यंग्य लेखन में है।

उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं – 'छितवन की छाँह', 'अंगद की नियति', 'आँगन का पंछी और बंजारा मन', 'कटीले तारों के आर पार', 'कौन तू फुलवा बीननिहारी', 'गाँव का मन', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है', 'तमाल के झरोखे से', 'साहित्य की चेतना', 'परंपरा बंधन नहीं', 'साहित्य का प्रयोजन', 'भारतीयता की पहचान', 'नैरंतर्य और चुनौती', 'व्यक्ति व्यंजना', 'जीवन पर्व', 'नदी नारी और संस्कृति', 'फागुन दुई रे दिना', 'शिरीष की याद आई', 'यात्राओं की यात्राएँ', 'बूँद मिले सागर में' 'जसुदा के नंदन' और 'गिर रहा है आज पानी'।

यों निबंध विधा हमारे समकालीन लेखन में प्रायः उपेक्षित है लेकिन यदि इस विधा की धारा नहीं सूख पाई बल्कि और प्रवहमान होती रही तो निःसंदेह इसका श्रेय उन्हें दिया जाना चाहिए। 'नवभारत टाइम्स' और 'साहित्य अमृत' के प्रधान संपादक के बतौर उन्होंने निबंधों को प्रमुखता से छापा। आज के जो थोड़े बहुत निबंधकार हैं उन्हें उन्होंने प्रश्रय दिया, उनकी हौसला अफजाई की। उनकी मान्यता स्पष्ट थी। वे अडिग, आस्थावादी थे। वे कहते थे कि वैदिक सूक्तों के गरिमामय उद्‌गम से लेकर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है उस भारतीय भावधारा का मैं स्नातक हूँ। मेरी मान्यताओं का वही शाश्वत आधार है। मैं रेती में अपनी डोंगी नहीं चलाना चाहता और न जमीन के ऊपर बने रुंधे तालाबों में छपकोरी खेलना चाहता हूँ। इसलिए प्रचलित शब्दावली में अगर प्रगतिशील नहीं हूँ तो कम से कम प्रतिगामी भी नहीं ही हूँ।

उनके लिए लिखना मरना या मरने जैसी यातना की तरह था। वे कहते थे अपने अनुभवों को उघारना मौत से बड़ी यंत्रणा है।

पंडितजी ने जो व्यक्तिव्यंजक निबंध लिखे वे उनके अनुभवों की ही देन हैं। उनके व्यक्तिव्यंजक निबंध लेखन की सबसे बड़ी विशेषता उनका अंतरानुशासिक चरित्र है। उनके निबंधों में जहाँ एक ओर हमारे ललित कला के विभिन्न अनुशंसाओं की झिलमिल है तो वहीं दूसरी ओर लोक भी अपने नैसर्गिक रूप में उपस्थित है। लोकगीतों की तो जैसे सरिता उनके निबंधों में प्रवहमान है। उन्होंने बहुत से विषयों पर लिखा और कहते रहे कि अभी भी बीसियों विषय मुझसे हिसाब माँग रहे हैं – तुमने हमें क्यों नहीं अभी तक याद किया ?

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने कालिदास की जिस लालित्य योजना को आधार बनाकर जो ललित निबंध लिखे विद्यानिवास जी ने उस आधार भूमि के क्षेत्रफल को विस्तार दिया। द्विवेदी जी ने अशोक, कुटज, शिरीष और कचनार जैसे पुष्पों के माध्यम से जिस विराट व्यंजना के दर्शन कराए, विद्यानिवासजी ने इस व्यंजना के अनछुए पक्षों को उजागर किया। उन्होंने शिरीष और तमाल पर निबंध लिखे और एक नई जमीन तोड़ी। शिरीष पर उन्होंने द्विवेदी जी को समर्पित जो निबंध लिखा उसकी परिधि में हमारी मनस्विता और तप की समूची परिभाषा समा गई। उन्होंने 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' जैसा कालजयी निबंध लिखा। यह निबंध हिंदी साहित्य में अपना विलक्षण स्थान रखता है। इसके राम, इसकी सीता, इसके लक्ष्मण और इसकी कौशल्या समूची मानवीय संवेदना और मनुष्य के समर्पण की व्याख्या करने वाले पात्र हैं। इस अकेले निबंध ने पंडितजी की विलक्षण प्रतिभा को रेखांकित किया। इस निबंध में राम के मुकुट के विषय में उनकी चिंता है। मुकुट भीग रहा होगा तो वह भारी हो उठा होगा। कहीं उसके बोझ से राम कराह तो नहीं रहे है?

जब कभी इस निबंध की चर्चा होती तो राम वनवास के समय गाए जाने वाले लोकगीत की इन पंक्तियों का वे स्मरण करते और विभोर होकर इनकी व्यंजना से परिचित कराते,

राम कै भीजे मुकुटवा लखन सिर पटुकवा हो राम,
मोरी सीता के भीजौ सेनुरवा लवटि घर आवईं हो राम।
भीजै त भीजै मुकुटवा पटुकवा न भीजइ हो,
भीजै त भीजै पटुकवा सेनुरवा न भीजइ हो।
अहै, सेनुरवा के साथ सिया घर लवटइँ हो।।

कहते कि देखो कितनी अद्भुत लोक कल्पना है। हमारा लोक, वनवासी राम के आँधी–पानी में भीगने की तो चिंता करता ही है लेकिन उससे अधिक चिंता लक्ष्मण के उस दुपट्टे के भीगने की करता है जो उनकी कमर में कसा हुआ है। यह दुपट्टा मुकुट का सहयोगी है क्योंकि इस वनवास में यह दुपट्टा ही तो इस मुकुट का पहरूआ बना हुआ है लेकिन इन दोनों के भीगने से अधिक चिंता सीता के सिंदूर के

भीगने की है क्योंकि इसी सिंदूर की दमक के कारण राम, राम हैं। यही दमक तो राम और लक्ष्मण को उनके घर लौटा लाएगी।

उनके अनेक निबंधों की चर्चा विस्तार से की जा सकती है क्योंकि वे केवल किसी विषय की व्याख्या नहीं करते अपितु उसके माध्यम से हमारी परंपरा और उसके सार को व्यंजित करते हैं। यहाँ केवल बसंत को लेकर उनके बसंत केंद्रित निबंधों के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

पंडितजी को बसंत बहुत प्रिय था। उन्होंने बसंत पर कई निबंध लिखे। एक निबंध लिखा ''बसंत का नाम ही उत्कंठा है'' और एक निबंध लिखा ''बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं''। ये दोनों निबंध उनकी मनःस्थितियों के चित्र हैं।

बसंत के माध्यम से उन्होंने साहित्य को परिभाषित किया। कहा *साहित्य का स्वभाव बसंत जैसा होता है। वैसा ही औला–मौला, बेफिक्र और वैसा ही दूसरों को और से और बनाने वाला। उसके ऊपर किसका नियंत्रण ? .... पर बसंत का पट्टा कोई अपने नाम करा ले कि बसंत हम ऐसा ही चलाएँगे उससे यही–यही फूल खिलाएँगे और इतने ही फूल खिलाएँगे तो बसंत मनेगा? बसंत किसी की मर्जी से नहीं जाता। वह केवल अपनी मर्जी से जाता है।*

वे लिखते हैं, *बसंत आ गया क्योंकि मैं उत्कंठित हो उठा। यकायक निरुद्देश्य अनमना हो उठना, ऐसा अनुभव करना कि कोई बुला रहा है, कौन, यह भी पता नहीं : पर जो बुला रहा है, बहुत अपना है। वह कहाँ बुला रहा है यह भी पता नहीं। स्मृति के गलियारों में बुला रहा है जहाँ कुछ दिखता है, कुछ नहीं दिखता। बस सिलहटी आकृति दिखती है। पता नहीं किन्हीं अमराइयों में बुला रहा है जहाँ साथ–साथ दो दिशाओं से बसंती तन–मन आए और खो गए, जो जैसा आया वैसा नहीं रहा बड़ा दुर्निवार आमंत्रण है बसंत का।*

बसंत का मतवालापन हमें इसलिए आकर्षित नहीं करता कि हम खुद नशे में मतवाले हैं, नशा चाहे धन का हो, बुद्धि का हो, पद का हो, रूप का हो, यह सब कुछ न हो, न कुछ का ही नशा हो। बसंत का मतवालापन इसलिए आकृष्ट करता है कि उस मतवालेपन में दूसरे की सुधि है। अपनी सुधि नहीं है। हमारा नशा अपनी सुधि तो हरता ही है, दूसरों की सुधि भी हर लेता है, हमें सुधि विहीन बना देता है। बसंत आता है तो हमारी सुधि तो जरूर छीन लेता है पर कितनी सुधियाँ जो दूसरों की जो हमसे छिनी हैं, अपने उन्माद से, कहीं से वापस ला देता है और हम फिर नए हो जाते हैं। अपने में डूबने से, धँसने से कहीं आदमी नया होता है ? आदमी नया होता है अपने खोल से, बाहर निकलकर खुलने से, दूसरों के लिए खिलने से, दूसरे का खुलना–खिलना निरखने से निरखकर हुलसने से, थिरकने से और दूसरे की अँसुआयी आँखों के आँसू पीने से, पीकर अँसुआने से।

बसंत का यह भाव उनमें साकार हो गया था। उन्होंने बसंत के दुर्निवार आमंत्रण को स्वीकार कर लिया और फिर नए हो गए। अपने खोल से बाहर निकल गए। वे जीवनभर दूसरों के लिए खिलते रहे, हुलसते रहे और दूसरों की आँखों के आँसू पीकर अँसुआते रहे लेकिन वे आँसू कोई देख नहीं सका।

बसंत के इसी भाव ने उन्हें निराला का सामीप्य दिया। उन्हें बार–बार निराला की याद आती। वे बसंत के फगुवे के बारे में अपने मित्र भ्रमरानंद से बार–बार पूछते हैं कि मैं तो फगुआ नहीं चढ़ाऊँगा लेकिन मेरे ऊपर इतने फगुआ चढ़े हुए हैं उनका क्या करूँ। वे मानते रहे कि इस दरिद्र संपन्नता में फगुआ देना संभव नहीं है। वे मानते रहे कि फगुआ, उसमें छुपी आनंदवृत्ति अपने पास छुपाने की नहीं, लुटाने की है और वे इसे लुटाते ही रहे। बसंत की यही विशेषता है कि वह अपना सब कुछ लुटा देने के लिए ही आता है। हमारे बीच पंडितजी बसंत की तरह ही आए और अपना सारा सौरभ लुटाकर चले गए।

पंडितजी के निबंधों में बसंत की यह रसमयता प्रत्यक्ष हो गई थी। रस के बारे में वे कहते थे कि रस और कुछ नहीं, सकल होने की, अखंड होने की प्रवणता है। उनके व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व में यह रस सदैव प्रवाहित होता रहा और उसे वे उदार तथा उन्मुक्त भाव से इस आकांक्षा के साथ बाँटते रहे कि यह रस व्यक्तिगत न रहे समष्टिगत हो।

मुझे उनका लंबा सान्निध्य मिला, मार्गदर्शन और स्नेह मिला जिसके कारण उनसे संवाद की निरंतरता बनी रही और मैंने उनके अनेक साक्षात्कार लिए। मैंने पाया कि रसबोध उनके लेखन का सहज गुण था और इस लेखन के स्वर रागबोध के कंठ से फूटते थे। सहृदयता उनके कृतित्त्व के पोर–पोर में थी और यही कारण है कि वे भारतीय कला अवधारणा के सच्चे आख्याता के रूप में प्रतिष्ठित हुए भले उनका यह स्वरूप पूरी तरह सामने न आ पाया हो। वे सदैव अखंडता के पक्षधर रहे। समय के प्रवाह को उन्होंने कभी खंडित रूप में नहीं देखा।

जब उनके निबंधों का एक संकलन 'व्यक्ति व्यंजना' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें उनके चुने हुए 53 निबंध संकलित हैं तब मैंने उनसे इस ग्रंथ के प्रकाशन के समय एक लंबी बात की थी। उनसे पूछा था कि आगामी सदी के भारत को वे किस रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने कहा था कि मैं तो आज के अत्यंत संधिःकालीन भारत में संभावनाओं की तलाश करना चाहता हूँ। बेकार के आरोपित कालखंडों में क़ैद सूर्योदय की बात नहीं सोचता।

उन्हें लंबा सान्निध्य प्रख्यात कला मनीषी स्वर्गीय रायकृष्ण दास जी का मिला और डॉक्टर आनंदकुमार स्वामी के कला दर्शन की उन्होंने सटीक व्याख्या की। यही कारण है कि उनके निबंधों में भारतीय कला की मौलिक अवधारणा अभिव्यक्त हुई है जो समग्रता पर, निजता के तिरोहण और अंतरावलंबन पर बल देती है।

उनमें सहज विनम्रता थी और एक बार जब मैंने उनसे कहा कि जो अंतरानुशासिक दृष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और रायकृष्णदास की है वह केवल आपमें ही दिखाई देती है तो उन्होंने कहा था कि ऐसा मानना मेरे लिए बड़बोलापन होगा। केवल इतना कह सकता हूँ कि उन्होंने कैसे अपना मार्ग बनाया, उसे देखने का मौका मुझे मिला। उसका लाभ मुझे मिला।

निःसंदेह सृजनात्मकता का साक्ष्य यही है कि पंडितजी का कृतित्त्व निबंध की तरह ही बंधनजयी था। वे स्वयं में एक निर्बंध निबंध थे।

❑❑❑

संपर्क

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय, 85, इंदिरा गांधी नगर, आर.टी.ओ.के पास, केसरबाग रोड़, इन्दौर, मध्यप्रदेश–452009 ईमेलः upadhyayanarmada@gmail.com मो. 7805921221

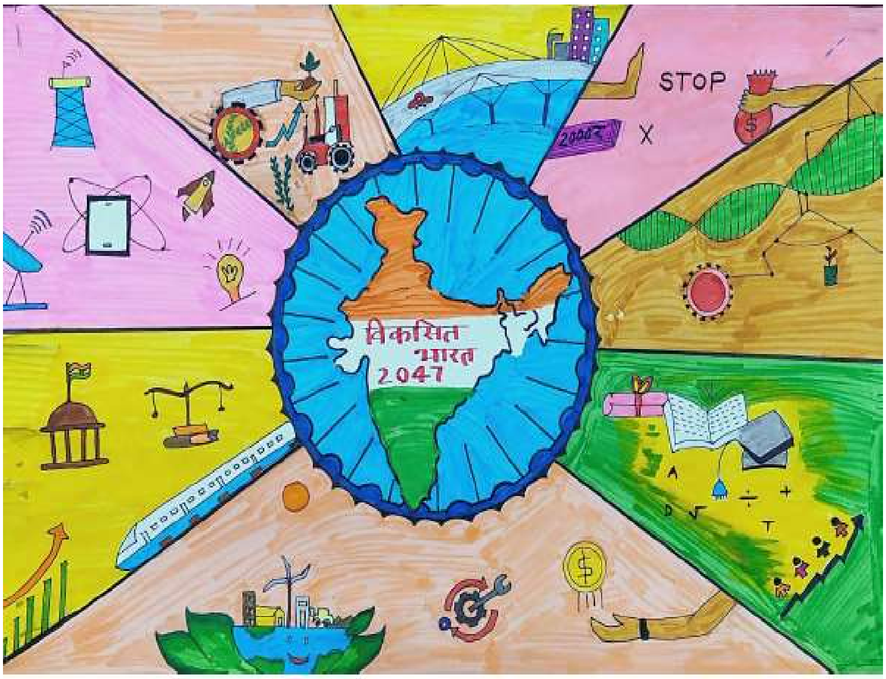

'सौजन्य से'– तमन्ना रानी

पं. विद्यानिवास मिश्र का 'नव्य भाषा–चिंतन'

दिलीप सिंह*

सबसे पहले तो यह समझ लें कि पाश्चात्य भाषाविज्ञान के विभिन्न संप्रदायों या 'स्कूलों'(प्राग, अमरीकी, रूसी, फ्रेंच, ब्रिटिश आदि) द्वारा प्रतिपादित और स्थापित आधुनिक/समसामयिक भाषाविज्ञान संबंधी अवधारणाओं को ही पंडित विद्यानिवास मिश्र ने 'नव्य भाषा–चिंतन' की संज्ञा दी है। वे भाषा–चिंतन की इन नव्य दृष्टियों से निरंतर अपने को जोड़े रहे। इन्हें मथते रहे और इन्हें भारतीय भाषा परिदृश्य के हवाले से जाँचते, परखते और व्याख्यायित करते रहे। कहना यह है कि भाषाविज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियों तथा सैद्धांतिक मान्यताओं पर उनका भाषाविद् सदैव सजग और सन्नद्ध रहकर विमर्श करता रहा। उनका यह चिंतन बहुत विस्तार नहीं पा सका पर उनकी दो पुस्तकों ('रीतिविज्ञान', 1973 तथा 'संप्रेषण और संप्रेषणात्मक व्याकरण', 1986) तथा कुछ लेखों में यह चिंतन कम ही सही पर ठोस रूप में दृष्टिगत होता है अर्थात् वे अधिकतर कहीं और (व्यक्तिव्यंजक निबंध लेखन और धर्म–संस्कृति चिंतन) उलझे रहे लेकिन उनकी विचार–प्रक्रिया निरंतर नव्य भाषा–चिंतन की पड़ताल की ओर प्रवृत्त रही, अपने ढंग से, बेबाकी और निजता के साथ। कहना यह है कि नव्य भाषा–चिंतन पर चाहे उन्होंने लिखा कम हो पर उसके समस्त आयामों पर उनका अध्ययन और विवेचन सर्वथा विचारणीय है। उदाहरण के लिए उनकी पुस्तक 'रीतिविज्ञानः सृजनात्मक समीक्षा का नया आयाम' के परिशिष्टः (उपपृष्ठ) को देखा जा सकता है जिसमें उन्होंने विश्व भर की भाषा शैली/साहित्यिक शैली पर विचार करने वाले नव्य भाषा–चिंतकों के उद्धरणों को भारतीय रीति–संप्रदाय के सूत्रों के तुलनीय रखकर विवेचित किया है। यह परिशिष्ट नव्य भाषा–चिंतन के बहुआयामी विचार–बिंदुओं पर उनकी गहरी पकड़ का स्वतः प्रमाण है। यही गहराई हमें उनकी दूसरी पुस्तक (संप्रेषण और संप्रेषणात्मक व्याकरण) में भी दिखाई पड़ती है जिसमें उन्होंने आधुनिक भाषाविज्ञान (समाज भाषाविज्ञान) की कतिपय स्थापनाओं के स्रोत पाणिनि (अष्टाध्यायी) तथा भर्तृहरि (वाक्यपदीय) के हवाले

* निदेशक, लुप्तप्राय भाषा केंद्र, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्यप्रदेश।

से खोज निकाले हैं। इस आलेख में मैं इन दोनों पुस्तकों को केंद्र में नहीं रखने जा रहा हूँ, इन पर मैं काफी पहले से लिखता आ रहा हूँ, विभिन्न कोणों से। यहाँ उन लेखों को आधार बनाया गया है जो छिटपुट उनके कुछ निबंध–संग्रहों में संकलित हैं। यह बड़े अफसोस के साथ कहना होगा कि अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की शाखाओं में काम करने वाले भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने पंडित जी के इन ठोस और वैज्ञानिक विचारों की ओर अपनी पीठ कर रखी है। अभी केवल इतना संकेत भर कर दिया जाए कि इन निबंधों का विषय–क्षेत्र (डोमेन) भाषा–साहित्य के संबंध, संप्रेषण और समूह संचार, भाषा और संस्कृति, भाषाः लक्ष्य और लक्षण, भाषाविज्ञान का शिक्षण, भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता, भाषा शिक्षण में व्याकरण का स्थान, भाषाः आर्थी संरचना तक पसरा और फैला हुआ है जिनमें नव्य भाषा–चिंतन के तत्संबंधी मुद्दे भी खूबसूरती के साथ पिरोए हुए हैं। इस प्रकार पंडित जी के ये निबंध भाषा शिक्षण, समाज भाषाविज्ञान, संप्रेषण सिद्धांत, शैलीविज्ञान, अनुवाद विज्ञान, अर्थ विज्ञान संबंधी नव्य–चिंतन की द्राक्षा को चाहे संकेत रूप में ही सही, अपने भीतर समेटे हुए हैं। इन्हीं संकेतों में से कुछ पर प्रस्तुत आलेख में विमर्श किया जाएगा।

(2)

पंडित जी के भाषावैज्ञानिक व्यक्तित्त्व ने हमें यह तो जताया–बताया ही कि भारतीय मनीषा प्रारंभ से ही अपनी चिंतन–प्रक्रिया में भाव या विचार के साथ भाषा को केंद्र में रखकर विवेचना करती रही है। इसके साथ ही उनके *भारतीय भाषा चिंतन' (भारतीय भाषाशास्त्रीय चिंतन की पीठिकाः 1978) में यह सर्वांगीण विवेचना भी हमें मिल जाती है कि केवल व्याकरण ग्रंथों में ही नहीं, संपूर्ण वैदिक साहित्य में भाषा–सूत्र बिखरे हुए हैं।' मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इन भाषा–सूत्रों की उनके जैसी सरस और सरल व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है।* इसी तरह उनकी 'रीतिविज्ञान' (1973) पुस्तक ने वाणी और अर्थ को 'कहियत भिन्न न भिन्न' मानकर यह भी बताया कि संस्कृत काव्यशास्त्र का पाश्चात्य नव्य भाषा–चिंतन के साथ कितना गहरा संबंध रहा है। ऐसा गहन–गंभीर आकलन इन दोनों धाराओं में दक्ष पंडित जी जैसा पुरोधा भाषा–चिंतक ही कर सकता था। ऐसा सुथरा आकलन कि यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि नव्य भाषा–चिंतन से संबद्ध भाषाविदों ने संस्कृत की इस सशक्त परंपरा का चाहे पूर्णरूपेण अनुसरण न भी किया हो फिर भी इनमें से कई एक ने पाणिनि को 'मानव मेधा का सर्वोत्तम स्मारक' मानने में कोताही नहीं बरती है। इनमें से कुछ भाषाविद् ऐसे भी हैं जिन्होंने खुले मन से यह स्वीकार किया है कि *संस्कृत में विवेचित भाषा–संबंधी चिंतन आधुनिक भाषाविज्ञान को दिशा प्रदान करता रहा है।* इसी बिंदु पर खड़े होकर हम यहाँ नव्य भाषा–चिंतन पर पंडित जी की व्यापक पकड़ पर दृष्टिपात करने जा रहे हैं।

(3)

बात सस्यूर के भाषा–चिंतन से प्रारंभ की जाए। एफ.डी. सस्यूर (1857–1913) आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक माने जाते हैं जिनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत (पुस्तकः ए कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्सः 1916, मृत्योपरांत) 'भाषाई क्रांति' के रूप में उभरे। भाषा की प्रकृति को लेकर उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए उससे भाषा को देखने की पूरी दृष्टि बदल गई। सस्यूर ने भाषा–संरचना को एक प्रकार्यात्मक यथार्थ मानते हुए आगे विकसित होने वाले संरचनावाद (स्ट्रक्चरलिज्म) की भूमिका तैयार की। पंडित जी के स्फुट विचारों में सस्यूर की मान्यताओं की अनुगूँज भी हमें स्पष्टतः सुनाई पड़ती है और उनका व्याख्यात्मक विस्तार भी। पहले यहाँ सस्यूर की शब्द और पद संबंधी उन अवधारणाओं पर संक्षिप्त चर्चा की जाए जिसे पंडित जी ने अपने एकाधिक लेखों (भाषा, साहित्य, मिथक और संस्कृतिः साहित्य का खुला आकाशः 1996 तथा भाषाः आर्थी संरचना) में उभारा है। बड़ी ही सुखद अनुभूति यह देखकर होती है कि परंपरागत एवं नव्य भाषा चिंतन में इन दोनों के अनेक आयामों पर और विभिन्न प्रकारों एवं पद्धतियों से जो व्याख्या की गई है उनका अति विश्लेषणीय परिप्रेक्ष्य पंडित जी के इन आलेखों में हमें मिल जाता है। पंडित जी की शब्द–पद संबंधी वैचारिकी में विश्लेषण के तीन निश्चित संदर्भ हमें दिखाई देते हैं – एक संदर्भ शब्दकोश का है, दूसरा व्याकरण का और तीसरा अभिव्यक्ति का। कहना न होगा कि इन तीनों संदर्भों को पंडित जी ने वर्गीकृत ढंग से एवं व्यावहारिक धरातल पर रखकर देखा–दिखाया है। कुछ इस तरह कि उनकी भाषाई मेधा का लोहा मानना पड़ता है।

यह तो हम जानते ही हैं कि शब्द और पद से सीधे संबद्ध शब्द और अर्थ के परस्पर संबंध और इनकी अभिन्नता की चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा विश्लेषकों के अध्ययन का मुख्य विषय रहा है। महत्त्वपूर्ण यह है कि नव्य भाषा–चिंतन की दृष्टि अर्थविज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करके समाजभाषाविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अर्थवत्ता (सोशल सीमियोटिक) को भाषाविज्ञान के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकारती है। इस सामाजिक अर्थवत्ता का आकलन भी पंडित जी के आलेखों में हमें प्रचुरता से मिलता है। इस संबंध में सामाजिक अर्थवत्ता से जुड़ी संकल्पना भाषा–नियोजन की ही बात की जाए तो यह देखा जा सकता है कि पंडित जी ने हिंदी भाषा का संदर्भ देते हुए इस पर पर्याप्त विचार किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाल पाने में कोई दिक्कत नहीं होती है कि 'भाषा नियोजन कोई तकनीक नहीं, एक दायित्व है जो भविष्य के प्रति जागरूकता के साथ कार्य–कारण संबंध को आधार बनाता है।' इसी कसौटी पर कसते हुए पंडित जी ने इस ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि राजभाषा हिंदी से संबद्ध भाषा नियोजन की गलत पद्धति ने हिंदी भाषा का कितना नुकसान किया है। सबसे बड़ा नुकसान तो यह कि हिंदी शब्दों की अर्थ–परतों (लेयर्स ऑफ मीनिंग) को जड़ीभूत करके अंग्रेजी शब्दों का निर्जीव पर्याय बना दिया गया। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'भाषा नियोजन' शब्द का प्रयोग

सबसे पहले हैराल्ड वाइनराइख ने सन् 1951 में किया था जिसमें क्रमशः सामाजिक विशिष्टता तथा राष्ट्रीय व्यवस्था को केंद्रीय स्थान दिया गया था। पंडित जी ने राजभाषा हिंदी को केंद्र में रखकर भाषा नियोजन की अर्थपरकता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है तथा जानबूझकर खींची गई इसकी सीमा रेखाओं पर तल्ख टिप्पणियाँ की हैं (भाषा, लक्ष्य और लक्षणः 1998ः अस्मिता के लिए तथा भाषा, अस्मिता और राष्ट्रीयताः भारतीय संदर्भः 2007ः कितने मोरचे)।

(4)

अब बात सस्यूर की सर्वाधिक गहन संकल्पना संकेत या प्रतीक (साइन) पर। पंडित जी के लेखन में इसकी सम्यक चर्चा मिलती है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझते चलें कि सस्यूर ने 'प्रतीक' को कथ्य (सिग्निफाइड) और अभिव्यक्ति (सिग्निफायर) के संबंधों के रूप में देखा है। उनके मतानुसार 'प्रतीक, कथ्य और अभिव्यक्ति के पक्षों से जुड़ी एक संश्लिष्ट और सार्थक इकाई है। कथ्य और अभिव्यक्ति इस संश्लिष्ट इकाई के न तो दो स्तर हैं और न ही उसके दो खंड। वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं।' पंडित जी ने अपने भाषा–चिंतन में यह बार–बार दुहराया है कि *कथ्य और अभिव्यक्ति के इसी एकीकरण का यह परिणाम है कि संप्रेष्य कथ्य के अभाव में अभिव्यक्ति पक्ष और अभिव्यक्ति के अभाव में कथ्य पक्ष, प्रतीक रूप में सिद्ध नहीं माना जा सकता।* सस्यूर की दृष्टि में 'भाषिक प्रतीक' अपनी प्रकृति में मूलतः सामान्य (यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक) हैं। पंडित जी ने सस्यूर की इस संकल्पना को न केवल स्वीकार किया बल्कि इसे सहजता और उदाहरणपुष्ट ढंग से समझाने का भी यत्न किया – 'यह भाषिक प्रतीक की यादृच्छिक और रूढ़िपरक प्रकृति का ही परिणाम है कि हमें भाषा में पर्यायवाची शब्द या अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं यथा– घोड़ा, अश्व, तुरंग आदि और एक ही कथ्य (सिग्निफाइड) के लिए भिन्न–भिन्न भाषाओं में भिन्न–भिन्न अभिव्यक्ति रूप यथा– संस्कृत में अश्व, हिंदी में घोड़ा, अंग्रेजी में हॉर्स... आदि।' उन्होंने दो भाषाओं भाषा 1 और भाषा 2 में निहित यादृच्छिकता और रूढ़िपरकता का संकेत अनुवाद के संदर्भ में भी दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवाद की प्रक्रिया प्रतीक 1 के शब्दार्थ संबंध को प्रतीक 2 में रूपांतरित करने की प्रक्रिया है। पंडित जी ने लिखा भी है कि *हर अनुवादक यह जानता है कि किन्हीं दो भाषाओं के संकेतार्थ / कथ्य (सिग्निफाइड) समरूपी (आइडेंटिकल) नहीं होते।* यहाँ हम यह भी जान लें (और जिस पर उन्होंने 'काव्य भाषा' के संदर्भ में पर्याप्त विचार किया है) कि एक ही भाषा में भी ऐसे पर्याय बहुत ही कम होते हैं जिनका अर्थ एक दूसरे के पूर्णतः समान हो। उदाहरण के लिए कोमल, मृदु, मृदुल, मुलायम, नाजुक, नरम, सुकुमार सभी का भाव समान होते हुए भी इनका प्रयोग–संदर्भ भी भिन्न होता है और प्रयोगार्थ भी। पंडित जी ने अंग्रेजी (भाषा 1) और हिंदी (भाषा 2) का उदाहरण देते हुए यह इंगित किया है कि *अंग्रेजी के 'ब्राउन' रंग शब्द का अर्थ हिंदी भाषी भूरा, मटियाला और कत्थई आदि शब्दों द्वारा ग्रहण करता है। इसी प्रकार अंग्रेजी के 'अंकल' शब्द में हिंदी*

के ताऊ, चाचा, मामा, मौसा, फूफा आदि समा जाते हैं और उसमें 'सिस्टर–इन–लॉ' अभिव्यक्ति के भीतर ननद, साली और भाभी जैसे हिंदी के कई संकेतार्थ मिलते हैं। पंडित जी के इस प्रकार के सार्थक विचार (यहाँ अनुवाद प्रक्रिया के संबंध में) जो उनके आलेखों में परोक्षतः बिने हुए हैं; की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता और हम पंडित जी के हवाले से यह कह पाने में चूकते चले जाते हैं कि उनके द्वारा संकेतित ये सभी तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हर भाषा अपने अनुभव संसार को कथ्य और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर अपने ढंग से व्यवस्थित करती है। जैसा कि प्रारंभ में ही निवेदन किया गया पंडित जी का सस्यूर के 'प्रतीक सिद्धांत' में पूर्ण विश्वास है। वे भी यह मानते हैं कि भाषा अपनी प्रकृति में प्रतीकों की व्यवस्था है।' उन्होंने भाषा की इस व्यवस्थागत विशेषता की संरचना पर भी इन शब्दों में अपनी राय दी है कि– *भाषा केवल प्रतीकों का जमघट नहीं है और न ही वह इनकी कड़ी है। वह तो भाषिक प्रतीकों की सार्थक व्यवस्था है, उनकी एक व्यवस्थित कड़ी है।*

(5)

भाषा शिक्षण से संबंधित पंडित जी का केवल एक आलेख 'भाषा शिक्षा में व्याकरण की भूमिका' हमें मिलता है। इस आलेख में उन्होंने अन्य भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पर अपने विचार तो रखें ही हैं, अमरीकी विश्वविद्यालयों में चल रहे हिंदी–शिक्षण कार्यक्रमों की समीक्षा भी की है (अपने अमरीका प्रवास के अनुभव के आधार पर) और इसी क्रम में उन्होंने अपने एक आलेख 'भाषा, साहित्य और भाषाविज्ञान का शिक्षण' में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं जिनका सीधा संबंध मातृभाषा /अन्य भाषा शिक्षण से भी जोड़ा जा सकता है।

पंडित जी ने अपनी विचार सरणि का आरंभ इस वाक्य से किया है कि *अमरीका में भाषा–शिक्षण के प्रत्यक्ष तरीके पर बल है। (जिसमें) एक तरह की रचनाओं को आमने–सामने रखकर उसे बार–बार दुहराकर (अभिरचना अभ्यासः पैटर्न प्रैक्टिस द्वारा) एक सामान्य व्यवस्था का नियमन कराया जाता है।* इस प्रत्यक्ष–विधि (डायरेक्ट मेथड) के संदर्भ में उन्होंने हिंदी वाक्यों के थोड़े–से उदाहरण देकर उनकी व्याकरणिक गुत्थी भी सुलझाई है। उन्हीं के शब्दों में – *राम ने रोटी खाई, सीता ने रोटी खाई, लड़कों ने रोटी खाई, लड़कियों ने रोटी खाई – इससे यह निगमित है कि 'ने' वाक्यों में 'ने' के पूर्ववर्ती खंड के लिंग–वचन का कोई प्रभाव क्रिया खंड पर नहीं पड़ता।* फिर उन्होंने 'राम ने रोटी खाई' और 'राम ने रोटियाँ खाईं' का उदाहरण देकर इस अभिरचना अभ्यास का यह अभिप्रेत बताया कि *'ने' वाक्यों में क्रिया के लिंग वचन का समनुहार कर्म के लिंग वचन के साथ है।*

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि (अन्य) भाषा–शिक्षण विधि के ऐतिहासिक क्रम में व्याकरण विधि (ग्रामर मेथड) तथा व्याकरण–अनुवाद विधि (ग्रामर–ट्रांसलेशन मेथड) की किस सीमा तक स्वीकार्यता थी। व्याकरण विधि यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से ही प्रचलित थी (लैटिन भाषा के शिक्षण के समय से) फिर जिसमें आधुनिक भाषाओं

की पाठ्यपुस्तकों में भी व्याकरण के अमूर्त नियमों पर टिप्पणियाँ, शब्द–सूची और अनुवाद के लिए वाक्य भरे रहते थे। अन्य भाषा को 'बोलना', सीखना–सिखाना इस प्रविधि का लक्ष्य नहीं था। यही इसकी सबसे बड़ी सीमा थी। 'व्याकरण–अनुवाद' विधि की सीमा यह थी कि यह द्वितीय भाषा अधिगम में प्रथम भाषा को संदर्भ–व्यवस्था के रूप में रखने–देखने वाली थी। इसकी उल्लेखनीय सीमा यह भी थी कि इसमें चारों भाषा कौशलों में से वाचन और लेखन पर सर्वाधिक तथा उच्चारण और श्रवण पर बहुत ही कम या नहीं के बराबर बल दिया जाता था। फिर भी यूरोप में यह 'विधि' सौ वर्षों (1840–1940) तक छाई रही। 19वीं शताब्दी के मध्य में भाषाविज्ञान को मिली व्यापकता तथा भाषा–संपर्क और संप्रेषण के सैद्धांतिक विस्तार के कारण 'वार्तालाप' का महत्त्व पहचाना जाने लगा था और तब भाषा–शिक्षण की ऐसी विधि सामने आई जो भाषा–व्यवहार पर आधारित थी और जिसे 'प्रत्यक्ष विधि' नाम दिया गया (पंडित जी ने इसे ही प्रत्यक्ष तरीका कहा है) जिसमें आधुनिक भाषाओं के शिक्षण को परिष्कृत करने के लिए कई बातों पर बल दिया गया था जिनमें से ये तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं – (1) बोली जाने वाली भाषा का अध्ययन–अध्यापन हो, (2) वार्तालाप पाठों का प्रयोग किया जाए और संवादों पर बल दिया जाए ताकि शिक्षार्थी बातचीत की अभिव्यक्ति और जीवंत मुहावरों का प्रयोग कर सके तथा (3) नए मदों और अर्थों को भाषा 2 से ही जोड़कर सिखाया जाए न कि भाषा 1 से।

यह देख पाना कठिन नहीं है कि पं. विद्यानिवास मिश्र का संपूर्ण भाषा–चिंतन बोली जाने वाली भाषा के महत्त्व और उसकी भूमिका पर केंद्रित रहा है। इतना ही नहीं वे सामान्य भाषा (बोलचाल की) के दो प्रायोगिक भेदों की चर्चा करते हुए अमरीकी भाषाविदों की सामान्य भाषा संबंधी सीमाओं को भी यह कहते हुए रेखांकित करते हैं कि *अमरीकी भाषाशास्त्री जन सामान्य की भाषा और भाषा के सामान्य रूप में अंतर करना जरूरी नहीं समझता रहा है, जन–सामान्य की भाषा, भाषा का सामान्य रूप नहीं होता। प्रायः वह उस सामान्य रूप का एक उपमानक रूप होती है। सामान्य वह है जो अधिक सार्वत्रिक हो।* अपनी इसी मान्यता के चलते वे अन्य भाषा (द्वितीय और विदेशी) के रूप में हिंदी शिक्षण में सामान्य हिंदी को अपनाए जाने के समर्थक हैं और इस स्तर पर व्याकरणिक और व्यावहारिक हिंदी का भेद बताते हुए लिखते हैं कि 'हिंदी भाषा के शिक्षण में 8 कारकों या 16 विभक्तियों की चर्चा बिल्कुल बेमानी है। (सामान्य) हिंदी की रचना का सही वस्तुपरक विश्लेषण यही है कि हिंदी में दो विभक्तियाँ हैं – ऋजु और वक्र (कुछ लोग अविकारी और विकारी संज्ञा भी इन्हें बताते हैं)।' इसी प्रकार हिंदी भाषा की क्रिया रचना (या वाक्य प्रकार) के संबंध में भाषा–शिक्षण की दृष्टि से उनकी मान्यता है कि *हिंदी क्रिया–रचना बहुत ही सीधी–सादी है। धातु (जा), धातु के साथ भूतकालिक (गया) या वर्तमानकालिक कृदंत (जाता), धातु के साथ तिङ्त प्रत्यय (जाए) और इस निष्पन्न रूप के साथ भविष्यतकालिक कृदंत (जाएगा) – कुल ये चार संभावनाएँ मूल क्रिया रचना की हैं।* मैं देश–विदेश में

अन्य भाषा के हिंदी शिक्षण के रूप में अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि पंडित जी के इस तरह के विचारों ने शिक्षण–प्रक्रिया को उद्‌देश्य बाधित बना पाने में मेरी बहुत मदद की है। इसी तरह उनके यह कहने का कि 'रहना, चुकना, सकना आदि सहायक क्रियाएँ वृत्तियों (मूड या मोड) की बोधक हैं' का अथवा उनके द्वारा अनुमोदित न, नहीं, मत, उड़ना–उड़ाना, सक, चुक, पा और चाहना–चाहिए का शैक्षणिक दृष्टि से अपना महत्त्व है।

पंडित जी के हिंदी मात्रा संबंधी ये विचार अन्य भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के संदर्भ में आए हैं। कहना न होगा कि प्रत्यक्ष विधि के बाद (अन्य) भाषा शिक्षण की संप्रेषणपरक विधि (कम्यूनिकेटिव मेथड) को जो विकास मिला उसमें उक्त प्रकार के भाषा–प्रकरणों पर बल देने की बात कही गई क्योंकि अब यह माना जाने लगा था कि भाषा–अर्जन (लैंग्वेज लर्निंग) संप्रेषण के माध्यम से ही होता है और मैं अपनी बात भी यहाँ जोड़ दूँ कि भाषा की संप्रेषणीयता को पंडित जी वाले 'मॉडल' के अनुरूप ढाल–ढालकर धार दी जा सकती है, भाषा–शिक्षण के दौरान भाषा–अर्जन को स्वाभाविक और समाजनिष्ठ बनाया जा सकता है।

पंडित जी के आलेख में व्यक्त विचार यह जताते हैं कि नव्य भाषा–चिंतन की वैज्ञानिक दृष्टि के कारण आज भाषा–शिक्षण की प्रविधियों में क्या–क्या अंतर आए और इस दृष्टि से हिंदी भाषा–शिक्षण की प्रक्रिया को किस रूप में ढाला जाना चाहिए। पंडित जी ने इस संदर्भ में बोली जाने वाली भाषा (सामान्य भाषा) को ही भाषा माना है तथा लिखित भाषा को गौण स्थान दिया है। पंडित जी का यह आलेख भाषा–यथार्थ के इन बिंदुओं को बड़ी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करनेवाला है कि – *भाषा बोली जाती है, भाषा एक आदत है जो धीरे–धीरे बन जाती है, भाषा वह है जिसे उसे बोलने वाले बोलें, न कि जैसा उन्हें बोलना चाहिए, एक भाषा दूसरी भाषा से बिल्कुल भिन्न होती है।* पंडित जी का यह छोटा–सा निबंध भाषा–शिक्षण (हिंदी) के सहज और सरल बनते जाने की कहानी तो कहता ही है, यह भी प्रतिपादित कर देता है कि भाषा मानव जीवन का एक जीता जागता व्यापार है बल्कि व्यापारों का व्यापार है। और अन्य भाषा शिक्षण की प्रविधि में 'व्यापार' के इसी रूप का शिक्षण–अर्जन की प्रक्रिया में चरम उद्‌देश्य होना चाहिए। संक्षेप में कहें तो पंडित जी ने सिद्‌धांत, विवरण और शिक्षण तीनों को सूत्रवत रूप में इस आलेख में पिरो दिया है। साथ ही भाषा–शिक्षण को शिक्षार्थी केंद्रित मानते हुए उसके उद्‌देश्य, प्रयोजन, विधि और तकनीक संबंधी सिद्‌धांतों का संकेत भी उन्होंने दे दिया है। इस प्रकार उनका यह आलेख 'गागर में सागर' भरने वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाला है जिसमें भाषिक अर्जन युक्ति (लैंग्वेज एक्वीज़िशन डिवाइसेज), भाषिक क्षमता (लैंग्वेज कांपिटेंस) और भाषिक दक्षता (लैंग्वेज प्रोफिशिएंसी) की नव्य–भाषावैज्ञानिक संकल्पनाओं के संकेत भी हमें मिल जाते हैं।

(6)

पंडित जी के कतिपय आलेखों में व्यक्त विचारों को यदि समग्रता में देखा जाए तो इनमें भारतीय संदर्भ में भाषा, समाज और संस्कृति के अंतःसंबंधों का विवेचन तो मिलता ही है, नव्य भाषा–चिंतन में धुरी की तरह अवस्थित भाषा अध्ययन के दो प्रमुख क्षेत्रों – समाजभाषाविज्ञान (सोशियोलिंग्विस्टिक्स) तथा भाषा का समाजशास्त्र (सोशियॉलजी ऑफ लैंग्वेज) की लगभग सभी अवधारणाओं पर विचार भी मिलता है। पंडित जी के भाषावैज्ञानिक की यह विशेषता है कि वह नव्य भाषा–चिंतन संबंधी इन संकल्पनाओं का सार ग्रहण करके इन्हें संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत करता है कि इनकी मूल वैचारिकता को आसानी से पकड़ा जा सकता है। इस आलेख में एक–एक करके इन पर संक्षिप्त टिप्पणी की जाएगी। मैं समझता हूँ कि इनमें से हर एक पर स्वतंत्र लेख लिखे जा सकते हैं, लिखे जाने चाहिए।

बात भाषा और संस्कृति के अंतःसंबध से शुरू की जाए। सर्वप्रथम यह जान लिया जाए कि नव्य भाषा–चिंतक डेल हाइम्स (लैंग्वेज इन कल्चर एंड सोसायटीः ए रीडर इन लिंग्विस्टिक्स एंड एंथ्रोपॉलॉजीः 1964) ने पहले–पहल एक व्यापक फलक पर रखकर भाषा और संस्कृति के बीच के गहरे संबंध की व्याख्या की थी। उनके मतानुसार ये दोनों इतने गहरे संबद्ध होते हैं कि एक के बिना दूसरे को समझ पाना संभव नहीं है। उनका यह कहना भी सारगर्भित है कि भाषा में कई उक्तियाँ (अटरेंसेज़) ऐसी होती हैं जो सांस्कृतिक संदर्भ में ही अपना अर्थ दे पाती हैं। यहीं यह भी कहते चलना चाहिए कि अपने भाषा–चिंतन में पंडित जी ने हिंदी भाषा के संदर्भ में 'सामाजिक अर्थ' के साथ–साथ सांस्कृतिक और मिथकीय अर्थ की चर्चा अत्यंत वैज्ञानिक ढ़ंग से की है। डेल हाइम्स ने यह भी कहा है कि 'भाषा में निहित सांस्कृतिक तत्त्व ही उसके प्रयोक्ता को अलग पहचान देते हैं। अतः भाषा–अध्ययन में हमें 'भाषा में संस्कृति' की संकल्पना की अनदेखी नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक भाषा संस्कृतिबद्ध होती है और उसका हर प्रयोक्ता सांस्कृतिक होता है।'

इन्हीं मूल बिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में अब पंडित जी के संबद्ध विचारों का आकलन किया जाए। पंडित जी ने इन दोनों (भाषा और संस्कृति) को एक व्यापक आधार देते हुए लिखा है जो डेल हाइम्स की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने वाला है कि 'भाषा, परंपरा और संस्कृति तीनों प्रक्रियाएँ हैं।' और इसका कारण बताते हुए लिखा है कि *तीनों में अविच्छिन्नता है, निरंतरता है; एकदम डगर छोड़ना तीनों के वश के बाहर की बात है पर एकरस न रह पाना भी तीनों की विवशता है।* यहाँ हम परंपरा की चर्चा न करके भाषा और संस्कृति की ही बात करें तो पंडित जी यह कहना चाह रहे हैं कि ये दोनों विवरणात्मक संकल्पनाएँ है क्योंकि ये दोनों मानव परिवेश में स्वयं को अनुकूल बनाते चलने की प्रक्रिमा (सम्यता) से संबद्ध हैं। संभवतः इसीलिए पंडित जी ने इन्हें 'अद्भुत विरासत' कहा है 'जो पूरी बनी हुई नहीं मिलती, जो मिलती है वह बनने की प्रक्रिया की पहचान के रूप में।' अर्थात् भाषा, प्रथा, संस्कार तथा इन

तीनों में सिमटी शिष्टाचार, आचरण, धर्म, सदाचार जैसी संस्थाएँ किसी भी सभ्यता या समाज में युग–युगों को पार करके अपनी जगह बनाती हैं। पंडित जी ने भाषा और संस्कृति दोनों को गतिशील माना है। नव्य भाषा–चिंतन में भी यह तथ्य खोलकर सामने रखा गया है कि 'भाषा की बुनावट में सांस्कृतिक तत्त्वों से आबद्ध 'कोड' की सामाजिक व्याप्ति के संकेत बार–बार मिलते हैं।' हम ढूँढने चलें तो पंडित जी के भाषावैज्ञानिक लेखन में उक्त कथन की बहुविध व्याख्या हमें मिल सकती है। यहाँ बहुत विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है पर कुछ खास बिंदुओं पर समीचीन टिप्पणी करनी हो तो पहला बिंदु पंडित जी के चिंतन का यह है कि उन्होंने 'साहित्य' के संदर्भ को भाषिक और सांस्कृतिक दोनों ही स्तरों पर बहुत गहराई के साथ देखा–परखा है। उन्हीं के शब्दों में 'संस्कृति सबसे समर्थ रूप में साहित्य में अभिव्यंजित होती है। यह मानने का आधार यह है कि साहित्य भाषा में लिखा जाता है और भाषा समस्त समाज–सांस्कृतिक व्यवहारों का निचोड़ है।' यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पंडित जी के इस कथन के पीछे उनके संस्कृति कर्मी, साहित्य मर्मी और भाषा–चेता मेधा का सार निहित है। इस संदर्भ में उनका यह कहना इस बात का स्वतः प्रमाण है कि 'भाषा और संस्कृति के गहन तत्त्व सबको नहीं मिलते, यह बहुत मंजने वाले को मिलता है। बहुत गहराई में जो जाता है उसे मिलता है। जो सतह से संतुष्ट हो जाते हैं उनको नहीं मिलता।' दूसरे बिंदु पर उन्होंने यह स्थापित किया है कि दोनों की गहराई को पकड़ पाने के लिए गहरे आत्मंथन (गहन विश्लेषण) की आवश्यकता पड़ती है – 'भाषा जिस प्रकार के आत्ममंथन की माँग करती है, उसी प्रकार के आत्ममंथन की आवश्यकता संस्कृति को होती है।' इसी क्रम में तीसरा बिंदु यह है कि 'संस्कृति अपना सार तत्त्व भाषा को दे देती है।' ऐसे–वैसे नहीं दे देती, उनके अनुसार 'संस्कृति अपनी धरोहर भाषा को सबसे प्यार से सौंपती है।' चौथा बिंदु पुनः भाषा, साहित्य और संस्कृति के अंतःसंबंधों की ओर लौटते हुए उनकी एक नई उद्भावना को सामने लाती है कि *यह प्यार से सौंपने का रिश्ता साहित्य के माध्यम से भाषा को मिलता है। और फिर भाषा और संस्कृति के घनिष्ठ संबंध को स्थापित करने वाला पाँचवा बिंदु हमें स्वतः पारदर्शी रूप में दिखाई पड़ने लगता है कि 'भाषा के बिना न तो संस्कृति के बारे में सोचा जा सकता है और न संस्कृति के बिना भाषा के बारे में सोचा जा सकता है।' क्योंकि '(संस्कृति की) बहुत–सी तहें भाषा में सुरक्षित रहती हैं।* जिनकी व्याख्या कहीं और नहीं मिलती उसकी व्याख्या भाषा में मिलती है, व्याकरण में मिलती है, उसकी अर्थ कोटियों में मिलती है, उसके शब्दों में मिलती है, उसके शब्द–समूहों में मिलती है।

पंडित जी के समग्र भाषा–चिंतन (भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों) में भाषा (हिंदी) के समाज–सांस्कृतिक संदर्भों की झड़ी लगी हुई है। यह तो हम जानते ही हैं कि हिंदी भाषा की संस्कृति में लोक–बोलियों के अवदान पर पंडित जी ने भाषा और साहित्य इन दोनों को आधार बनाकर सहज और व्यापक विचार–विमर्श किया है।

उन्होंने यह भी माना है कि मुस्लिम संस्कृति का भी हिंदी भाषा के विकास में बड़ा योगदान है। भाषा में सांस्कृतिक तत्त्वों के समायोजन पर उन्होंने विश्लेषणीय ढ़ंग से विचार किया है। इस धरातल पर वे विनम्रता, संबोधन, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का संदर्भ लेते हुए हिंदी भाषा में सांस्कृतिक अंतर्निविष्टि (कल्चरल इनसर्शन) तो दिखाते ही हैं, नाते–रिश्ते के शब्दों, रंग–शब्दों, अभिवादन, सर्वनाम प्रयोग आदि को ही नहीं अंग–विक्षेप और भंगिमा आदि को भी समाविष्ट करके यह सिद्ध करते चलते हैं कि हिंदी भाषा तथा हिंदी भाषा समुदाय के साथ जुड़े आचरण में हिंदी भाषा समाज के सांस्कृतिक तत्त्व स्वभावतः अंतर्भुक्त होते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पंडित जी ने मध्यकालीन और आधुनिक हिंदी साहित्य के भाषिक विधान में सांस्कृतिक मूलाधारों की पाठगत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार के पाठ–विश्लेषण में उन्होंने लोक–संस्कृति, मिथक प्रयोग और सांस्कृतिक अर्थ कोटियों को सूक्ष्मता और कुशलता के साथ पिरोया है। आर्थी–अभिव्यंजना में इनके महत्त्व को पहचाना है। भाषा, साहित्य और संस्कृति पर पंडित जी के विस्तीर्ण और मूल्यवान विचारों पर आज नव्य भाषा–चिंतन के परिप्रेक्ष्य में गंभीरता से विचार–विमर्श करने की महती आवश्यकता है। ऐसा मैं मानता हूँ।

(7)

पंडित विद्यानिवास मिश्र का भाषा–चिंतन नव्य भाषा–चिंतन की समस्त अवधारणाओं का उनके किसी–न–किसी बिंदु पर स्पर्श करनेवाला है। यह जरूर है कि वे इन अवधारणाओं पर कोई पूरा लेख या सर्वांगीण पुस्तक नहीं लिख सके पर मुझे यह कहते हुए गौरव का अनुभव होता है (एक गुरु के रूप में) कि उनके द्वारा लिखा पढ़कर ही हमने यह जाना कि आधुनिक भाषा–चिंतन के मूल तत्त्व क्या हैं, इन तत्त्वों के 'समानांतर' (विशेषकर हिंदी भाषा–समुदाय की दृष्टि से) इन तत्त्वों का किस प्रकार अनुप्रयोगात्मक ढंग से उपयोग किया जा सकता है। विभिन्न निबंधों में यत्र–तत्र बिखरे उनके ये विचार मूलतः समाजभाषाविज्ञान और भाषा का समाजशास्त्र की कतिपय संकल्पनाओं से संबद्ध हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि नव्य भाषा–चिंतन में समाजभाषाविज्ञान को ही वास्तविक भाषाविज्ञान मानकर भाषा–अध्ययन की दिशाएँ तय की गई हैं। भाषाविज्ञान की इन दोनों धाराओं से सन्नद्ध होने के कारण ही पंडित जी ने भाषा–विश्लेषण के एकाधिक प्रसंगों में और अलग–अलग शब्दों में यह कहा है कि 'भाषा केवल व्याकरणिक संरचना में बँधी नहीं होती। जब समाज में भाषा का व्यवहार होता है तो वह व्याकरणिक बंधनों को तोड़ती भी है। अतः जिस समाज में हम रहते हैं उसके नियमों एवं मान्यताओं के अनुरूप ही हम भाषा का प्रयोग करते हैं, न कि अपनी मातृभाषा के व्याकरणिक नियमों के अनुरूप।' अपने इसी (समाज) भाषावैज्ञानिक विचार को आगे बढ़ाते हुए वे यह भी लिखते हैं कि 'भाषा न तो मात्र शब्दों का समूह है और न ही शुद्ध व्याकरण की व्यवस्था। भाषा का मूल प्रयोजन और संदर्भ संप्रेषण–व्यापार है जहाँ वह अपनी संरचनात्मक सीमाओं का अतिक्रमण भी

करती है।' समाजभाषाविज्ञान की यह विशेष मान्यता कि 'समाजसंदर्भित रूप में भाषा की प्रकृति एकरूपी नहीं वैविध्यपूर्ण होती है।' इसीलिए पंडित जी भाषा के अति मानकीकरण की प्रवृत्ति की जमकर आलोचना करते हैं तथा भाषा वैविध्य को भाषा की जीवंत एवं स्वाभाविक प्रक्रिया स्वीकारते हुए लिखते हैं कि 'मानकीकरण का अतिरेक भाषा के विकास में अवरोधक होता है। (ऐसे में) वह गतिशील नहीं रहती, नियमों के अनुशासन में ढर्रा बनकर रह जाती है।'

कहना न होगा कि पंडित जी के उक्त सभी भाषिक विचारों में 'समाजभाषाविज्ञान' की संकल्पनाओं का सार निहित है। समाजभाषाविज्ञान की यह प्रमुख मान्यता है कि 'भाषा और समाज के बीच गहरा और अटूट संबंध होता है।' पंडित जी का भाषा–चिंतन इसी सूत्र वाक्य से सर्वत्र बँधा हुआ है। इस सूत्र की सार्थक व्याख्या करते हुए उन्होंने अपना मत इन शब्दों में प्रतिपादित किया है कि 'समाज ने और सामाजिक परिवर्तनों ने भाषा को प्रभावित किया, सामाजिक गतिशीलता के दबाव में भाषा में तेजी से बदलाव आता रहा, सामाजिक ठहराव में भाषा भी ठहरी रही। पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि भाषा समाज से निरपेक्ष होकर जी सके या समाज भाषाहीन होकर रह सके।' पंडित जी के इस कथन की और भी गहराई में प्रवेश किया जाए तो इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भाषा और समाज का सीधा संबंध मनुष्य से होता है अतः भाषा–अध्ययन में दोनों (भाषा और समाज) एक–दूसरे के संदर्भ बन जाते हैं। भाषा–विश्लेषण के लिए उन्होंने 'परिवेश' और 'प्रयोजन' को सदैव केंद्र में रखा है और सोदाहरण यह व्याख्यायित किया है कि जिस समाज (परिवेश) में हम रहते हैं उसकी व्यवस्था, उसके जीवन–मूल्य, उसकी संस्कृति और उसके लोग, या कहें सामाजिक संरचना के अनुरूप ही कोई भाषा अपना व्यावहारिक या समाज–संदर्भित आकार ग्रहण करती है। पंडित जी के इन (समाज) भाषावैज्ञानिक विचारों के तुलनीय रखकर रवींद्रनाथ श्रीवास्तव (1983) के इस कथन को भी संदर्भ के रूप में देखा जा सकता है, 'भाषा एक ओर 'सामाजिक वस्तु' है और दूसरी ओर अपनी प्रकृति में वह सतत् परिवर्तनशील और गत्यात्मक है। 'भाषा व्यवहार' अपने व्यक्त रूप में मानव संबंधों की तरह बहुरूपी और व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तरह वैविध्यपूर्ण और विषमरूपी होती है।'

छिटपुट ढंग से ही सही, पर पंडित जी ने समाजभाषावैज्ञानिक मूल स्थापनाओं के सहारे भाषा, समाज और संस्कृति को समन्वित करके देखने का यत्न किया है। उनके ये विचार चाहे यहाँ–वहाँ बिखरे हुए हों पर यदि इन्हें एक उचित क्रम देकर समझने की कोशिश की जाए तो उनके इन विचारों की एक समन्वित तस्वीर बनाई जा सकती है और जिनसे यह स्वर निःसृत होते हुए सुना जा सकता है कि – कोई भी भाषा–समाज स्तरीकृत होता है, अतः भिन्न–भिन्न सामाजिक स्तरों पर भाषा प्रयोग के स्तर भी भिन्न–भिन्न होते हैं। पंडित जी के इन विचारों में यह भी संगुंफित है कि श्रोता के साथ हमारा सामाजिक संबंध (सोशल रिलेशनशिप) भी हमारे भाषा व्यवहार में

विविधता ले आता है और यह भी कि अपने सामाजिक संदर्भ में कोई भी मानव भाषा समरूपी (होमोजेनस) नहीं, विषमरूपी (हेटरोजेनस) होती है।

(8)

इसमें संदेह नहीं कि देश–विदेश में हो रहे नव्य भाषा– चिंतन पर पंडित जी की दृष्टि सदैव जमकर टिकी रही। वे भाषाविज्ञान की नई–नई संकल्पनाओं और उद्भावनाओं का गहन अध्ययन करते रहे और उन्हें अपने लेखन में कहीं–न–कहीं स्थान भी देते रहे। इसे हिंदी जगत की विडंबना ही कहा जाएगा कि उनके नव्य भाषा–चिंतन से संबंधित सूत्रों की हम न तो व्याख्या कर पाए और न ही उनकी प्रासंगिकता अथवा विशिष्टता को उजागर कर सके। हमारा ध्यान साहित्य के बाह्य प्रसंगों पर ही अधिक टिका रहा है। भाषा–संबंधी कार्यों की ओर या तो हम पीठ किए बैठे हैं या उसकी अवहेलना करते हैं। पंडित जी ने इस नकारात्मक प्रवृत्ति को समझते हुए इस यथार्थ को इन शब्दों में व्यक्त भी किया है कि – *भाषाविज्ञान पश्चिम में चाहे भाषा की सर्जनशीलता और सामाजिक संप्रेष्यता के लिए चिंतित हो, पर हमारे यहाँ भाषाविज्ञान और साहित्य ने एक–दूसरे से एकदम मुँह फेर लिया है*। स्वाभाविक है कि पंडित जी के इस कथन को पढ़कर मुझे रोमन याकोब्सन (1960: लिंग्विस्टिक एंड पोएटिक्स) के लेख की इस टिप्पणी का ध्यान आ गया है कि – *भाषा के काव्य–फलन के प्रति बधिर भाषावैज्ञानिक और भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं*।

इस आलेख में बहुत विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है पर नव्य भाषा–चिंतन की कुछ अवधारणाओं पर पंडित जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनको एक–दो उद्धरणों के साथ संक्षेप में यहाँ देने का यत्न कर रहा हूँ ताकि उनकी आधुनिक भाषावैज्ञानिक सोच का आभास हमें मिल सके।

(1) **पिजिन और क्रियोल**: ये दोनों संकल्पनाएँ भाषा–संपर्क (लैंग्वेज कॉन्टैक्ट) की अवधारणा के परिणामस्वरूप ही आधुनिक भाषाविज्ञान में आई हैं। इन दोनों संकल्पनाओं में से एक 'पिजिन' के बारे में नव्य भाषा–चिंतकों ने यह माना है कि जब किसी भाषा–समुदाय की प्रकृति बहुभाषिक होती है और एक से अधिक भाषा–समुदाय लंबे अरसे तक एक साथ रहने लगते हैं तब पिजिन भाषा रूप के निर्माण की स्थिति पैदा होती है। ऐसे में ये समुदाय किसी सहज और परस्पर संप्रेषणीय भाषा रूप की जरूरत महसूस करने लगते हैं। इसकी पूर्ति के लिए वे अपनी–अपनी भाषाओं की परिशुद्धता का मोह त्यागकर 'पिजिन' (सामान्य भाषा रूप) के निर्माण की ओर उद्यत होते हैं और अपनी–अपनी भाषा के सरल तत्त्वों का अवमिश्रण करके इस भाषा–रूप को जन्म देते हैं जिसका बिना किसी बंधन या कठिनाई के दोनों प्रयोग कर सकें। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक हॉल (1966) का यह कथन इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि *आपसी संपर्क में आनेवाले समुदाय जब एक–दूसरे की भाषा सीखने या उसमें*

अभिव्यक्ति क्षमता हासिल करने में असमर्थता महसूस करते है तब उन्हें पिजिन रूप की आवश्यकता पड़ती है।

हिंदी के संदर्भ में देखा जाए तो हमें हिंदी+मराठी+भोजपुरी के सरल भाषिक तत्त्वों से अवमिश्रित बंबइया हिंदी, हिंदी+तेलुगु+दक्खिनी के मेल से निर्मित हैदराबादी हिंदी और हिंदी+बंगला+भोजपुरी के अवमिश्रण से निर्मित कलकतिया हिंदी पिजिन रूप मिल जाते हैं। नव्य भाषा–चिंतन में 'क्रियोल' को पिजिन का स्थिर रूप कहा गया है, अर्थात पिजिन बोलने वाले जब दो–तीन पीढ़ी बाद अपनी मातृभाषा को छोड़कर पिजिन को ही अपनी मातृभाषा स्वीकार कर लेते हैं और पिजिन का प्रयोग–क्षेत्र विस्तार पाने लगता है तो कोई 'पिजिन', 'क्रियोल' बन जाता है। बंबइया हिंदी को हम क्रियोल का उदाहरण मान सकते है जिसमें 'मुर्दाघर' (जगदंबा प्रसार दीक्षित) जैसा उपन्यास भी लिखा गया है और हिंदी फिल्मों में कुछ खास वर्ग और पेशे से संबद्ध पात्र इस 'भाषा रूप' का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं।

पंडित जी की टिप्पणीः भाषा और सामाजिक जीवन में परस्पर पूरक संबंध है। भाषा संपर्क की बात की जाए कि एक दूर जंगल में कारखाना स्थापित होता है, उसमें विभिन्न भाषा–भाषी भर्ती होते हैं और फिर उस कारखाने में सर्वजन व्यवहार के लिए एक भाषा गृहीत हो जाती है। कभी–कभी उसमें सभी भाषाओं के कुछ शब्द, कुछ रूप भी आ जाते हैं और कभी–कभी इस प्रकार के संघात से एक नई बोली जन्म लेती है, जो 'पिजिन' होती है और आगे चलकर 'क्रियोल'।

(2) **भाषा अनुरक्षण और भाषा विस्थापनः** इन दोनों संकल्पनाओं पर तथा विश्व भाषा–समुदायों में इनकी परिणति पर नव्य भाषा–चिंतकों ने गंभीरता से विमर्श किया है। यहाँ पहले यह समझ लिया जाए कि किसी अन्य भाषा–समुदाय के बीच रहकर सामाजिक दबाव की अधिकता या कमी के कारण भाषा अनुरक्षण (मेंटेनेंस) और भाषा परिवर्तन (शिफ्ट) की स्थिति पैदा होती है। यह तो विश्व का भाषिक यथार्थ है कि भाषा–संपर्क और आप्रवास (माइग्रेशन) के चलते दो या दो से अधिक भाषा–समुदायों के साथ–साथ रहने की संभावना बढ़ती जा रही है। ऐसे में दो भाषाओं में से कोई एक भाषा सामाजिक धरातल पर दूसरी की तुलना में अधिक शक्तिशाली या सुविधा–संपन्न होती है। इस दृष्टि से संपर्क में आनेवाली दोनों भाषाओं को क्रमशः अधिशासी (डॉमिनेंट) और अधिशासित (सेकेंडरी) भाषा कहा गया है। पंडित जी ने इन दोनों स्थितियों के लिए क्रमशः ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी शब्द का प्रयोग किया है। भारतीय भाषा परिदृश्य या भारतीय बहुभाषिक स्थिति का अध्ययन करने वाले अधिकांश भाषाविद् यह मानते हैं कि पाश्चात्य देशों में 'भाषा–परिवर्तन' एक नियम बन चुका है क्योंकि इन देशों में बसे अल्पसंख्यक या अधिशासित मूलतः विस्थापित हैं। भारत में 'शिफ्ट' की स्थिति अपवाद रूप में ही कहीं–कहीं दिख पाती है। इसका एक कारण यह है कि भारतीय बहुभाषिकता सामंजस्य के साथ पनपती है अतः बहुभाषी प्रयोक्ता अपनी मातृभाषा से 'पूर्ण शिफ्ट' कभी नहीं करता। कुछ प्रयोग क्षेत्रों में वह 'डॉमिनेंट'

भाषा को अपनाता अवश्य है पर उसका एक पैर अपनी मातृभाषा की जमीन पर बराबर टिका रहता है। और दूसरा यह कि भारतीय भाषी इतर भाषा क्षेत्र में रहते हुए भी 'संस्कृति अनुरक्षण' के प्रति अतिरिक्त सजग होते हैं।

पंडित जी की टिप्पणीः कभी–कभी आदमी एक साथ दो–दो समाजों के साथ अपनी अस्मिता जोड़े रहता है और जब वे दो समाज समानांतर नहीं चल पाते तो एक बड़ा वृत्त बनता है, दूसरा छोटा, छोटा वाला धीरे–धीरे और छोटा होता जाता है। एक समय आता है, जब वह एकदम बड़े वृत्त में विलीन हो जाता है। उदाहरण के लिए भारत में टोडा जनजाति की भाषा लुप्त होती जा रही है। इस जनजाति के लोग टोडाभाषी नहीं रह पा रहे हैं, वे मात्र कन्नड भाषी होते जा रहे हैं।

(3) **भाषाई अस्मिताः** भारतीय भाषा–समाज के संदर्भ में भाषाई और सामाजिक अस्मिता से संबद्ध प्रश्न बहुत ज्वलंत बने रहे हैं। नव्य भाषा–चिंतकों ने भी इसे भाषाई, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान (आइडेंटिटी) के लिए प्रमुख विचार–क्षेत्र के रूप में अपनाया। यह एक व्यापक विचार–क्षेत्र है क्योंकि इसके अंतर्गत व्यक्ति से लेकर भाषा, समाज और संस्कृति तक प्रत्येक से संबद्ध अस्मिता के प्रश्न आ जुड़ते हैं। केवल भाषाई अस्मिता की ही बात करें तो वह भाषा–समुदाय की सामाजिक अस्मिता का एक सशक्त माध्यम है। हमारी भावना, चिंतन और जीवन दृष्टि से जुड़कर हमें बृहत्तर समाज से और क्रमशः पूरे राष्ट्र से जोड़ती–बाँधती है। हिंदी भाषा–समुदाय को मोटे तौर पर भी देखें तो एक स्तर उसका स्थानीय बोलियों के साथ संबद्ध है, दूसरा सामाजिक संघटना के अवयवों से तथा तीसरा राष्ट्रीय संदर्भ से। कहना न होगा कि इन्हीं से जुड़कर हिंदी भाषा की स्थानीय (लोकल) अस्मिता ने, सामाजिक अस्मिता ने और राष्ट्रीय अस्मिता ने अपना अस्तित्त्व ग्रहण किया है। भारतीय भाषाविदों का तो यहाँ तक मानना है कि भारतीय भाषाओं (विशेषकर हिंदी भाषा) के संदर्भ में स्थानीय और सामाजिक अस्मिता के संयोग से ही 'राष्ट्रीय अस्मिता' अपना रूपाकार ग्रहण करती है। पंडित जी के दो आलेख इस अवधारणा पर उपलब्ध हैं – 'भाषा, अस्मिता और राष्ट्रीयताः भारतीय संदर्भ' तथा 'भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता'। इनमें 'भाषाई अस्मिता' के संदर्भ को हिंदी भाषा की अस्मिता पर केंद्रित करके देखा गया है।

पंडित जी की टिप्पणीः बिहार का बालक मातृभाषा के रूप में भोजपुरी भाषा की संपत्ति अर्जित करने के बाद भी श्रद्धा और मूल्यबोध से प्रेरित होकर हिंदी को प्राथमिक भाषा (सहयोजित मातृभाषाः श्रीवास्तव) के रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि भोजपुरी का प्रयोग उसके लिए एक सीमा के भीतर ही महत्त्व रखता है। गुजराती–भाषी के लिए अभी हिंदी गौण महत्त्व की भाषा है।... राष्ट्रीयता की व्यापक चेतना से संभव है आगे चलकर प्राथमिक महत्त्व हो जाए, पर उससे गुजराती ज्ञान में न कोई ह्रास आएगा, न गुजराजी के लिए उसका ममत्व ही कम होगा।

(9)

इस आलेख में पंडित जी के नव्य भाषा–चिंतन की जो बानगी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, उसका लक्ष्य यह प्रतिपादित करना है कि उनका (आधुनिक) भाषावैज्ञानिक अध्ययन अपने–आप में बहुआयामी भी है और महत्त्वपूर्ण भी। दुनिया के विभिन्न देशों और भारत के नव्य भाषा–चिंतन में भाषा–अध्ययन के दो पक्ष विस्तार से विवेचित मिलते हैं – रूपात्मक और प्रकार्यात्मक। इस आलेख में व्याख्यायित कुछ बिंदु यह साफ–साफ दर्शाते हैं कि पंडित जी के आधुनिक भाषावैज्ञानिक लेखन में समाहित रूपात्मक पक्ष (फॉर्मल ऐसपेक्ट) भाषा की प्रकृति को उसकी संरचना के आधार पर स्पष्ट करता है और प्रकार्यात्मक पक्ष (फंक्शनल ऐसपेक्ट) सामाजिक एवं वैयक्तिक संदर्भों में उसकी (भाषा की) विभिन्न भूमिकाओं पर प्रकाश डालता है। पहले पक्ष पर विचार करते हुए उन्होंने भाषा की (हिंदी भाषा की) संरचनात्मक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण किया है तथा दूसरे पक्ष को समेटते समय उनका भाषिक–चिंतन संप्रेषण–व्यापार में भाषा की विभिन्न भूमिकाओं को विवेचित करता चलता है। यही वजह है कि उनके भाषावैज्ञानिक लेखन में हमें एक ओर भाषा की संरचनात्मक बनावट का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है तो दूसरी ओर भाषा–व्यवहार (लैंग्वेज बिहेवियर) के धरातल पर वक्ता, संदेश, श्रोता और कोड को केंद्र में रखकर संप्रेषण–व्यवस्था (कम्यूनिकेटिव सिस्टम) पर गहन एवं उदाहरणपुष्ट चर्चा मिलती है।

पंडित जी के नव्य भाषा–चिंतन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि वह भाषा और समाज के बीच पाए जानेवाले हर प्रकार के संबंधों का अध्ययन–विश्लेषण करता है। संभवतः इसीलिए उनके इस फैले–बिखरे लेखन में हमें भाषाई समाज (लैंग्वेज सोसाइटी), भाषाई कोश (वर्बल रिपर्टॉयर), हिंदी भाषा–समुदाय का संदर्भ बार–बार उभरता हुआ दिखाई पड़ता है। इसी 'उभार' के चलते उनका यह 'चिंतन' इस ओर सर्वाधिक झुका हुआ है कि हिंदी भाषा–समाज के भाषा–प्रयोक्ता जिन–जिन भाषाओं, बोलियों और शैलियों का प्रयोग करते हैं उनके समुच्चय (भाषाई कोश के सेट) की संप्रेषणपरक भूमिका क्या है, कैसी है तथा संप्रेषण–सरणि (कम्यूनिकेटिव चैनल) के निर्माण और निर्धारण में ये काम कैसे करती है। इसी तथ्य को स्थापित करने के लिए पंडित जी के समग्र भाषावैज्ञानिक लेखन में हमें हिंदी–उर्दू, खड़ी बोली और अन्य क्षेत्रीय बोलियों यथा भोजपुरी, अवधी, ब्रज की तथा उच्च हिंदी (संस्कृतनिष्ठ), उच्च उर्दू (अरबी–फारसी निष्ठ) तथा हिंदुस्तानी (सामान्य/सहज हिंदी) की हिंदी भाषा–समाज में व्याप्ति और प्रयोजनीयता पर काफी–कुछ लिखा मिलता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उनका भाषा–चिंतन खड़ी बोली के आधार पर निर्मित मानक हिंदी की प्रकृति और प्रकार्य पर भी अपनी दृष्टि जमाए हुए है। कहना यह है कि उनके लेखन में हमें हिंदी के भाषाई कोश की पर्याप्त चर्चा मिलती है, जो मेरी दृष्टि में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिए मूल्यवान थाती है। संक्षेप में कहा जाए तो पंडित जी का नव्य भाषा–चिंतन रूप–प्रकार्य (फॉर्म एंड फंक्शन) युग्म में 'प्रकार्य' को

प्रमुख मानता है और यह भी कि भाषा उनके लिए सामाजिक प्रतीक है अतः अपने लेखन में वे जिस विश्लेषण–पद्धति को अपनाते हैं उसका आधार 'भाषिक विकल्पन' (लैंग्वेज वेरिएशन) है। उनके लिए भाषा विकल्प, भाषा व्यवहार की एक यथार्थता है।

सहायक ग्रंथ			
मूल ग्रंथ			
भाषा–चिंतन	2023	पं. विद्यानिवास मिश्र रचनावली (खंड 12)	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, (सं.)	1983	भाषाशास्त्र के सूत्रधार	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, (सं.)	1996	भाषाई अस्मिता और हिंदी	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
विद्यानिवास मिश्र	1993	आचार्य देवेंद्रनाथ शर्माः समष्टिमय व्यक्तित्व	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
दिलीप सिंह	2007	भाषा, साहित्य और संस्कृति शिक्षण	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
मंजुलता तिवारी	1996	आचार्य किशोरीदास वाजपेयी	उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
दिलीप सिंह	2008	भाषा का संसार	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
एन. ई. विश्वनाथ, अय्यर	1992	अनुवादः भाषाएँ–समस्याएँ	ज्ञान गंगाः दिल्ली
H.E. Palmer	1964	The Principles of Language Study	OUP, London
Frank, Palmer	1971	Grammar	Penguin Books, England
S. Pit Corder	1973	Introducing Applied Linguistics	Penguin Education, England

❑❑❑

संपर्क

दिलीप सिंह, निदेशक, लुप्तप्राय भाषा केंद्र, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, लालपुर, अनूपपुर (म.प्र.)–484887, ईमेलः profsinghdilip@gmail.com, मो. 8989105802

लोक तथा शास्त्र का समन्वय

अजयेन्द्रनाथ त्रिवेदी*

पं. विद्यानिवास मिश्र के साहित्य से परिचित सभी विज्ञजन जानते हैं कि वहाँ लोक तथा शास्त्र की अनुपुरकता तथा उनके समन्वय की चर्चा विविध प्रसंगों में विविध प्रकार से पाई जाती है। लोक तथा शास्त्र सामान्यतः विपरीतार्थक शब्द समझे जाते हैं। हमारी सामान्य बुद्धि भी लोक को वाचिक परंपरा तथा शास्त्र को लिखित परंपरा में देखती है। हमने प्रायः यही समझा है कि लोक अपढ़, निपट–निरक्षर जनसमूह की तथा शास्त्र विदग्धजनों की संपदा है। पं. विद्यानिवास मिश्र ने अपने प्रभूत लेखन के माध्यम से लोक तथा शास्त्र के इस द्वैध का प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने प्रमाण के साथ दिखलाया है कि भारत के विशेष संदर्भ में लोक तथा शास्त्र परस्पर पूरक रहे हैं तथा भारतीय मनीषा ने सदा ही इनका समन्वय किया है, हालाँकि इसके प्रति पाश्चात्य पंडित हमेशा ही द्वैत भाव रखते आए हैं।

लोक तथा शास्त्र के समन्वय के संबंध में पं. विद्यानिवास मिश्र के उद्गार मुख्यतः लोक के अर्थापकर्ष से उत्पन्न उनकी वेदना के उपजात हैं। लोक की पहचान शीर्षक निबंध में मिश्रजी कहते हैं '... लोक जिसे हमने अब उलटे अधिक संकुचित अर्थ दिया है – अशिक्षित, अर्धशिक्षित लोग; अंग्रेजी में फोक का पर्याय बनाकर उसे कुछ दयनीय बना दिया है। लोक का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है– जो कुछ दिखता है, इंद्रियगोचर है, प्रत्यक्ष है, सामने है। इसी से उसमें एक समकालीनता और प्रत्यक्ष विषयता का बोध होता है।' पं. विद्यानिवास मिश्र लोक के तीन अस्तित्व मानते हैं, भू–लोक, भुवः लोक तथा स्वः लोक। इसे वे क्रमशः क्रिया, इच्छा एवं ज्ञान के त्रिक् के साथ जोड़कर देखते हैं।

अपने अनेक भाषणों तथा निबंधों में पं. विद्यानिवास मिश्र ने जोर देकर कहा है– यद्यपि *शुद्धं लोक विरुद्धं, न हि करणीयं न हि करणीयम्।* यह श्लोक लोक तथा शास्त्र की समझ के संदर्भ में पंडित मिश्र का घोषवाक्य है। प्रस्तुत विषय को पल्लवित करने के लिए आवश्यक है कि हम लोक तथा शास्त्र के संबंध में पंडित मिश्र के विचारों

---

*संप्रतिः सलाहकार (राजभाषा एवं सम्प्रेषण) राष्ट्रीय होम्योपैथी संस्थान, कोलकाता।

को समझने की चेष्टा करें। इस प्रयोजन से हम उनके कतिपय निबंधों से संदर्भ लेकर इस आलेख को पुष्ट करना चाहेंगे। यूँ तो लोक पर पंडितजी की एक पुस्तक 'लोक और लोक का स्वर' प्रकाशित हुई ही है तथापि, वर्तमान विषय को समझने के लिए हमें उनके अन्य निबंधों का भी देखना पड़ा है। जिन अन्य निबंधों में पंडित मिश्र ने लोक तथा शास्त्र पर चिंतन किया है उनमें प्रधान है 'भारतीय परंपरा के दो अक्षय स्रोत– लोक तथा शास्त्र। उनके जिन अन्य निबंधों में लोक तथा शास्त्र विषयक चर्चा मिलती है उनमें 'लोक और शास्त्र' तथा 'लोकमत और साधु मत' की चर्चा भी की जाती है। इन निबंधों के माध्यम से प्रत्यक्षतः तथा अन्य अनेक निबंधों के माध्यम से प्रसंगतः पंडित मिश्र ने लोक तथा शास्त्र की प्रकृति तथा भारतीय संस्कृति में चली आ रही उनकी समन्वयात्मक परंपरा की पड़ताल की है तथा उनके स्वरों की संगति को उभारा है। लोक और उसके छंद को शास्त्रीय ढंग से परिभाषित करने के साथ ही पंडित मिश्र ने शास्त्र और उसके अनुशासन का उल्लेखनीय उद्घाटन अपने लेखन में किया है।

आरंभ में हम डॉ. श्याम सिंह शशि के एक आलेख में उद्धृत पंडित मिश्र का लोक और शास्त्र विषयक एक संदर्भ प्रस्तुत करना चाहेंगे। पं. विद्यानिवास मिश्र कहते हैंः 'लोक न प्राचीनता का बोधक है, न पिछड़ेपन का, न किसी सीमित अलग–अलग समुदाय का। लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं, शास्त्र पूरक है, क्योंकि शास्त्र को शास्त्र का लोक विरुद्ध होना अभीष्ट नहीं है। एक तरह से लोक शास्त्र का ही प्रकृत रूप है और शास्त्र भी लोक– स्वीकृतियों का एक घनीभूत रूप है। इसलिए शिष्ट–से–शिष्ट, प्रबुद्ध–से–प्रबुद्ध समुदाय में, ऊँची से ऊँची जाति में ऐसे अनेक अनुष्ठान हैं जो ठेठ वन्य या ग्राम्य जीवन में लगाव का संकेत देते हैं।'

उक्त उद्धरण एक प्रकार से लोक और शास्त्र के संबंध का घोषणा पत्र ही है। जिस प्रकार भ्रमवश हम आत्मा तथा परमात्मा में द्वैत देखकर तत्वबोध से दूर हो जाते हैं उसी प्रकार हम लोक तथा शास्त्र में विरोध देखकर भारतीय संस्कृति के समन्वयवादी महनीय चरित्र से अपरिचित रह जाते हैं। आत्मा तथा परमात्मा जिस प्रकार अभिन्न हैं, लोक तथा शास्त्र भी उसी प्रकार अभिन्न हैं। हमारा यह अज्ञान कि आत्मा परमात्मा से अलग है, हमें उसी प्रकार भ्रम में रखता है जिस प्रकार इस तथ्य से हमारी अनभिज्ञता कि लोक तथा शास्त्र की परस्परपूरकता से ही भारतीय संस्कृति समृद्ध हुई है, हमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना से परिचित होने नहीं देता। इस अनभिज्ञता से समग्र की वह तस्वीर जो मानव मात्र में विद्यमान भावात्मक एकता को समझने के लिए नितांत आवश्यक है, हमारे सामने उभर नहीं पाती।

लोक तथा शास्त्र की अनुपूरकता को स्पष्ट करने के लिए मिश्रजी कालिदास का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं:

द्विधा प्रयुक्तेन च वांग्मयेन सरस्वती तं मिथुनं नुनाव।

संस्कार पूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्य निबंधनेन।।

सरस्वती ने अपने को दो रूपों में बाँटकर शिव–पार्वती दंपत्ति की स्तुति की। उसने संस्कारपूत भाषा में जहाँ वर शिव का वरण किया वहीं लोकभाषा में वधू पार्वती का। कहने का अभिप्राय यह है कि मांगलिक अनुष्ठान की संसिद्धि में मंत्र और लोक गायन दोनों की परस्परपूरक भूमिका भारत में पहले से ही रही है। यदि परंपरानिष्ठ समाजों का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि उनके समाजों की स्त्रियों ने आदिम–से– आदिम आचारों, अभिप्रायों को किसी–न–किसी व्रत–अनुष्ठान में संजोकर रखा है।

उक्त उद्धरण में मिश्रजी लोक तथा शास्त्र परस्पर अविरोधिता दिखाते हैं। वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि पाश्चात्य चिंतन के दुष्प्रभाव में हमें आज लोक तथा शास्त्र पृथक तथा विरोधी प्रतीत होने लगे हैं। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। पंडित मिश्र ने प्रमाण के साथ दिखाया है कि लोक तथा शास्त्र किस प्रकार परस्पर पूरक रहे हैं। वे मानते हैं कि लोक तथा शास्त्र को परस्पर विरोधी मानने का कारण लोक को फोक का पर्याय समझ बैठने की हमारी भूल हैं। पाश्चात्य चिंतन में फोक एक मानव केंद्रित अवधारणा है। इसमें मानव तथा मानवेतर सृष्टि को अलग–अलग देखा तथा मानवेतर सृष्टि को मानव के उपभोग का पदार्थ समझा जाता है। जबकि भारतीय चिंतन में लोक का विस्तार चर–अचर, मानव तथा मानवेतर सृष्टि को परिवेष्टित किए हुए माना गया है। साथ ही, भारतीय चिंतन तथा व्यवहार में मानवेतर सृष्टि मानव का उपभोग्य नहीं वरण उद्विकास में उसका प्रतिभागी है। लोक की भारतीय अवधारणा सर्वभूतवादी विचार का व्यवहार पक्ष है।

हमने लक्ष्य किया है कि पं. विद्यानिवास मिश्र जीवनपर्यंत लोक तथा शास्त्र के बीच संतरण करते रहे थे। वे गाँव में पले–बढ़े थे। वहाँ उन्होंने सामाजिक समरसता, पारस्परिक सौहार्द तथा अन्योन्याश्रितता का निकट स्पर्श पाया था। लोकगीतों में वर्णित प्रकृति, मानव तथा प्रकृति के बीच के घनिष्ठ संबंध, धरती, दूब, अक्षत, नारियल आदि के प्रति मानवीय संवेदना तथा संसक्ति का अनुभव उन्हें वहीं हुआ। 'घर से घर से घर' नामक निबंध में उन्होंने सगर्व लिखा है कि उनका जन्म खुदाई के शिविर में नहीं हुआ, अस्पताल में नहीं हुआ, परिवार की बड़ी–बूढियों के बीच घर में हुआ और उनके जन्म से ही पूरे गाँव में एक शोर हो गया था। ऐसे परिवेश में जन्मने पंडितजी

को एक गहन लोकदृष्टि सहज जी प्राप्त हुई। उच्च अध्ययन के लिए वे पूर्व के ऑक्सफोर्ड कहे जाने वाले इलाहाबाद विश्वविद्यालय गए। वहाँ गुरु के रूप में उन्हें पं. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय जैसे उद्भट आचार्य मिले। शास्त्र के अनुशीलन के लिए यह एक दैवदत्त अवसर था। आगे चलकर उन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा अज्ञेय के साथ काम करने का अवसर मिला। इन विद्याधरों की संगति में उनकी शास्त्र–निष्ठा दृढ से दृढतर होती चली गई। वे वैदिक– अवैदिक, पौर्वात्य–पाश्चात्य चिंतन के निकट संपर्क में आए और जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है इसका उन्हें बोध हुआ। इसी बोध से उन्हें लोक तथा शास्त्र की अन्योन्याश्रयता के प्रतीति हुई जिसके प्रतिपादन में उन्होंने अनेकानेक निबंध लिखे।

पंडितजी मानते हैं कि लोक पूर्णता की आकांक्षा से क्रियाशील रहता है और परार्थता में अपनी सार्थकता पाता है। लोक का व्यवहारशास्त्र साझेदारी का होता है। वह अपने भाव की अनुपूरकता के लिए कलाओं तथा प्रथाओं का आश्रय ग्रहण करता है। लोक का शिष्टाचार प्रकृत होता है, औपचारिक नहीं। पं. विद्यानिवास मिश्र ने आगमन–निगम, स्मृति–पुराणों तथा महाकाव्यों का गहन अध्ययन किया तथा आचार्यों के साथ उसपर विमर्श भी किया। इस अध्ययन से उनका यह विश्वास दृढ़ हुआ कि इन शास्त्रों में स्थान–स्थान पर लोक–दृष्टि मुखर है और यही लोक–दृष्टि लोक–स्मृति में इन शास्त्रों की प्रतिष्ठा आधार रही है। इसीसे शास्त्रों की लोकग्राहिता बनी हुई है और लोक तथा शास्त्र के बीच प्रतिस्पर्धा का अवसर यहां कभी नहीं आया। पंडित मिश्र भारतीय सभ्यता की निर्मिति में लोक तथा शास्त्र दोनों की परंपरा का परस्पर पूरक योगदान मानते हैं। भारतीय साहित्य तथा कलाओं में इस योगदान की अनुगूंज हमें अक्सर मिलती है।

ध्यान से देखें तो हमारे अनुष्ठानों तथा हमारे व्यवहारों में लोक तथा शास्त्र के विधि–निषेध प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। वैवाहिक अनुष्ठान को ही लें। मंडप में पुरोहितजी वर–वधू को लेकर वैदिक रीति से सप्तपदी की ओर बढ़ रहे हैं। ठीक उसी समय हजामिन टोकती है, ठहरिए पुरोहितजी! अभी अमुक संस्कार गीत नहीं हुआ है। सप्तपदी वहीं रुक जाती है– शास्त्रीय विधि–विधान पर लोकचर्या का अनुशासन चलता है। पुरोहितजी संस्कारगीत सम्पन्न होने तक सप्तपदी का अनुष्ठान स्थगित रखते हैं। यही नहीं, हम कहीं यात्रा पर निकल रहे होते हैं। सारे मुहूर्त सही हैं। सहसा एक बिल्ली काट जाती है। यात्रा को थोड़ी देर के लिए रोक लिया जाता है। शास्त्रीय विधान को लोक विधान के ऊपर मानते हुए भी हम लोक की अवमानना करने का जोखिम नहीं उठा सकते। एक अन्य उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करना चाहेंगे। नवजात के आयुष्य के लिए सभी वैदिक अनुष्ठान संपन्न हो जाने के बाद भी

उसके माथे पर जबतक एक काला टीका न दे दिया जाता हो, उसकी आंखों में जब तक अंजन नहीं आंज दिया जाता हो तबतक निरापदता की आशंका मन में बनी रहती है।

हमारी परंपरा में शास्त्र तथा लोक के बीच संवाद निरंतर बना रहा है। हमारे युग में इस संवाद को अपनी कृतियों में तुलसीदास जैसे लोक–नायकों ने प्रभावी तरीके से आगे बढ़ाया है। अपने समय के शीर्ष शास्त्रज्ञ होने के बावजूद तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना करते समय मात्र शास्त्रों को ही प्रमाण नहीं माना, लोक के प्रमाणों के प्रति भी वे सदा सजग रहे। 'रामचरितमानस' के लक्ष्मण–परशुराम संवाद में आई निम्नलिखित पंक्ति में लोक की परंपरा का उदाहरण इस प्रकार मिलता हैः

इहां कुम्हरबतिया कोऊ नाहीं। जे तरजनी देखि मर जाहीं।

इस पंक्ति में तुलसीदासजी लक्ष्मणजी के मुख से परशुरामजी को उद्दिष्ट करके कहलवाते हैं कि हम भी कोई कोंहडे का फूल नहीं है जो तर्जनी देख कर मर जाएंगे। लोक परंपरा में यह मान्यता है कि लौकी या कोंहड़े के फूल को यदि तर्जनी से निर्देशित किया जाय है तो वह फूल मुरझा जाता है तथा वह फल में नहीं बदल पाता। यहां लोक–विश्वास को तुलसीदास शास्त्र में प्रतिष्ठा दिलाते हुए दिखाई देते हैं।

लोक तथा शास्त्र के सामंजस्य के उदाहरण हमें कालिदास की कृतियों में भी मिलते हैं। उनके नाटकों में निरक्षर तथा नारी पात्र जहाँ प्राकृत बोलते हैं वही राजा और विदग्धजन संस्कृत का प्रयोग करते हैं। भारतीय चिंतन के शीर्ष ग्रंथ हैं उपनिषद्। उपनिषदों में घोर शास्त्रीय चर्चा भी लोक जीवन के उपकरणों यथा बैलगाड़ी, कुम्हार का चाक, दाम्पत्य जीवन के प्रसंगों, पशु–पक्षियों के व्यवहार की उपमा तथा प्राकृतिक घटनाओं के साक्ष्य को आधार बनाकर हुई है। शास्त्र की मर्यादा यदि एक रेखांकन है तो लोकाचार के रंग उस रेखांकन को उन्मीलित करते हैं तथा श्रमसिक्त जीवन को काम्य बनाए रखते हैं। शास्त्र यदि राष्ट्र की मेधा है तो लोक–जीवन राष्ट्र की अलंकृति है। इन दोनों के सामंजस्य का उद्देश्य जीवन में विद्यमान नकारात्मकता का परिहार करना है। लोक तथा शास्त्र के बीच इस सामंजस्य के क्रम में होनेवाले आदान–प्रदान के संबंध में पंडितजी कहते हैं– किसने किससे लिया इसका कोई महत्व नहीं रहता। पारंपरिक दृष्टि से महत्व रहता है कि किस मन से लेते हो किस मन से देते हो... लेते समय बड़े होकर नहीं लेते तो वह लेना अभाव हो जाता है देते समय छोटे होकर देते हो तो वह देना विराट बन जाता है। (द्रष्टव्य : हमारी परंपरा के दो अक्षय स्रोत : लोक और शास्त्र)

वात्सल्य निधि द्वारा आयोजित सासनी लोक विज्ञान प्रशिक्षण शिविर में पंडितजी ने कहा था 'मैं समझता हूँ, जब प्रत्यवलोकन करता हूँ अपने जीवन पर तो जितना कुछ

मैं हूँ उसमें से लगता यही है कि अस्सी प्रतिशत योगदान उस गाँव का है, उस गाँव की गूँजों का है, जहाँ मैं पैदा हुआ अगर वे गूँजें मेरे साथ नहीं रहतीं तो मैं जो कुछ भी हूँ, वह नहीं हो पाता। घर पर संस्कृत पढ़ाई जाती थी। जब छुट्टी होती थी, तब मैं ननिहाल जाता था। ननिहाल में मेरी नानी उस बड़े गाँव की एक तरह से लोकविद्या की परम आचार्या थीं। सब लोग आचार–विचार, पर्व–त्यौहार, रीति–रिवाज के बारे में पूछने आते थे। गीत लिखने–लिखाने आते थे। नानी से माँ ने भी पाया और माँ के कंठ से मैंने लोकगीत सुने। जब कोई उत्सव होता था, जिस सुरुचि और सौष्ठव से आयोजन होते थे उसकी मन पर गहरी छाप है।' हम समझते हैं कि लोकजीवन की यही गहरी छाप पांडित्य के साँचे में ढलकर पंडितजी की पहचान बन गई है।

❑❑❑

संपर्क

अजयेन्द्रनाथ त्रिवेदी– 3/3बी, सुगम सुधीर प्रतापगढ़, कोलकाता– 700103, ईमेलः trivediajoyendranath@gmail.com मो. 6289352734

'धीरे–धीरे'
मुझे सख़्त नफरत है
इस शब्द से।
धीरे–धीरे ही घुन लगता है
अनाज मर जाता है,
धीरे–धीरे ही दीमकें सबकुछ चाट जाती हैं
साहस डर जाता है।
धीरे–धीरे ही विश्वास सो जाता है
संकल्प सो जाता है।

– **सर्वेश्वर दयाल सक्सेना**

वही अमराई कहती है राम राम

परितोष मणि*

हिंदी निबंध साहित्य में जहाँ एक ओर गद्य की तार्किकता और विचारशीलता का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर उसमें भावनात्मक सौंदर्य और संवेदनशीलता का भी समावेश हुआ। इस परंपरा में पंडित विद्यानिवास मिश्र का योगदान अत्यंत विशिष्ट है। वे न केवल एक समर्थ निबंधकार थे, बल्कि एक ऐसे चिंतक भी थे जिनके लेखन में भारतीय संस्कृति, लोकजीवन और प्रकृति के साथ गहरे रागात्मक संबंध की झलक मिलती है उनके साहित्य का कोना–कोना लोक की सुगंध से रससिक्त है।

उनके ललित निबंध व्यक्तिव्यंजक शैली में लिखे गए हैं –यानी व्यक्तिगत अनुभूतियों को उनके सांस्कृतिक, पौराणिक और दार्शनिक व्यंजनाओं से जोड़कर किसी भी सामान्य दृश्य या अनुभव को बृहत्तर बनाकर अभिव्यक्त करना– यह एक अनूठी कला है। यह व्यष्टि से समष्टि तक की यात्रा है जो पाठक को न केवल मनोरंजित करती है, बल्कि गहन चिंतन की ओर प्रवृत्त करती है। व्यक्ति व्यंजना की भूमिका में वे संकेत करते हैं *ये निबंध व्यक्ति के ताप के भीतर से गुजरे हैं या यों भी कह सकते हैं व्यक्ति लोक के अनुभव और लोक की भाषा के ताप में जला है।*[1] इन निबंधो में उनकी विद्वता और और पांडित्य के बोझ से इतर एक मानुष भाव की सहज़ता दोनों का मूल्यवान मिलन दिखता है, यह ज्ञान और लोक दोनों का आपस में मिलकर विलीन हो जाना है। यहाँ संस्कृत के उद्धरण लोक–जीवन की सादगी से टकराते हुए साथ चलते है। पंडित जी के निबंध लोक, परंपरा और शास्त्र का बेहतरीन कोलाज़ है। वे गाँव की मिट्टी, बसंत की बहार, प्रेम की लालसा या लोकगीतों की मिठास को पौराणिक कथानकों, ऐतिहासिक संदर्भों तथा भारतीय संस्कृति के गहन तत्त्वों से युक्त कर उसकी व्यापकता बढ़ा देते हैं।

अपनी सहजन्वेषिता के कारण ये निबंध पांडित्य का बोझ उठाए नहीं चलते बल्कि नदियों के सहज प्रवाह की तरह आगे बढ़ते रहते हैं। संस्कृत के सूत्र, भोजपुरी–अवधी लोकभाषाओं की मिठास और अतीत का वैभव, सनातन की महत्ता

* संप्रति– प्रोफेसर, हिंदी विभाग, एम. एम. एच. कॉलेज, गाजियाबाद, उत्तरप्रदेश।

और आधुनिक जीवन की व्यथा–सबका मिश्रण एक रसपूर्ण संगीत रचता है। यहाँ गाँव की मिट्टी, लोकगीत और पौराणिक कथानकों की प्रासंगिकता व्यक्तिगत स्नेह और आत्मीय संवेदना से जुड़ती चलती है। लोक पंडित जी के साहित्य का बीज बिंदु है, लोक ही वह धुरी है जिसपर संस्कृति –परंपरा –संस्कार और प्रकृति सब जिसपर घूमते रहते हैं। लोक की सहजता, लोक की आस्था, लोक की उन्मुक्तता पंडित जी को उनके स्व से जोड़ती है, उनके अपने परिवेश में समाहित करती हैं। *लोक ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है मानुष भाव को समृद्ध और उजागर करता है, समग्र सौंदर्य के प्रति अभिमुख बनाए रहता है जीवन के आस्वाद को विलीन होने से बचाए रहता है और इसके बल पर सृजनशील यात्रा गतिमान बनी रही।*[2] उनके निबंधो के विषय आमतौर पर पेड़, नदी, मेला, गाँव घर, टिकोरा, पीपल, कटहल संस्कृति का उजास जैसी हैं। गाँव का मन और अपने आस–पास का लोक उन्हें कभी अतीतजीवी नही बनने देता है, बल्कि उसकी व्यापकता को बढाकर उसे आधुनिक परिदृश और उसकी संवेदना से संपृक्त करता है। वे परंपरा के सूत से आधुनिकता को बुनते हैं, लोक परंपरा और आधुनिकता के बीच सुगम आवाजाही के लिए सेतु का निर्माण करते हैं।

परंपरा लोक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग होती हैं, इनके आधार पर कोई राष्ट्र लोक संस्कृति की मूल संवेदना को बचाए रखते हुए भविष्य की चुनौतियों के सामने खड़े होने का बल पाता है। उनके लोक में इस संसार के सभी अवयव समाहित हो जाते हैं। *इस लोक में मनुष्यों का समूह ही नहीं सृष्टि के चर–अचर सभी शामिल हैं, पशु–पक्षी, पेड़, पुष्प, मेला, तीर्थ, धर्म, खेत–खलिहान, चूल्हा–चौका सब लोक के ही अंग हैं और इन्हें अपने रचनात्मक अनुभव के वृत्त में समाए रखना ही असली लोक दृष्टि है; सबको साथ लेकर चलना लोकसंग्रह है और इनके बीच जीना लोक यात्रा है।*[3] जो लोक पंडित जी के रग–रग में जीवंत था प्रकृति उसकी व्यापकता है, उसका वृहत्तर रूप है। उन्होंने प्रकृति को यांत्रिकता और कृत्रिमता से दूर रखते हुए उस रसधार को लोक–जीवन के केंद्र में स्थापित किया। उनकी रचनात्मक चेतना मानती है कि लोककथाएँ, लोकगीत और लोक–व्यवहार प्रकृति के नियमों से संचालित होते हैं। उनका प्रसिद्ध निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' वर्षा ऋतु की पृष्ठभूमि में लोक–संस्कृति की चिंताओं को ही व्यक्त करता है।

प्रकृति उनके लिए केवल बाहरी सौंदर्य की वस्तु नहीं, बल्कि संस्कार और संस्कृति की धुरी है, लोक संस्कृति और प्रकृति जीवन मूल्यों की प्रेरणा हैं जो उनकी परंपरा से आया है *वे कहते हैं– मैंने अपनी माँ से जो सीखा है उसे मैं संग्रह की वस्तु या अलमारी में सजाने की वस्तु नहीं मानता। मैं उसे जीवन का प्रेरणास्रोत मानता हूँ।*[4] वे अपने लोक में गहरे उतरते हैं, उसकी परंपराओं से मिलते हैं, उसके गीतों से मिलते

2. भूमिका, विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली. पृ. 12
3. विद्यानिवास मिश्र– लोक और लोक का स्वर, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली पृ. 23
4. विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली पृ. 14

हैं, उसके शिल्प और कलाओं से मिलते हैं और अपने निबंधो में उसे आकार देते हैं। उनके लिए लोक बस लोक है, खालिस अपनी पूरी रंगत और ठनक के साथ। लोक की इस संवेदना के क्षरण के प्रयास का कड़ा प्रतिकार करते हुए साहस के साथ कहते हैं कि'' *लोक को हमने फोक मान कर बड़ी भूल की है। हम निर्मम संग्रही और तर्कशुष्क विश्लेषक हो गए हैं। लोक को जीवन–रस के निर्झर के रूप में देखने में हम चूक गए हैं*।[5] वे जानते हैं कि लोक के उदात्त रूप को नृतत्त्व वैज्ञानिक अथवा समाज वैज्ञानिक रीति से समझा–समझाया नहीं जा सकता। लोक के फल–फूल, व्रत–त्योहार, नृत्य–गीत, रिश्ते–नाते, ऋतु–मास की जीवंतता 'उसके स्पंदन को गले मिलकर ही जाना जा सकता है, उसके रस के आस्वाद से ही उसकी पूर्णता को समझा जा सकता है। मिट्टी, जल, और वायु से संबंध जोड़कर ही उसे जाना जा सकता है।

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में प्रकृति सांस्कृतिक प्रतीक, आत्मीय सखी, और जीवन–दर्शी गुरु के रूप में उपस्थित है। वे अपने निबंधो में मनुष्य और प्रकृति के बीच उस सेतु को पुनर्स्थापित करते हैं, जो आधुनिकता ने तोड़ दिया था। उनके निबंधो में प्रकृति बाह्य नहीं अंतर का अनुभव है जो भारतीय जीवन–दर्शन, संवेदना, और आत्मचेतना का अभिन्न अंग है इसीलिए प्रकृति सिर्फ पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि जीवंत पात्र है जो मनुष्य की भावनाओं, संस्कृति, जीवन–शैली और लोक स्मृतियों से गहरी जुड़ती है। वास्तव में पंडित जी के निबंधों में प्रकृति न तो केवल दृश्य है, न केवल विषय – वह संस्कृति, संवेदना और अस्तित्त्व का मूल तत्त्व है। प्रकृति और संस्कृति और मनुष्य सभी एक दूसरे के पूरक हैं और साथ मिलकर पूर्ण भी बनाते हैं।

उनके निबंधो से गुजरते हुए पाठक को लगता है मानो लेखक स्वयं बोल रहा हो– निजी, किंतु सार्वभौमिक और आत्मीय। छितवन की छाँह में प्रकृति का यह सौंदर्य व्यक्तिगत भावुकता के साथ जुड़कर अपनी अर्थवत्ता को और निखार देता है। छितवन प्रतीक बनकर जीवन की नश्वरता को व्यंजित करता है, वह पार्थिक यौवन का रूप है जो अतृप्त में तृप्ति, वैराग्य में राग, अभाव में संतोष को देखता है। 'छाँह' की यह व्यंजना जीवन की क्षणभंगुरता को व्यक्त करती है, जबकि हिरन–प्रसंग पौराणिक कथाओं से जुड़कर गहनता प्रदान करता है। छितवन का वृक्ष केवल पेड़ नहीं, बल्कि संवेदनाओं और संस्कृति के साथ ही नश्वरता का भी प्रतीक है। वह गंध है, निर्मिष और पवित्र गंध, यह विचार उपनिषदों की उस संस्कृति से जुड़ता है जहाँ पृथ्वी 'गंधवती' कही जाती है और जिसे सबसे सूक्ष्म और चिरंतन माना गया है। मिश्र जी अपने निबंध 'छितवन की छाँह' में छितवन के नैसर्गिक सौंदर्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं"– 'छितवन की छाँह' हमें मिलती है मधुमास की नई संध्या में और वह फिर

5. विद्यानिवास मिश्र –लोक का आलोक, राजकमल प्रकाशन,1992, पृ. 43

मिलती है कुआर की उमसी दोपहरी में। वह यौवन के चढ़ाव और उतार का मापदंड है''। यह प्रकृति–चित्रण रागात्मक शैली में स्मृति, संस्कृति और लोकस्मिता के साथ बँधा हुआ है– वे छितवन को मृत्यु और जीवन के बीच की कड़ी मानते हैं, जिसमें लोक संस्कृति का गहरा संचार है।

विद्यानिवास जी के निबंधों की यह विशेषता है कि वे 'भावात्मक व्यक्तित्त्व' को रोचक बनाते हैं; साधारण घटनाओं में छिपे गहन अर्थ को उकेरते हैं, जैसे फागुन की होली में प्रेम की व्यंजना या गाँव के मन में बसी सांस्कृतिक जड़ें। उनके निबंध अनेक रूपधारी होते हुए भी लालित्य और कमनीयता की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। पौराणिक, ऐतिहासिक और लौकिक गाथाओं को लोक संस्कृति के साथ तादात्म्य करके उसे गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत करने में मिश्र जी की कला बेजोड़ है। मिश्र जी के निबंधों में शास्त्र लोक संस्कृति एंव लोकाचार का मेल कराती है। पंडित जी गद्य में कविता रचते हैं शब्दों के अर्थ की गति और भाषा उत्कर्ष की ओर अग्रसर होते हैं और संस्कृति के ललित शब्दों के साथ लोक गँवई शब्द अपनी पूरी ठनक के साथ आते है और समानांतर भावों की गूँज मुखर हो उठती है।

इन निबंधो में पर्व–त्योहार भारतीय लोक के उल्लास के रूप में उपस्थित हैं, *जो मनुष्य को समृद्ध करते हैं, उसे अपनी धरती और परंपरा से जोड़कर जीवंतता प्रदान करते हैं।* इसमें मिलने–मिलाने, जुड़ने–जोड़ने के, खाने–खिलाने, पहनने–पहनाने के कई बहाने मिलते हैं।[6] अपने निबंध 'फागुन दुई रे दीना' में फागुन को आनंद का, उल्लास का प्रतीक बनाते हुए, मानुष की वेदनापूर्ण, यांत्रिक जीवन के संघर्ष में एक सहारा देते है। यह निबंध सिर्फ ऋतु वर्णन नहीं वह भारतीय जीवन दर्शन का गहरा रूपक है, फागुन को धुरी बनाकर वे आनंदवाद, लोक दर्शन, जीवन उल्लास और क्षण में विराट की अनुभूति को रचते हैं। आनंद और उल्लास अल्पसमयी है लेकिन अपनी संवेदना से मनुष्य को वृहत्तरत्ता में जीवन जीने का रस थमा जाते है। इसी निबंध में पंडित जी कहते हैं *तो भी ये दो–चार दिन भी कम हैं, चरखी की तरह नाचती जिंदगी में, बनावटी शालीनता के नकाब के भीतर कसमसाती जिंदगी में, सच्चाई से कतराने की हज़ार कोशिश करती जिंदगी में वो आनंदित उब से उबासी बनी जिंदगी में ये दिन अंजुरियों में भर लेने दो फागुन, न भर पाए तो उसकी प्यास भर लेने दो।*[7] भारतीय परिवेश में जो व्याप्त है, जो दृश्य है वह सब लोक ही है। लोक में अंततः सब आनंद ही आनंद है, क्योंकि वह स्वभाव से विस्तरणशील है। वह घटाकाश की अपनी आरोपित सीमा में नहीं, मठाकाश की अपनी व्याप्ति में विश्वास रखता है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि लघु में नहीं, विराट में ही सबकी गुंजाइश हो सकती है। लोक

6. विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली पृ. 148
7. तुम चंदन हम पानी, पृ. 98

विराट की छाया है और भूमा की संभावना। लोक के सारे प्रतीक, सारी कलाएँ, सारे अनुष्ठान और सारे समारंभ विराट की छाया में भूमा की संभावना से प्रेरित हैं। पंडित जी के व्यक्तिव्यंजक निबंधों का लगभग सारा प्रस्तर लोक के प्रत्यभिज्ञान का ही प्रयास है। आनंदवादी विचारधारा मात्र भोगवाद को प्रश्रय नहीं देती, वह 'परांतः सुखाय' की भावना को लेकर चलने वाली शक्ति भी है। उनकी दृष्टि में आनंद वह तत्त्व है, जो व्यष्टि की नहीं समष्टि के कल्याण की बात करता है। 'व्यष्टि और समष्टि की संधि' नामक निबंध में उनकी आस्थावादी और आनंदवादी दृष्टि अत्यंत मुखर हो उठी है। उन्होंने शिव को आनंद के रूप में न केवल स्वीकार किया है, वरन् आनंद रूपी ईश्वर के प्रति अपनी गहरी आस्था भी प्रकट की है। इस संदर्भ में उनके निबंध से एक उद्धरण को देखा जा सकता है *हम ईश्वर या समाज के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित करने की बात क्यों करते हैं? ईश्वर, समाज और व्यक्ति में आनंद को प्रतिष्ठित करने की बात क्यों नहीं करते? संप्रदाय से संप्रदाय का जन्म होगा, उससे अनावस्था आएगी। आनंद या भूमा ऐसी स्थिति है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता फिर उसी के ऊपर क्यों न बल दिया जाए?*[8] प्राकृतिक या कलात्मक सौंदर्यानुभूति के लिए समस्त ज्ञान और अहंकार को त्यागना पड़ता है। ईश्वर प्रदत्त उन समस्त उपादानों से एकाकार होना पड़ता है, जो हमारे अंतःकरण में चिर स्थित आनंद–तत्त्व को जागृत करती रहती हैं। सौंदर्य की साकारता तभी है जब हम उनके साथ तदाकार हो जाते हैं। प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य तभी संभव है जब ग्रहणशीलता, उत्कंठा के साथ–साथ हमारे व्यक्तित्त्व में मौनशीलता, धैर्यशीलता और विनम्रता हो। पंडित जी इस संदर्भ में कहते हैं *जब तक अपने ग्रहणशील और उत्कंठित बनाकर हम विजन का सौंदर्य निरखने नहीं जाते, तब तक वह सौंदर्य हमारे लिए अगोचर बना रहता है। हमारे मौन रहने पर ही वह बोल पड़ता है। हमारे ठहर जाने पर वह गतिशील हो जाता है और हमारे विनीत हो जाने पर ही वह स्फीत हो उठता* है।[9] प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति इतनी सूक्ष्म दृष्टि पंडित विद्यानिवास मिश्र जैसे कला मनोवैज्ञानिक की ही हो सकती है।

उनकी लेखनी में धरती की गंध, ऋतुओं का संगीत और मनुष्य की आत्मा का स्पर्श एक साथ महसूस होता है। उनके निबंधों में गाँव की सुबह, पंछियों की आवाज़ें, हल–बैलों की गूँज, वर्षा की महक – सब मिलकर 'लोक और प्रकृति के सहजीवन' की छवि प्रस्तुत करते हैं, इसलिए पंडित जी की प्रकृति दृष्टि जितनी व्यापक है उतनी ही सूक्ष्म भी। वहाँ अगर शेफाली के झरते हुए सुंदर फूल है तो धवल कांस भी है जो जो बिना किसी प्रयास से इधर–उधर उगते हैं और जो मन की उजास और सहज

---

8. वही पृ. 8
9. वही पृ. 5

श्रद्धा का स्मरण कराते हैं, जीवन की तमस में जो उजास की उम्मीद हैं। *अपनी परंपरा के प्रति आदर भाव सूधे निष्कपट मन से व्यक्त किया जाना चाहिए*[10]। पंडित जी के यहाँ अगर अभिजात्य प्राकृतिक प्रतीक हैं वहीं वहाँ अकिंचन हरीतिमा के प्रतीक भी, लेकिन वह परंपरा से निःसृत है इसलिए मूल्यवान है। इन निबंधो में हरसिंगार और शेफाली है तो होरहा, पीपल, छितवन, नारियल, कटहल, नीम, कदंब, शिरीष और टिकोरा भी हैं। उनके लिए ये सब प्रकृति के नहीं संस्कृति और स्मृति के जीवंत पात्र हैं, सब उनके है, उनकी परंपरा और विरासत के अंग। वहाँ कादो –कीच है तो निरीह पक्षी गौरैया भी है जिसकी उपयोगिता और महत्त्व सौंदर्य और कूक से अधिक सौभाग्य की सूचक है वह भी इतना कि जहाँ गौरैया का वास न हो वो परिवार निर्वंश है जैसे तुलसी का विरवा आँगन में न रहे तो वह घर विरत है। गौरैया के बारे में पंडित जी कहते हैं *गौरैये में कोई रूप रंग की विशेषता नहीं, कंठ में कोई विशेष विह्वलता नहीं, उड़ान भरने की कोई विशेषता या क्षमता नहीं, महज आंगन में फुदकने का उछाह है। उसी प्रकार तुलसी के पौधे में न तो सघन छाँह की शीतलता है, न गंध का जादू, न रूप का श्रृंगार, केवल आंगन का दुख दर्द बँटाने की मन में बड़ी उत्कंठा है।*[11]

पंडित जी प्रकृति को मनुष्य के सुख–दुख, राग–विराग में सहभागी बनाते हैं। वे मानवेत्तर लोक को भी मानुष जैसा ही मूल्यवान मानते हैं। उनके निबंधों में नदियाँ केवल जलधाराएँ नहीं हैं, लोक–माताएँ हैं; वृक्ष केवल लकड़ी नहीं, स्मृति और आश्रय के प्रतीक हैं, ऋतुएँ आनंद और संस्कार की संवाहिकाएँ हैं और वर्षा शुद्धि और नवजीवन का संकेत हैं। पंडित जी अपने समूचे साहित्य में 'भारतीयता की पहचान' और 'संस्कृति के सजग वाहक' के रूप में ही अपनी भूमिका तय करते हैं। इसीलिए उनके निबंध केवल वैचारिक गद्य नहीं हैं, उनका कोना–कोना लोक–जीवन के रस, संस्कृति के स्पंदन और प्रकृति के उजास से प्रकाशित हैं। जहाँ प्रकृति सौंदर्य से अधिक एक सजीव, सक्रिय 'चेतना' है जो मनुष्य और उसके लोक को विस्तारित करती है व्यापक बनाती है। लोक उनके लिए निरी सामाजिक इकाई नहीं वह संवेदना, संस्कृति, आस्था और जीवन दृष्टि का मूलाधार है। लोक वेदना के उद्दवेलन और कसमसाहट को अभिव्यक्ति देने के लिए उनकी संवेदना क्रियाशील रही है। पंडित जी की प्रकृति चेतना का मूल मंत्र है– 'प्रकृति और संस्कृति का अविच्छिन्न संबंध'। उनके निबंध 'लोक का आलोक', 'संस्कृति का व्याकरण', 'लोकजीवन और उत्सव' आदि में गाँव, ऋतु, पेड़, पौधे, नदियाँ, पर्वत, पशु–पक्षी – सब कुछ जीवन के जीवंत प्रतीक हैं। वे पेड़, नदी, आकाश, और मिट्टी को मानवीय गुणों से संपन्न मानते हैं – जैसे नदी में बहाव ही नहीं, ममता है; आकाश में विस्तार ही नहीं, करुणा है; और मिट्टी में केवल गंध नहीं, स्मृति है। बसंत पंडित जी को अत्यंत पसंद है, लेकिन ये ऋतुओं से अधिक

---

10. विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ 21
11. विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ

परंपरा का सात्विक संस्कार है जो मनुष्य के जीवन को पुनर्संस्कार देता है, उसकी रागात्मकता को बचाए रखता है। इसलिए वे बार–बार अपनी जड़ों के पास जाते हैं और समृद्ध होकर लौटते हैं।

मिश्र जी के निबंधों में ऋतुओं का वर्णन मात्र प्राकृतिक परिवर्तन का लेखा–जोखा नहीं, बल्कि भावनात्मक संस्कार, पर्वों के आगमन, प्रतीक, मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ और सामूहिक सांस्कृतिक अनुभव और बनकर उभरती है। 'ऋतु और लोक' निबंध में वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार बसंत, सावन या शरद ऋतु केवल मौसम नहीं, बल्कि भावनात्मक संस्कार हैं। "जब तक मनुष्य ऋतुओं से जुड़ा है तब तक मनुष्य है"। आषाढ़ उनके लिए मेघों का नहीं, बल्कि विरह और मिलन की गाथाओं का महीना है। सावन आते ही उनके निबंधों में झूलों, कजरियों और लोकगीतों की गूँज सुनाई देने लगती है। वे प्रकृति के प्रत्येक परिवर्तन को मानवीय भावनाओं और सांस्कृतिक आयोजनों के साथ जोड़ते हैं। उनके ऋतु वर्णन की भाषा चित्रात्मक, रागात्मक और लोक की सुगंध से मह–मह है। उनका ऋतु वर्णन भारतीयता की आत्मा को पुनर्स्थापित करता है।

उन्होंने भारतीय परंपरा की प्रकृति–दृष्टि को आधुनिक जीवन की असंतुलित प्रवृत्तियों से जोड़कर एक संतुलित, संवेदनशील और मानवीय दृष्टि दी है। उनके ललित निबंधों में ऋतुचर्या का वर्णन उनके निबंधों को जीवंतता प्रदान करता था। वसंत ऋतु से विद्यानिवास मिश्र को विशेष लगाव था, *बसंत जब आता है, तो लोक के गीतों में हँसी खिल उठती है; यह केवल पेड़ों पर पत्तों का लौटना नहीं, मनुष्य के भीतर जीवन की उमंग का पुनर्जागरण है।*[12] वसंत ऋतु उनके निबंधों में महज़ फूलों का खिलना नहीं है, बल्कि 'कामदेव का आगमन' और उल्लास का सांस्कृतिक उत्सव है। वे ऋतुओं के माध्यम से भारतीय कालगणना और जीवन–चक्र की सुंदरता को उजागर करते हैं।

उनके निबंधो से गुजरते हुए पाठक को लगता है मानो लेखक स्वयं बोल रहा हो– निजी, किंतु सार्वभौमिक और आत्मीय। इसी प्रकार, छितवन की छाँह में प्रकृति का यह सौंदर्य व्यक्तिगत भावुकता के साथ जुड़कर अपनी अर्थवत्ता को और निखार देता है। छितवन' प्रतीक बनकर जीवन की नश्वरता को व्यंजित करता है। 'छाँह' की व्यंजना जीवन की क्षणभंगुरता को व्यक्त करती है, जबकि हिरन–प्रसंग पौराणिक कथाओं से जुड़कर गहनता प्रदान करता है। विद्यानिवास जी के निबंधों की यह विशेषता है कि वे 'भावात्मक व्यक्तित्त्व' को रोचक बनाते हैं। साधारण सी दिखने वाली घटनाओं में छिपे गहन अर्थ को उकेरते हैं। उनके निबंध अनेक रूपधारी होते हुए भी लालित्य और कमनीयता की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके ललित

12. बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं.दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 137

निबंधों में धरती गंध और लोक संस्कृति की सरलता है। मिश्र जी के निबंधों में उनके उन्मुक्त मन की भटकन, शास्त्र, लोक संस्कृति एंव लोकाचार का मिलन कराती हुई प्रतीत होती है। वे लोकभाषा को प्रकृति का विस्तार मानते हैं – जैसे मिट्टी की गंध, नदी की ध्वनि, हवा की सरसराहट सब लोकभाषा की आत्मा हैं।

मिश्र जी के निबंधों में प्रकृति बहुआयामी रूप धारण करती है। वे इसे प्रकृति, लोक चेतना और दार्शनिक तत्त्व से मिलते हुए एक विहंगम दृश्य रचते हैं, एक सामान्य वस्तु या विषय को उसके तमाम संस्कृतिक अर्थवत्ताओं से लैस कर उसे व्यापक बना देते हैं। निबंध संग्रह प्रकृति परिचय में 'वसंत की पुकार' निबंध में वसंत को जीवन–जागरण का प्रतीक माना गया है। मिश्र जी लिखते हैं: *वसंत आता है जैसे कोई पुराना मित्र, जो वर्षों बाद लौटकर पुरानी बातें याद दिलाता है। कोयल की कूक में वह पुरानी स्मृतियाँ झलकती हैं, और आम के बौर में नई आशाएँ खिलती हैं।*[13] इसी प्रकार, 'वर्षा की रागिनी; में वर्षा को शुद्धिकरण का माध्यम बताया गया है: बारिश की बूँदें पृथ्वी को धोती हैं, और मनुष्य के पापों को भी। वृक्षों की भाषा (संग्रहः भक्ति रस भाव) में वृक्षों को मौन संतों के रूप में चित्रित किया गया है। *पीपल का पेड़ खड़ा है जैसे कोई साधु, जो सदियों से ध्यान में लीन है। उसकी छाया में बैठकर मन शांत होता है, वह पेड़ सब कुछ बाँट कर भी निपट अकेला खड़ा है।*[14] पीपल गाँव के सौभाग्य और लोक आस्था का भी एक प्रतीक है। स्त्रियाँ इस संस्कृति को अपनी आस्था से हमेशा बचाए रखती हैं *पीपल की उपस्थिति में स्त्रियाँ बड़ी विनीत, बड़ी तरल, बड़ी सरल हो जाती है। उनकी तरलता ही संस्कृति का पोषण करती है और संस्कृति जीवन –स्वीकारी बनी रहती है, कभी हारती नहीं।*[15] आस्था के पत्थर संग्रह के 'गंगा की गोद' निबंध में गंगा मातृत्व का प्रतीक है यह कोई अनंत कथा है, जिसके हर प्रवाह में नया रहस्य छिपा है क्योंकि नदी केवल भौगोलिक तत्त्व नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक धरोहर है। वे नदी के प्रवाह के अवरूद्धन पर गहरी चिंता व्यक्त करते हैं, वस्तुतः वे पेड़ –पुष्प से लेकर नदियों को अपना सृजनात्मक स्पर्श देकर उनके विनाश प्रक्रिया के खिलाफ आवाज़ बुलंद करते है, किसी सांस्कृतिक प्रहरी की मानिंद।

आज के इस यांत्रिक युग में कहीं–न–कहीं लोक संवेदनाएँ, मनुष्य को आपस में जोडे रहने वाले परस्पर सहयोग, समन्वय एवं परोपकार की भावनाएँ निरंतर घटती जा रही हैं। पंडित विद्यानिवास मिश्र का निबंध साहित्य ऐसे ही छीजते मानवीय मूल्यों की पड़ताल करता है। उनके निबंध साहित्य में विषय वैविध्य की प्रधानता है, किंतु

---

13. बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं.दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 139
14. विद्यानिवास मिश्र– रचनावली, सं. दयानिधि मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 60
15. वही, पृ. 59

उनकी समस्त चिंतन दृष्टि भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताओं, आराध्यों और हमारे मांगलिक प्रतीकों को उद्घाटित करने के साथ–साथ मानवीय संवेदनाओं, परस्पर सहयोग की भावनाओं को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी बखूबी रमी है। 'तुम चंदन हम पानी' पंडित जी के चर्चित और भाव समृद्ध निबंधो में से एक है जिसका आधार प्रेम और समर्पण की व्यंजना है। चंदन–पानी की पवित्रता, उसकी सुगंध, विनम्रता, समर्पण का प्रतीक व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति को दार्शनिक ऊँचाई देता है। यह निबंध देह मन समाज और परम सत्ता के बीच लोक और शास्त्र, अहं और समर्पण के संवाद को प्रस्तुत करता है। चंदन और पानी दोनों अकेले अपूर्ण है, समन्वय और समर्पण अहंकार विहीन होकर ही हो सकता है।

'रहिमन पानी राखिए: लोक–काव्य और व्यक्तिगत चिंतन का संगम। यहाँ कबीर–रहीम जैसे संतों की व्यंजना आधुनिक जीवन से टकराती है। वे आधुनिक युग का यांत्रिक जीवन, सूखती संवेदना, छीजते मानुष भावों पर गहरी चिंता वे इस निबंध के माध्यम से व्यक्त करते हैं "आज मनुष्य के भीतर का पानी सूख गया है।'रहीम का यह दोहा उनके स्मरण में रहता है कि इस पानी की कितनी व्यंजनाएँ हो सकती हैं, लोक जीवन में अगर पानी सम्मान है तो संत परंपरा में आत्मिक शुद्धता और पानी उतरना अपमान का सूचक। पंडित जी के लिए पानी बचाए रखना केवल व्यक्तिगत बात नहीं मनुष्य और समाज दोनों की आत्मा को बचाए रखने का प्रयास है।

परंपरा तथा लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि में पंडित जी आधुनिक जीवन की विसंगतियों की बार–बार चर्चा करते हैं इन निबंधों में उनके कसक का कारण है जन–जीवन में धीरे–धीरे शहरी मनोवृत्ति का विकास और संस्कृति का निरंतर अपसंस्कृति में बदलते रहना। शहरी मनोवृत्ति सहज संस्कृति को संकुचित करती है। संस्कृति की इस संकुचन–प्रक्रिया में मनुष्य का भौतिक (बाह्य) जीवन सुख– सुविधा –समृद्ध अवश्य हो जाता है, किंतु उससे आत्मिक (अंतः) जीवन की सजीवता, सहजता, पारस्परिक सौहार्द, माधुर्य, सरसता, आनंद–स्फूर्ति, प्रकृति, सौंदर्य, सावनी हरीतिमा, वासंती उल्लास, फागुनी अल्हड़ता आदि सब ठिठुरते जाते हैं। अतः समृद्ध, स्वस्थ, सहज जीवन के लिए लोक–भावना की संस्कृति की महत्ता है। पंडित जी इस लोक संस्कृति के ही संवाहक है। वर्तमान आधुनिक परिवेश तथा सामान्य दैनंदिन जीवन की समस्याओं, घटनाओं, विसंगतियों को तीव्रता से दर्शाने के लिए वे भव्य अतीत की श्रेष्ठ व मंगलमयी परंपरा, भारतीय संस्कृति की दिव्य कल्याणकारी दृष्टि तथा लोक संस्कृति व ग्रामीण जगत की जीवंतता, सजीवता, सहजता व सरसता का स्मरण स्थान–स्थान पर करते चलते हैं। फलतः भारतीय संस्कृति का दृश्य, लोक जीवन का सहज चित्र, परंपरागत उत्सव, पर्व, रीति रिवाजों का चित्रण निबंधों में यत्र–तत्र सर्वत्र सहज ही प्राप्य है। उनके निबंधों में यह लोक संस्कृति कई रूपों में अपनी सुवास छोड़ जाती है। टटके अछूते लोक गीतों के रूप में, व्रत उपवास,

तीज–त्योहारों की भाव संवेदना के रूप में, लौकिक व्यवहारों और क्रिया–कलापों की मधुर स्मृतियों के रूप में, शादी–ब्याह, मुंडन, जनेऊ आदि के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों के पीछे छिपी प्राचीन परंपरा की ठेठ देहाती धरोहर को सजाने–सँवारने उनके रख–रखाव की चिंता की अभिव्यक्ति के रूप में, यह लोक संस्कृति उनके व्यक्तित्त्व का एक अविभाज्य अंग बनकर सामने आती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सौंदर्य के आस्वादन के लिए उन्होंने अपने अहम् को त्यागने पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि उनका मन विंध्य प्रदेश की सुषमा की पोर की सघनता में खो सा गया है। वे जानते हैं और बार–बार मनुष्य को आगाह भी करते हैं कि हम प्रकृति के समस्त उपादानों से प्रेम कर इनकी रक्षा करें क्योंकि यदि प्रकृति सुरक्षित रहेगी; तो मानव–सृष्टि सुरक्षित रहेगी और यदि मानव–सृष्टि सुरक्षित रहेगी तो ही हमारे जीवन–मूल्य भी सुरक्षित रहेंगे। यह कथन केवल भावुकता नहीं, बल्कि एक गंभीर सांस्कृतिक आलोचना है। वे आधुनिक सभ्यता की 'प्रकृति से विमुखता' पर गहरा आघात करते हैं 'विकास की अंधी दौड़ में हमने अपनी मिट्टी से रिश्ता तोड़ लिया है। यह मिट्टी ही हमें धरती से बाँधती थी।" विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में प्रकृति चेतना आधुनिक मनुष्य को उसकी जड़ों की ओर लौटाने का प्रयास है। यह भौतिकवाद की अंधी दौड़ में प्रकृति के दोहन के विरूद्ध एक सांस्कृतिक और नैतिक प्रतिरोध है। उनकी प्रकृति चेतना केवल सौंदर्य–बोध नहीं है, बल्कि वह भारतीय लोक–जीवन, संस्कृति, दर्शन और भाषा की गहरी समझ का परिणाम है। उनके निबंध यह सिखाते हैं कि जब तक मनुष्य प्रकृति को केवल संसाधन मानता रहेगा, वह अपूर्ण रहेगा; पूर्णता तभी मिलेगी जब वह प्रकृति को सहचर, पालक और चेतना का अनिवार्य अंग मानेगा। यही कारण है कि विद्यानिवास मिश्र के व्यक्तिव्यंजक निबंध हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं, जो भावुकता की धारा में सांस्कृतिक गहराई का जल मिलाकर एक नया प्रवाह रचते हैं।

❑❑❑

संपर्क

परितोष मणि– हिंदी विभाग, एम. एम. एच. कॉलेज, ग्राउंड फ्लोर 6/2/44 वैशाली, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश–201001 ईमेलः dr.paritoshmani@gmail.com मो. 7678605073

भारत और भारतीय परंपरा का विवेक (संदर्भ : पं. विद्यानिवास मिश्र रचनावली खंड–14)

चित्तरंजन मिश्र*

कई सौ वर्षों की औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्ति के लिए चले अनवरत संघर्ष के बाद भारत जब स्वतंत्र हुआ तो उसे अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ–साथ सांस्कृतिक स्वाधीनता की यात्रा भी करनी थी। अपने विवेक को फिर से खोजना और स्थापित करना था। पराधीनता की लंबी अवधि में इस महादेश की जड़ों को गहरे तक झिंझोड़कर इसकी चेतना को परिभाषित, विश्लेषित और विवेचित करने वाली सभी अवधारणाओं को, शिक्षा व्यवस्था को, चिंतन परंपरा को, खुद भारत और भारतीयता को जिस तरह से पश्चिम परस्त संदर्भों में, एक परायी भाषा में, परायी दृष्टि से विवेचित व्याख्यायित करने का अभ्यास देश के बौद्धिक समुदाय में विन्यस्त था, एक नवस्वाधीन देश को अपनी सच्ची स्वाधीनता अर्जित करने के लिए इस अभ्यास से भी जूझना था। जूझने की यह परंपरा स्वाधीनता आंदोलन के दौरान ही धनी हो रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी जैसे चिंतक मनीषियों ने भारत की सत्ता को फिर से पाने के लिए राजनीतिक संघर्ष के साथ ही वैचारिक स्तर पर भी देश की चेतना को जगाने का कठिन उद्यम शुरू कर दिया था।

स्वाधीनता मिलने के बाद पं. जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव, और डॉक्टर राममनोहर लोहिया जैसे विचारशील सक्रिय राजनेताओं ने राजनीति के साथ–साथ सामाजिक सांस्कृतिक जड़ताओं से भी टकराने का वातावरण अपने लेखन, व्याख्यानों और जीवनचर्या को प्रभावित करने वाली सभी तरह की सक्रियताओं से बनाने की कोशिश शुरू की। सांस्कृतिक स्वाधीनता अर्जित करने का उद्यम जिन रचनाकारों ने अपने वैचारिक और रचनात्मक साहित्य से आजीवन अनवरत किया उनमें प्रख्यात ललित निबंधकार, भाषाविद, संस्कृति चिंतक, परंपरा के पुनरान्वेषी पं. विद्यानिवास मिश्र का नाम अग्रणी है। मिश्र जी ने भारत, भारतीयता, सभ्यता, संस्कृति, स्वाधीनता, ज्ञान परंपरा, तप, ऋषि, शास्त्र, लोक जैसी अवधारणाओं पर नए सिरे से विचार किया।

*भक्ति साहित्य और समकालीन साहित्य के अध्येता और आलोचक।

अपनी चिंतन परंपरा के मूल स्रोतों तक पहुँचकर भाव, संवेदना, ज्ञान और विचार को फिर से खोजने और स्थापित करने का जो अनवरत स्पृहणीय उद्यम विद्यानिवास मिश्र ने किया वह परंपरित शास्त्रीय प्रज्ञा को नए जीवन संदर्भों में नए सिरे से पहचानने की अविरल कोशिश की तरह है। पंडित जी लोक प्रचलित, लोक स्वीकृत भाषा में, अपने आचार–विचार में सनातनी थे, पर उनका सनातन मन एकरैखिक नहीं था। सनातन का उनका विवेक पुरातनपंथी जड़ता में फँसा हुआ नहीं था। उनके अनवरत मंथन में वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, ज्ञान और विचार के आदि स्रोतों से लेकर भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी, भक्ति काव्य तथा बीसवीं शताब्दी तक के भारतीय मानस को संवेदनशील मानवीय, परदुःखकातर और जीवन द्रव्य से समृद्ध करने वाले सभी अवयवों से, चाहे वे शास्त्रीय व्याख्याओं में उपलब्ध हों, या लोक रुचियों, लोक विश्वासों, लोक आख्यानों में, जहाँ से भी लोक चेतना का संस्कार परिष्कार हो, विद्यानिवास मिश्र जीवन–रस, आचार–रस ग्रहण करते हैं और भारत, भारतीयता तथा भारतीय परंपरा का अपने समय और विवेक के संदर्भों में पुनराविष्कार करते हैं। सच्चे और सांस्कृतिक अर्थों में भारतीय मानस को औपनिवेशिक परतंत्रता की अदृश्य बेड़ियों से मुक्त करने के लिए, वास्तविक स्वाधीनता को चरितार्थ करने के लिए।

विद्यानिवास मिश्र रचनावली के चौदहवें खंड में संकलित वैचारिक निबंधों को पढ़ते हुए कोई भी यह अनुभव कर सकता है कि वे जिस भारत में जीते, सोचते और लिखते हैं, वह एक सतत् जागरूक भारत है, जो जितना भौगोलिक राजनीतिक है उससे ज्यादा सांस्कृतिक है। उनका सांस्कृतिक भारत किसी एक धर्म जाति संप्रदाय वर्ण वर्ग की संस्कृति से न तो आकार ग्रहण करता है और न संचालित होता है। उनके भारत के सांस्कृतिक सोच के निर्माण में उदार वैश्विक चेतना, वसुधैव कुटुंबकम और मानवीय विवेक की उदात्तता की मुख्य भूमिका है। उनका मानना है कि भारतीय होने का अर्थ है ''लोक के लिए, विश्व के लिए, लोक के सृष्टिचक्रप्रवर्तन के लिए जीना''। उनकी दृष्टि में विचार का अर्थ ही परंपरा से टकराते रहने और उसमें से अपने समय के लिए मूल्यवान विचारों का अमृत निकालते रहना है। परंपरा के साथ उनका यह दृष्टि संपन्न टकराव उच्चतर जीवन मूल्यों के पुनर्सृजन के लिए है। उनकी दृष्टि में भारत और उसकी विचार परंपरा का मुख्य सरोकार उच्चतर जीवन मूल्यों का यही सृजन और उसकी अनावरत परत है।

भारत और भारतीय चिंतन के क्रमिक विकास पर दृष्टिपात करते हुए मिश्र जी ज्ञान के आदि स्रोत वैदिक वाङ्मय में भारत की खोज करते हैं तो कहते हैं ''वैदिक साहित्य में वाक् अर्थात वाणी और अग्नि सहोदर हैं, दोनों विराट पुरुष के मुख से पैदा हुए। वैदिक संस्कृति की यात्रा अग्नि के पीछे अनुधावन की यात्रा है। अग्नि देवता

ज्यों–ज्यों बढ़ते गए उनके पीछे ऋषि आते गए, इस अग्नि का नाम है भरत। भरत अग्नि का उपासक है– भारत देश।'' इस व्याख्या में सभ्यता की विकास यात्रा को ऊर्जा के बढ़ते हुए महत्त्व की स्वीकृति के रूप में भी देखा जा सकता हैं। यहाँ जीवन में ऊर्जा और उसकी बढ़ रही उपादेयता के साथ ऋषि परंपरा का एक सार्थक संबंध विवेचन दिखाई पड़ता है। ''वैदिक वाङ्मय में इसीलिए भारतीयता का एक भास्वर रूप है, धधकने वाला रूप। ऋषियों ने भारत की अवधारणा इसीलिए यज्ञभूमि, कर्मभूमि के रूप में की। उसे चढ़े हुए धनुष के रूप में देखा, एक जागरूक संकल्प के रूप में देखा।''

भारतीय जीवन दृष्टि भारतीय प्रज्ञा और भारतीय परंपरा के मूल तत्त्वों को उद्घाटित करने के लिए वे बराबर भारत भारतीयता और परंपरा के विवेचन में तत्पर होते हैं और ऐसा करते हुए खुद को परंपरावादी कहे जाने से डरते नहीं हैं बल्कि अपने को परंपरा विवादी कहा जाना स्वीकार करते हैं और कहते हैं ''अपने समय की बयार को मैं पीठ नहीं दिखा सकता। मुझे परंपरावादी कहा जाता है, और यह भी कि मैं खारिज कर दिया गया हूँ, मुझे इसकी चिंता इसलिए नहीं होती कि खारिज करने वाले को भी खारिज करने वाला कोई है। पर इसकी चिंता जरूर होती है कि परंपरा विवादी ही बनो, पर उससे तटस्थ कैसे बन सकते हो जो तुम्हारी जमीन है। दूसरों के फतवे पर अपने घर को पराये से बदतर मान लेना कहाँ तक उचित है? मैं परंपरा के भीतर से गुजर कर उसका अतिक्रमण करता हूँ और अतिक्रमण की यह राह मुझे उसके भीतर दिखती रही है, उसके बाहर नहीं। परंपरा मुझे पीछे नहीं ले जाती निरंतर आगे की ओर धकेलती है और कहती है कि काल का घोड़ा बेतहाशा दौड़ा जा रहा है, जो पीछे देखेगा इस पर सवारी नहीं कर पाएगा। तुम घोड़े को दौड़ाओ, घोड़ा तुम्हें न ले जाए। खुद अपने काल को निचोड़ो क्योंकि दूसरों का निचोड़ा अमृत बेकार होता है।'' परंपरा के साथ विद्यानिवास मिश्र का यह संवादी स्वर उनके समूचे साहित्य का केंद्रीय सरोकार है। इस स्वर के मर्म तक पहुँचने वाला कोई भी पाठक या आलोचक इस बात से मुँह नहीं मोड़ सकता। मिश्र जी की यह सोच अपनी पूरी परंपरा से पुनः–पुनः संवाद करती है।

इसी संवाद में जब वे वाल्मीकि रामायण तक पहुँचते हैं तो राम के व्यक्तित्त्व का एक नया रूप पाते हैं। उनके राम भारतीय जन के राम हैं, जन–जन के राम हैं और उस राम के साथ होने का अर्थ है समृद्ध और धृष्ट असुरों से सताए गए ऋषियों का साथ देना। तपस्वियों का साथ देना, छोटी–छोटी भयभीत जनजातियों का साथ देना, कुटियों और वृद्धाश्रमों का साथ देना, सोने के महलों के खिलाफ होना। वे कहते हैं कि रामायण पूरे भारत को राम का घर बना देता है और पूरा भारत रामायण हो

जाता है।'' वे यही नहीं रुकते हैं, उनके राम सिर्फ भारत को अपना आयतन नहीं बनाते हैं, वे सिर्फ तपस्वी राम नहीं हैं। सत्य की खोज करने वाले राम भी हैं, तप को जीवन जगत के मर्म से जोड़कर सभ्यता–असभ्यता के संघर्ष में सभ्यता के पक्ष में धनुष लेकर खड़े होने वाले भी हैं। उनका उद्घोष है ''वे सत्य के लिए करुणा से उद्वेलित होकर धनुष लेकर वन में चल पड़ते हैं। वे राक्षसी – अहंकारी शक्तियों से जूझने चल पड़ते हैं, असहाय निरूपाय लोगों की सेना खड़ी करके। उनके साथ सीता चलती हैं, धरती की बेटी, तितिक्षा की प्रतिमूर्ति, निष्ठा की निष्कंप दीपशिखा, उनके साथ लक्ष्मण चलते हैं, भ्रातृत्व का साक्षात विग्रह, मैत्री के आकार और योग साधना के अवतार। रामायण की भारतीयता एक उदात्त, गुणवान, वीर्यवान, धैर्यवान, परहित निरत, क्षमाशील, विनयशील, पौरुष की साधना है, भारतीय स्त्री के रूप में सीता की अक्षुण्ण अप्रतिहत तेजस्विता की साधना है।''

रामकथा की यह नई व्याख्या डॉक्टर राममनोहर लोहिया के राम की याद दिलाने वाली है। ये राम सिर्फ सूर्यवंश के अवतारी राम न होकर जन–जन की करूणा की पुकार को सुनने वाले राम हैं। यह महाकाव्य मिश्र जी की व्याख्या में एक पूरा सभ्यता विमर्श रचता है, और समृद्धि के समानांतर संघर्ष के मूल्य की प्रतिष्ठा करता है। राजमहल, समृद्धि, राजधानी, मुकुट, स्वर्ण सिंहासन – राम का सबसे बैर हो जाता है क्योंकि इन सबका चरित्र जन पीड़क है, लोक पीड़क है। विद्यानिवास मिश्र की भारतीयता, जो अग्नि की साधना के अनुधावन वाले ऋषियों से तपकर निखर उठी थी वह अब धनुष के टंकार से आसुरी शक्तियों के शमन की ओर प्रवृत्त होती है।

स्वाधीनता संघर्ष के दौरान के भारतीय विचारकों में नए जीवन मूल्यों का जो विवेक विकसित हुआ था उसका प्रभाव पंडित जी पर भी होना स्वाभाविक है। इसी विवेक से वे अपनी परंपरा और शास्त्रों का मंथन करते हैं। समाज को वैश्विक चेतना के उदार जीवन मूल्यों से संपन्नतर करने का जतन करते हैं। इस नए जीवन विवेक से संपन्न होने के कारण वे मानते हैं कि भारतीय वाङ्मय का सभ्यता और संस्कृति विमर्श जब इतिहास की धारा के साथ आगे बढ़ता है तो महाभारत जैसा ग्रंथ सामने आता है। केवल इस महाकाव्य में – महत् काव्य में, अपने लिए धर्म छोटे धर्म के रूप में और दूसरों के लिए धर्म बड़े धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता है। वे महाभारत पर नई दृष्टि से विचार करते हुए कहते हैं कि वह केंद्रापसारी और केंद्राभिमुख शक्तियों के संघर्ष की कहानी भी है। युधिष्ठिर के साथ सभी केंद्राभिमुख राज्य हैं और दुर्योधन के साथ केंद्रापसारी शक्तियाँ हैं। यहाँ असली लड़ाई राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक है। सभ्यताओं का यह संघर्ष तो इतिहास में चलता ही रहता है मिश्र जी अपनी आधुनिक भारतीय दृष्टि के अनुसार जब इसकी व्याख्या में उतरते हैं तो स्पष्ट करते हैं कि

''असली लड़ाई है छोटे धर्म और बड़े धर्म के बीच। एक बड़ा धर्म होता है जो जाति के ऊपर जाकर सोचता है जो मनुष्यता की परिधि के बाहर भी देश को देखता है सबकी बात सोचता है, वह अकेले जाने का खतरा उठाता है, क्योंकि वह सबका है। एक छोटा धर्म होता है, जो सिर्फ अपनी बात सोचता है, विश्व को अपना आखेट समझता है, जो सिर्फ स्वजनों की बात सोचता है जो सृष्टि को उपभोग्य मानता है जो कर्म भी इसलिए करता है कि उसका नाम हो, उसकी कीर्ति हो। महाभारत इन दोनों प्रकार के कर्मों में बड़े धर्म को श्रेष्ठ प्रमाणित करता है, वह भारत की सावित्री है, वह श्रेष्ठता की अवधारणा प्रस्तुत करता है। ऐसी श्रेष्ठता आती है उद्योग से, अपने उद्योग से, विवेक से, इस अविचल संकल्प से कि 'होकर रहेगा'।'' अक्सर सहज भाव से कह दिया जाता रहा है कि महाभारत में अन्याय और न्याय की लड़ाई है, सत्य और असत्य का संघर्ष है इसमें न्याय जीतता है सत्य जीतता है पर विद्यानिवास मिश्र के लिए यह धर्म और धर्म का संघर्ष है। छोटा धर्म है अपने स्वार्थों के लिए, अपनी गद्दी बचाए रखने के लिए, हस्तिनापुर पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए कितने भी अनाचार करते रहे इसके लिए। बड़ा धर्म है वृहत्तर उद्देश्यों के लिए, तप का वरण करना वनवासी जीवन जीते हुए शक्ति अर्जित करना और इस शक्ति से प्रतिशोध न साधना बल्कि बड़े मूल्यों के लिए सत्य का आचरण करते हुए षडयंत्रों को परास्त करना। महाभारत का संदेश है– ''करुण होना, दूसरे के बारे में सोचना और यथासंभव नृशंस नहीं होना। यही सच्ची भारतीय परंपरा है।''

अपने अनेक निबंधों में, मिश्र जी पुराणों में भारत भूमि की महिमा का जो मनोरम वर्णन है उसका उल्लेख करते हैं। इन उल्लेखों में यह भारत भूमि भौगोलिक सीमाओं प्राकृतिक परिवेश की मनोरम दृश्यावली, पर्वत, सागर नदियों की पुण्यसलिता धाराओं तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि निरंतर सांस्कृतिक मूल्यों के निखार की तपोभूमि के रूप में सामने आती है। उनके लिए भारत भोग–भूमि नहीं तप त्याग और जीवन में निरंतर सबकी साझेदारी, सबके लिए साझेदारी की भूमि के रूप में वरेण्य होती है। भारतीय परंपरा की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए वे इसमें निहित उदार मानवीय विवेक का बार–बार उल्लेख करते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं– ''मध्ययुगीन भारतीय साहित्य पर इस उदार विवेक की गहरी छाप है। यहाँ तो भारतीय संस्कृति की चर्चा भी नहीं है। वहाँ केवल 'शबार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाइ' या 'साधन धाम विवुध दुर्लभ तनु' का स्वर गूँजता रहता है। इस साहित्य के लिए न कोई हिंदू है न मुसलमान, न वह गोरा है, न काला, बस वह भगवन्मय है और मस्त है, नहीं है तो बेचैन है, कोई तीसरी स्थिति है ही नहीं। कहा जा सकता है कि कहीं भी इसमें राष्ट्रीय चेतना या जातीय अस्मिता की गंध नहीं मिलती, कहीं

भी स्वाभिमान नहीं दिखता है। पर राष्ट्रीयता क्या केवल खोखले स्वाभिमान से ही बनती है? क्या ऐसी राष्ट्रीयता 'यह राष्ट्र मेरा है', यह अभिमान मात्र है और कोई मानवीय मूल्य न हो तो दो कौड़ी की होती है। क्या हम स्वयं नहीं देख सकते हैं, खोखली राष्ट्रीयता का ही यह परिणाम है कि हम एक भयंकर रिक्तता का अनुभव कर रहे हैं।'' यह है सच्चा भारत – बोध और सच्ची भारतीयता। आज के भारत के संबंध में आज के खोखले होते जा रहे मूल्यों और अवधारणाओं के संदर्भ में विद्यानिवास मिश्र जैसे परंपरा के संवाहक और उसके निरंतर नए–नए रूपों की खोज और व्याख्या करने वाले चिंतक की यह परखपूर्ण विवेक संपन्न चेतावनी बहुत मूल्यवान है।

विद्यानिवास मिश्र देशी ठाट के विचारक हैं इसीलिए भारतीय मनीषा के अकृत्रिम गँवई जीवन की गंध उनके आचार–विचार की पृष्ठभूमि में सदैव सहज ही सक्रिय रहती है। इसलिए पहली नजर में या ऊपर–ऊपर से देखने वालों को वे परंपरावादी पंडित दिखते थे। परंपरावादी कहकर उन्हें पाठकों से दूर करने की कुचेष्टा भी कुछ नामी, गिरामी, वामी विद्वानों द्वारा की जाती रही, पर उन्हें जितनी ही दूर ठेला जाता रहा वे उतने ही गहरे धँसते चले गए हिंदी के पाठकों–लेखकों विचारकों और संस्कृति चिंतकों के बीच। यह अनायास नहीं है कि विद्यानिवास मिश्र ने परंपरा और भारतीयता पर शायद सबसे ज्यादा विचार किया है। विचार क्या किया है इन दोनों अवधारणाओं पर, जड़तापूर्ण अभारतीय दुराग्रहों की वजह से औपनिवेशिक चिंतन की रूढ़ियों का जो गर्द जमा हो गया है उसे साफ करते रहे हैं। पंडित जी ने अपने पूरे साहित्य में इसे बार–बार दुहराया है और बार–बार चेताया है कि यदि हमने भारतीयता और परंपरा जैसे मूल्यवान शब्दविग्रहों को ठीक से न समझा तो न हमारी परंपरा बचेगी न हमारी संस्कृति बचेगी न भारत बचेगा न भारतीयता बचेगी–उस अर्थ में तो कतई नहीं, जिस अर्थ में हमारी ऋषि परंपरा ने इसे स्थापित किया है। वे बराबर सतर्क भी रहते हैं कि ऐसा न हो कि हम एक तरह की गर्द साफ करते हुए दूसरे तरह की रूढ़ियों के शिकार हो जाएँ, परंपरा के नाम पर पुरातन पंथी होते चले जाएँ।

मिश्र जी बार–बार चिंता व्यक्त करते हैं कि हम लोग एक पराई भाषा में सोचने के अभ्यस्त होने के कारण अपनी परंपरा के शब्दों को दूसरों की अवधारणा के संदर्भ में, दूसरों की नजर से देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। जैसे धर्म को रिलीजन के अर्थ में, वैसे ही परंपरा को ट्रेडिशन के अर्थ में। जबकि शब्द एक सांस्कृतिक प्रवाह में अर्थ ग्रहण करते हैं, उनके साथ एक जीवन दृष्टि भी संपृक्त रहती है। ठीक यही परंपरा की समझ के साथ भी घटित हुआ। वे स्पष्ट करते हैं कि ट्रेडिशन का अर्थ है ज्यों का त्यों हस्तांतरण, जो परंपरा से अलग है। परंपरा का अर्थ ठीक ऐसा ही नहीं समझना चाहिए। पंडित जी का कथन है ''भारतीय परंपरा की बात करने का अर्थ है। सौ–सौ

काँटों से उलझना। इस उलझन का जोखिम उठाकर सबसे पहले मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि परंपरा और ट्रेडिशन यद्यपि पर्याय बन गए हैं पर और भी ठीक यह कहना होगा कि परंपरा ट्रेडिशन का अनुवाद बन गया है। परंतु ट्रेडिशन का अर्थ है ज्यों का त्यों हस्तांतरण, परंपरा का अर्थ है उत्तरवर्ती का उत्तरवर्ती, आगे के आगे या श्रेष्ठ से श्रेष्ठ। इसलिए परंपरा में पूर्ववर्ती का समावेश तो है पर उससे आगे जाने की बात भी है। पूर्ववर्ती का सातत्य है। आधिपत्य नहीं। उसमें पूर्ववर्ती की निरंतर परीक्षा भी सम्मिलित है।'' अपनी इस नई लगने वाली व्याख्या के संदर्भ को परंपरित साहित्य से पुष्ट करने के लिए वे निःसंकोच कालिदास का श्लोक उद्घृत करते हैं–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं। न चापि सर्वं नवमित्यवधम्।।
संतः परीक्ष्यांतरद्भजन्ते। मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।

पुराना होने से ही कोई अच्छा नहीं हो जाता और नया होने से ही कोई त्याज्य नहीं हो सकता। जो लोग जीना जानते हैं वे जाँच परखकर ही एक का स्वीकार और दूसरे का परित्याग करते हैं। पंडित जी रेखांकित करते है– जो जीना जानते है।' यह एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है, व्याख्या का, त्याग और ग्रहण के विवेक का 'जीना जानना'। जीवन को, अपने समय को, अपने समय की जरूरतों को पहचानना और उसके साथ निबाहते हुए जीना ही असली जीना है। पंडित जी जिस परंपरा की बात करते हैं वह इस विवेक से संपन्न होने वाली निरंतर श्रेष्ठता की उन्मुख होने वाली है। मुग्धभाव से मूढ़भाव से मरे हुए बच्चे को अपनी छाती से चिपकाए या मोहग्रस्त रहने वाली बंदरिया की मूढ़ता वाले लोग, परंपरा के विवेक की पहचान नहीं करते। पंडित जी परंपरा को समझाते हुए जब कहते हैं कि उसमें अंशतः स्वीकार और अंशतः परिहार दोनों हैं, तो यह भी जोड़ते हैं कि लगभग यही स्थिति संस्कार की भी है। दोष हटाकर गुणों का आधान करना। पर वे दोनों के सूक्ष्म अंतर को भी स्पष्ट करते हैं ''परंपरा संस्कार से इस मायने में विशिष्ट है कि संस्कार अभ्यासवश एक छाप बन जाता है। स्मृति बन जाता है। कभी–कभी वह स्मृति अबोध भी हो जाती है। परंतु परंपरा सतत जागरूक रहती है। वह स्मृति की छँटाई है और स्मृति के बावजूद नया संकल्प भी। हमारा जातीय बोध परंपरा और रूढ़ि में इसी से अंतर करता आया है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'परंपरा बंधन नहीं' में वे परंपरा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– ''परंपरा सिद्ध वस्तु नहीं है, वह निरंतर साध्य है। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है परंपरा इसीलिए साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह अवश्य स्वीकार करती है पर इसलिए कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर, विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार को कभी जड़ न होने दे, इतिहास की तरह सीधी रेखा में नहीं वर्तुल गोलाइयों में उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी होती रहे। वह इतिहास चक्रों के व्यूह को तोड़ती रहती है। मनुष्य की स्वाधीनता के

नए आयाम तानती चलती है। वह मनुष्य को विचारों से नहीं विचारों को मनुष्य से मनुष्य की संपूर्णता की अपेक्षा से बाँधती चलती है। पारंपरिक दृष्टि से निर्णय का कोई एक दिन नियत नहीं है। सत्ता का कोई केंद्रीकरण नहीं है। हर सूर्योदय में वह नई होती है, हर दुपहरी में प्रखर होती है और हर संध्या में ध्यानमग्न होती है हर चाँदनी में स्पप्नाविष्ट होती है वह बिना मरे नया जन्म लेती है।'

परंपरा का यह सतत जाग्रत जीवंत स्वरूप ही मिश्र जी का परंपरा बोध है। वे इसी परंपरा के पोषक और पुरस्कर्ता हैं। वे इसे ही सच्ची भारतीय परंपरा मानते हैं। यही सनातन है, जिसमें त्याग और ग्रहण का जीवनसंपृक्त विवेक है। जो लोग पुरातन को चिपकाए हुए अपनी विजय के शंखनाद से उन्मादी रूप बनाकर नाच रहे हैं दरअसल उन्हें न परंपरा की समझ है और न भारतीयता की। परंपरा और भारतीयता के भाव का निर्वाह संग्रह और त्याग के पहचानपूर्ण विवेक से ही संभव है। *संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने,* में जिसे छोड़ना है उसे भी समझकर छोड़ना है और जिसे लेकर अपनी जीवनयात्रा में निकलना है उसे भी समझकर ही अपने पार्श्व में जगह देना है। इस पहचान का गहरा संबंध परख से है। परीक्षण से है, तभी तो पंडित जी कालिदास को उद्धृत करते हैं। ''सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते।'' यह परीक्षण समय की पहचान से जुड़ा है किंतु ध्यान रहे यह समय समसामिकता मात्र नहीं है, यह पंडित जी की दृष्टि में काल के अविच्छिन्न प्रवाह की वर्तुल गति की परिधि का वह बिंदु है जिस बिंदु के समानांतर संतों को, सज्जनों को परीक्षण करना है और उसे जीवन रस से सराबोर करना है। पंडित जी के यहाँ जीवन–रस का तात्पर्य है एक सामूहिक साझेदारी जिसमें सब, सबके हैं। सब सबके लिए हैं, अलग–अलग अहं का भाव नहीं बल्कि हम का समावेशी भाव।

विद्यानिवास मिश्र परंपरा के साथ इतिहास के घालमेल को अनावश्यक मानते हैं, उनको लगता है कि भारतीय विचार प्रणाली पर पश्चिम के दबाव ने या यों कहें कि पश्चिम की इतिहासबद्ध या कि इतिहासग्रस्त जीवन दृष्टि के संपर्क में आने पर हमने अपनी परंपरा की ताकत को उसके प्रवाह को जानने समझने और पहचानने का विवेक तिरोहित कर दिया। हमने प्रगति को, विकास को, अपने जीवन और समाज का मुख्य एजेंडा बना लिया और इस ख्याल में खो गए कि परंपरा इसमें बाधक बनती है। पंडित जी परंपरा और इतिहास में परंपरा को महत्त्व देते हैं क्योंकि परंपराएँ लोक की अजस्र धारा से निःसृत हैं और इतिहास में सिर्फ विजेताओं की क्रूरता का महिमामंडन है। परंपरा और इतिहास के घालमेल पर पंडित जी अपना क्षोभ छिपाते नहीं हैं बल्कि साफ शब्दों में अपना मंतव्य इस प्रकार व्यक्त करते है–

''हमारा समाज परंपरा प्रधान रहा है— इसका अर्थ यह नहीं कि वह अतीत से बँधा हुआ समाज है। दूसरे शब्दों में वह इतिहास से बँधा नहीं रहा है। यह उसकी कमजोरी भी रही है। शक्ति भी रही है। पश्चिम के इतिहासबद्ध समाज के संपर्क में आने पर परंपरा को इतिहास से जोड़ने की कोशिश हमने डेढ़ दो सौ वर्षों से की और हमने अपनी ऐतिहासिक परंपरा का एक आकार भी खड़ा किया। पर जो लोग उसी आकार के लिए भावातिरेक में बहे वे परंपरा से बिछुड़ गए। जिन लोगों ने भारत के गौरवशाली इतिहास के और उसके ह्रास के सीमांत बनाए वे गौरवशाली इतिहास के उपजाए स्वप्नों के शिकार हो गए, उन्होंने उस अजस्रधारा को अनदेखा कर दिया जो विजेताओं, निर्माताओं, सम्राटों और उनके प्रशंसकों को किनारे छोड़ती आई, केवल एक भीतरी प्रवाहमयता और प्रखरता पर उसका ध्यान रहा, उसने इस प्रखरता के द्वारा ही, कहाँ—कहाँ का गंदलापन, ठहराव और अवरोध नहीं काटा और इस प्रखरता के कारण ही वह दूसरी अन्य धाराओं को अपने साथ लेने का निरंतर प्रयत्न करती रही। इसे अनदेखा करने का परिणाम यह हुआ कि परंपरा से हमें खीझ होने लगी है। क्योंकि हमारे लिए धारा नहीं धारा की छाड़न, छाड़न भी नहीं छाड़न की सड़ांयध परंपरा बन गई। हम सोचने लगे हैं कि इस परंपरा के रहते हम प्रगति नहीं कर सकते, हम आज आधुनिकता की तेज दौड़ में पिछड़े रह जाएँगे। हम पारंपरिक मूल्यों की अवज्ञा करने लगे, हम नए इतिहास का निर्माता होने का हवाई ख्याल पालने लगे।''

पंडित जी अपनी परंपरा का महिमा मंडन ही नहीं करते हैं बल्कि उसके स्याह पक्षों का भी न सिर्फ उल्लेख करते हैं, बल्कि उसको उचित उदाहरणों से स्पष्ट भी करते है। उनका मानना है और ठीक ही मानना है कि परंपरा के नाम पर हमारे समाज में 'ढोंग' और 'लोक लाज' जैसी दूषित वृत्तियाँ भी हैं। लोकलज्जा का रूप ऐसा प्रबल हो गया है कि सब गतानुगतिकता में लय होते जा रहे हैं और कोई साहस का परिचय नहीं देता है जो साहस का परिचय देता है उसे हम सराहने की जगह अलग—थलग करने लगते हैं। परंपरा में ढोंग का जिक्र करते हुए पंडित जी बताते हैं कि हम चांडाल में शिव के स्वरूप को तो स्वीकार करते हैं पर उसे चांडाल ही समझते रहते हैं। यह हमारी पूरी दार्शनिक चिंतन परंपरा का एक विक्षोभ है। बार—बार फेटी गयी, कही गई बातों से हम इतने आविष्ट हो जाते हैं कि हम अपने विवेक और अपनी तर्क प्रणाली की उपेक्षा करके ढोंग और लोकलज्जा के वशीभूत हो जाते हैं और ऐसा होते ही हमारी परंपरा के रूढि बन जाने का खतरा सामने आकर खड़ा हो जाता है।

भारतीय परंपरा की विशेषताओं पर विचार करते हुए पंडित जी इसमें 'स्वीकार भाव की प्रबलता पर बल देते हैं लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है पंडित जी हर शब्द को नया अर्थ देने की कोशिश करते हैं। उनकी दृष्टि में स्वीकार भाव यह

नहीं है कि यह परंपरा दूसरी तमाम उपधाराओं को अपने में समेटती चलती है और उसे अपना बनाती चलती है। वे कहते हैं कि ''हमें कोई पराया नहीं लगता सब अपने लगते हैं। हम न रंगों पर जाते हैं, न पूर्वजों पर, न शक्लों पर, हम जाते हैं मनुष्य के भीतर की उस बैचेनी पर जो उसे न शरीर रहने देती है, न भाषा, उसे मन और भाव बना देती है। आज के विश्व में इस स्वीकार भाव की जो माँग है उतनी कभी नहीं रही होगी। जब आदमी स्वयं को बाहर देखता और उससे जुड़ने को बेचैन होता है तो न वह भोक्ता रहता है, न उद्धारकर्ता, न योग्य, न आश्रित, न विसर्जित, न निर्वासित, न विकसित, न विकासशील।''

विद्यानिवास मिश्र जिस उदार समावेशी भारतीयता और उसके सहज प्रवाह की बौद्धिक निर्भयता को मूर्त करने वाली परंपरा के साधक और आराधक हैं उसको उसकी बौद्धिक निर्भयता ही सबसे ज्यादा गतिशील बनाती है। पंडित जी इस पर खास बल देते हैं। वे स्वामी करपात्री से की गई अपनी वार्ता का उल्लेख करते हुए स्पष्ट करते हैं कि हमारी चिंता, पद्धति और प्रणाली को बचाने की कभी नहीं रही असली चीज है भाव। यह भाव उसे निरंतरता देता है, सब टूट गया, सब कुछ छूट गया लेकिन एक बौद्धिक निर्भयता इस देश काल परिवेश में लगातार सक्रिय रही। उनका मंतव्य है– ''यह परंपरा निर्भय न होती तो वेदों पुराणों के बाद मानस नहीं रचा जाता। न कबीर पैदा होते, न रामकृष्ण परमहंस। परंपरा प्रत्येक उपलब्धि का विसर्जन करती चलती है। प्राचीन उपलब्धि की आसक्ति में बँधना नहीं चाहती जो लोग आर्य भारत की उपलब्धियों का ढोल पीटते हैं, हमारे वेदों में विमान विद्या थी, हमने अजंता और एलोरा जैसी निर्मिति की, उन्हें गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि अजंता और एलोरा निर्माण मात्र नहीं है वह निर्माण की परंपरा भी है। नवनिर्माण की चुनौती भी है। निरहंकार कलासृष्टि के आह्वान भी हैं।'' पंडित जी अतीत के मोह में फँसने को चुनौती की तरह मानते हैं। उनको लगता है कि अतीत के गौरव के मोह में फँस जाने से बचना चाहिए वे महाभाव की निरंतरता के लिए रूढिवादी यथास्थितिवादी सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने का आह्वान करते हैं। पर यह भी चाहते हैं कि उसे किसी ऐसी भावना से या उद्देश्य से तोड़ना चाहिए जिससे व्यापक लोकहित की सिद्धि हो। जिसे तोड़ने में, निहित स्वार्थों की सिद्धि होती है वह तोड़ना, तोड़ना नहीं होता है। असली तोड़ना सार्थक तोड़ना तो तभी सिद्ध होगा जब उससे व्यापक लोकहित की सिद्धि हो। व्यापक लोकहित पर पंडित जी का खास बल है। यह व्यापक लोकहित ही बौद्धिक निर्भयता का भी काम्य होना चाहिए। पंडित जी का ग्रहीता भाव इतना तत्पर है कि उसमें करपात्री जी जैसे कट्टर कर्मकांडी से भी विचार और भाव को ग्रहण करने का विवेक है और सारी परंपरा को सारे कर्मकांड को चुनौती देने वाले

कबीर से भी ग्रहण करने का भाव है। यह बौद्धिक निर्भयता यदि एक ओर भारतीय परंपरा की विशेषता है तो दूसरी ओर उसके अप्रतिम व्याख्याता पंडित विद्यानिवास मिश्र की भी विशेषता है। बौद्धिक निर्भयता की साधना के लिए वे करपात्री जी और कबीर को एक ही संदर्भ में आदर के साथ याद कर सकते हैं। क्योंकि उनके लिए उनकी विचार प्रणाली के लिए कोई पराया नहीं है। सब अपने हैं। विचार भी, प्रकृति भी। उनका हमेशा मानना है कि सबके साथ गहरी आत्मीयता का भाव ही सृष्टि को बचाएगा। सृष्टि को बचाने की चिंता में, प्रकृति को बचाने की चिंता में पंडित जी कहते हैं कि जब हम यह सोचने को तत्पर होंगे कि 'हम लकड़ी नही जला रहे हैं अपनी हड्डियाँ जला रहे हैं' तब हम इस सृष्टि को, इस प्रकृति को बचा सकने के लिए समर्थ हो पाएँगे।

जीवन में रस की तलाश को वे भारतीय जीवन और परंपरा की सबसे बड़ी विरासत मानते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि 'जीवन में रस की तलाश ही अमरत्व है।' जीवन रस के प्रति आसक्त मन ही सुख में भी दुख और दुख में भी सुख का अनुभव कर सकता है। जीवन के रस का आस्वाद हमें जीवन के किसी भी अंश को हेय नहीं लगने देता। पंडित जी कहते हैं कि 'हम पूरे जीवन को एक आस्वाद के रूप में देखते हैं—जीते हैं।' यह आस्वाद सिर्फ चखने या निगलने से नहीं मिलता। निगलने को भोग का आशय मानने वाले जीवन के रस के आस्वाद को नहीं पहचान सकते। पंडित जी कहते हैं कि "यह आस्वाद न मीठा होता है, न कड़वा, वह काषाय होता है, आम्र मंजरी के आस्वाद की तरह, तांबूल के आस्वाद की तरह या पके आँवले के आस्वाद की तरह। इसलिए बुढापा भी भयभीत नहीं करता, वह धीरज जगाता है। वह मृत्यु की आशंका से ग्रस्त नहीं होता, उसकी प्रतीक्षा करता है।" इसके आगे पंडित जी व्याख्या में उतरते हैं और कहते हैं कि "जब सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ राक्षसी हो रही हैं तो इस जीवन रस के आस्वाद का महत्त्व बढ़ जाता है। भिन्न परंपराओं और जीवन दृष्टियों का प्रभाव यह होता है कि हेयिंग्वे जैसा संपन्न और प्रतिष्ठित कृतिकार कैंसर से पीड़ित होने पर आत्महत्या के बारे में सोचता है और महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज जीवन को अखंड साधना के रूप में जिए चले जाते हैं। यह फर्क है जीवन दृष्टियों का। एक ही रोग की दो प्रतिक्रियाएँ इसीलिए संभव हो सकीं कि एक के लिए जीना सिर्फ जीना है दूसरे के लिए जीने की ललक एक वरदान है जिसे जीवन की साधना बना लेना है।"

पंडित जी की नजर में भारतीय परंपरा की विशिष्टता का एक रूप यह भी है कि वह वाक्‌केंद्रित है। "भारतीय परंपरा की वाचिकता उसे लोक से, उस लोक से, जो जीवन के मर्म को केवल जीने में नहीं बल्कि सौंपने में भी पहचानता है, रससिक्त

होती चलती है। वह देने और ग्रहण करने के निर्जीव व्यापार तक सीमित नहीं है, बल्कि सौंपने वाले को सौंपने की क्षमता अर्जित करनी होती है और ग्रहण करने वाले को ग्रहीता भाव से अपने को तैयार करना पड़ता है। दोनों के लिए एक विशेष प्रकार का तप बहुत जरूरी होता है। यह तप जंगल में जाकर धूनी रमाने से नहीं संभव होता है। यह संभव होता है जीवन–रस से आप्लावित होने पर। जिसके भीतर जीवन–रस की यह साधना नहीं है वह न तो सौंपने का अधिकारी होता है और न तो स्वीकार करने का। देने वाला इस विश्वास से दे कि जो वह दे रहा है उसमें वृद्धि होगी और लेने वाला इस अकिंचन भाव से ले कि इसे पाकर वह धन्य हो रहा है।'' भारतीय परंपरा की वाचिकता के महत्त्व की ओर इंगित करते हुए पंडित जी कहते हैं ''भारतीय परंपरा को वाक्केंद्रित कहने के पीछे एक दूसरा अर्थ भी है। भारत में संस्थाबद्धता को न्यूनतम महत्त्व मिलता है, चाहे वह संस्था धर्म संस्था हो, राज्य संस्था हो, समाज संस्था हो। किसी भी धर्माचार्य, किसी भी शासक या किसी भी समुदाय–नायक का महत्त्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परंपरा की स्मृति को सुरक्षित रखता है, वह उसका प्रसार करता है, पर इनमें से कोई भी अंतिम प्रमाण नहीं है। अंतिम प्रमाण है वाक् तपःपूत वाणी किसी व्यक्ति या किसी पुरुष की नहीं, वह सर्वमय हुए द्रष्टा की है, उस द्रष्टा की है जो सब में होकर सबको देखता है, संपूर्ण जीवन को देखता है।''

भारतीय परंपरा की व्याख्या करते हुए पंडित जी उसे नायक केंद्रित, संस्था केंद्रित, राज्य केंद्रित न होने को प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि कबीर तुलसी नानक ही नहीं शंकराचार्य और वेद व्यास तक एक परंपरा के प्रतीक बनकर आते हैं और इसीलिए यह परंपरा जड़ नहीं हो सकी रूढ़ि नहीं बन सकी। इसका लचीलापन इसकी ताकत है। आजकल तो इस लचीलेपन को कमजोरी की तरह व्याख्यायित करके हिंस्र और क्रूर प्रतिशोध के लिए ललकारने का फैशन चल पड़ा है।

प्रतिशोध की यह भावना इतिहासग्रस्तता की देन है। इतिहास बराबर प्रतिशोध के लिए ललकारता है। वैर मूल न जाना यह हमारी परंपरा पर औपनिवेशिक दबाव का परिणाम है। भारतीय परंपरा का महत्त्व उसके अलौकिक या दैवीय होने में नहीं है बल्कि उसके मानवीय होने में है। पंडित जी का मन सर्जक का मन है इसलिए वे बराबर रचनाकारों को उद्धृत करते हैं। मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के विषय में उन्होंने वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग का हवाला दिया है। सीता की खोज में लंका पहुँचे हनुमान लंका दहन के बाद, सीता के समक्ष प्रस्तुत होकर उन्हें वापस राम के पास ले जाने का अनुरोध करते हैं। सीता उनके इस अनुरोध का उत्तर देते हुए कहती हैं कि ''मैं राम के मानवीय पराक्रम से समुद्र पार कर उनके पास जाना चाहती हूँ

दिव्यता के पराक्रम से नहीं।'' इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए पंडित जी यह जोड़ना नहीं भूलते हैं कि जिस देश का आदिकवि मानवीय शक्ति को इतना महत्त्व दे रहा है वही देश आज तंत्र–मंत्र अलौकिक चमत्कारों के पीछे पागल हुआ जा रहा है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

भारतीय परंपरा की अनैतिहासिकता और राज्याश्रयों में लिखे जाने वाले इतिहास से उसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण बताते हुए पंडित जी एक और बहुत मूल्यवान बात कहते हैं ''ऐतिहासिकता से ग्रस्त भारतीय मानस ने उन्नीसवीं शताब्दी में यह गलत लीक पकड़ी और अपने को विश्वगुरु मानने का दंभ पालना शुरू किया। अपना उदार और अनैतिहासिक स्वरूप भूलकर वह अतीत गौरवजीवी होने लगा।'' पंडित जी का मानना है कि भारतीय मन बुद्धि और मनीषा के अतीत गौरवजीवी होने से, परंपरा में चल रही समर्पण और अतिक्रमण की दुहरी प्रक्रिया बाधित हुई है। भारतीय परंपरा की विशिष्टता यह भी है कि उसमें मिथकों की पुनर्रचना की शक्ति है। यही उसकी पुनर्नवता है, वह बार–बार पुरानी पड़कर भी बार–बार नए रूपबंधों में सामने आ जाती रही है।

पंडित जी, लोकाचार, वेद, शास्त्र, पुराण, बौद्ध दर्शन, जैनमत, भक्ति काव्य, लोक में प्रचलित गीत, लोककला, भित्तिकला, मूर्तिकला, आदिवासीकला आदि के माध्यम से अपनी परंपरा को समझाने की कोशिश बराबर एक रचनाकार के रूप में करते हैं। उनके लिए इसकी समावेशी उदारता, साझेदारी की व्यापकता, वाक्केंद्रिता, अनैतिहासिकता मिथकों की पुनर्रचना की शक्ति इसे वसुधैव कुटुंबकम की भावना से भरने वाली हैं।

भूमण्डलीकरण और व्यावसायिकता के इस आक्रामक वातावरण में इस परंपरा के गतिशील तत्त्वों को बचाए रखना एक चुनौती है। खास तौर से तब तो और भी बड़ी चुनौती है जब राज्य, धर्म और समाज सब इसे बाजार के हवाले करने की अभिशप्त विवशता में भी उत्सुक और आकुल हैं।

❑❑❑

संपर्क

चित्तरंजन मिश्र– 162, संत हुसैननगर, पादरी बाजार रोड, गोरखपुर (उ. प्र.) –273014, ईमेलः chittranjanmishra@gmail.com, मो. 9415314472

एक शताब्दी पुरुष का 'रागदरबारी'

गिरीश पंकज*

हिंदी साहित्य के प्रखर व्यंग्य शिल्पी श्रीलाल शुक्ल का यह शताब्दी वर्ष है। 31 दिसंबर,1925 को उनका जन्म हुआ था। 18 अक्तूबर, 2011 को उनका निधन हुआ। उन्होंने विपुल मात्रा में साहित्य लेखन किया, लेकिन उनका एक उपन्यास हिंदी में अब तक शीर्ष पर बना हुआ है और वह है 'राग दरबारी'। हम सब जानते हैं कि संगीत की दुनिया में मशहूर शास्त्रीय राग है 'दरबारी'। इसका अपना महत्त्व है। इसे प्रायः मध्यरात्रि में गाया जाता है। राग दरबारी की प्रवृत्ति शांत है। गंभीर वातावरण में यह राग छेड़ा जाता है। इसका गायन, वादन वातावरण में भक्तिरस घोलता है। विलंबित लय में जब इसका गायन होता है, तो श्रोता झूम उठते हैं। इसे रागों का राजा भी कहते हैं। इस राग के आधार पर बने कुछ फिल्मी गीत काफी मशहूर हुए जैसे– 'सीमा' फ़िल्म का गीत "तू प्यार का सागर है", 'शहीद्' फिल्म का मशहूर गीत सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है और 'मुगले आजम' का अमर गीत "मोहब्बत की झूठी कहानी पे रोए"। और भी कई गीत हैं, लेकिन मैं जिस 'राग दरबारी' की बात कह रहा हूँ, वह हिंदी उपन्यासों का राजा है, यानी श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' जो साहित्य की दुनिया में शाश्वत राग की तरह अब तक गूँज रहा है। अनेक यथार्थवादी कथाओं के सहारे पिरोया गया यह उपन्यास सन् 1968 में प्रकाशित हुआ। अपनी व्यंग्यात्मक भाषा के कारण यह उपन्यास अलग से दिखाई दिया। कह सकते हैं कि श्रीलाल शुक्ल ने तब उपन्यास के बने–बनाए पारंपरिक ढाँचे को एक तरह से ध्वस्त करके बिलकुल नई भाषा गढ़ी, जो व्यंग्यप्रधान थी, रंजक थी, विनोदपूर्ण थी, चुटीली थी और जिसमें लोक का संस्पर्श था। लोक प्रचलित मुहावरे थे। लोक प्रचलित ठेठ भदेस भाषा का आस्वादन भी था। इसलिए यह उपन्यास आते साथ ही लोकप्रिय हो गया। इतना लोकप्रिय कि एक साल बाद ही उसे साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिल गया। यह पुरस्कार एक तरह से शुक्लजी की साहसिकता को भी दिया गया था। एक बड़े प्रशासनिक पद पर रहते हुए भी उस समय की देशज व्यवस्था या सिस्टम पर करारा प्रहार करना हिम्मत का काम था। वैसी रचनात्मक हिम्मत आज भी बड़े अफसर नहीं दिखा पाते। हालाँकि प्रारंभ में इस

* संपादक, 'सद्भावना दर्पण' (भारतीय एवं विश्व साहित्य के अनुवाद की त्रैमासिकी) पत्रिका।

उपन्यास के प्रकाशन को लेकर प्रशासनिक दिक्कतें तो आईं, मगर अंततः उपन्यास छप गया। और उपन्यास चर्चा में भी आया क्योंकि इसे सामान्य लेखक ने नहीं, एक बड़े अफसर ने लिखा। वाहवाही भी खूब हुई क्योंकि एक अफ़सर का उपन्यास था। हिंदी पट्टी की मानसिकता है कि किसी अफ़सर की कोई कृति आती है, तो उसे हाथों–हाथ उठाया जाता है। खैर, 'राग दरबारी' अपवाद है। लोगों को धीरे–धीरे समझ में आ गया कि श्रीलाल अफसर बाद में थे, पहले एक लेखक ही थे। तभी तो उन्हें व्यास सम्मान, यश भारती, ज्ञानपीठ और पद्मभूषण तक प्राप्त हुआ। 'राग दरबारी' उपन्यास अब श्रीलाल शुक्ल जी की शाश्वत पहचान बन गया है। एक ब्रांड जैसा। अगर कोई जिज्ञासु पूछता है कि व्यंग्य उपन्यास कैसा होना चाहिए, तो जानकार व्यक्ति सबसे पहले एक ही नाम कहता है, श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' जैसा। एक नारा भी लग सकता है, व्यंग्य उपन्यास कैसा हो, राग दरबारी जैसा हो!

शुक्ल जी ने अपनी पहली व्यंग्य रचना कॉलेज जीवन के दौरान लिखी थी। कॉलेज में बाथरूम नहीं था तो उन्होंने उसे व्यंग्य में ढालते हुए लिखा था, "हम बिना बाथरूम के मर जाएँगे/नाम दुनिया में अपना भी कर जाएँगे"। श्रीलाल शुक्ल किशोरावस्था से ही व्यंग्य लिखने लगे थे। इसका खुलासा उन्होंने खुद एक बार किया था। वह भी बड़े रोचक अंदाज़ में कि "अपने परिवार के बुजुर्ग लेखकों की नकल में मैंने भी बचपन से ही लिखना शुरू कर दिया। चौदह–पंद्रह साल की उम्र तक मैं एक महाकाव्य, दो लघु उपन्यास, कुछ नाटक और कहानी लिख चुका था।" जब वे एक तरह से मेच्योर लेखक हुए तो 'सूनी घाटी का सूरज', 'आदमी का जहर', 'पहला पड़ाव', 'सीमाएँ टूटती हैं', 'मकान', 'विश्रामपुर का संत', 'अज्ञातवास', 'उमराव नगर में कुछ दिन' जैसी कृतियाँ भी उन्होंने लिखीं, लेकिन किसी की उतनी चर्चा नहीं हुई, जितनी राग दरबारी की हुई। मुझे यह कहने में तनिक संकोच नहीं है कि राग दरबारी के प्रभामंडल ने उनकी बाँकी कृतियों को हाशिये पर डाल दिया। दरअसल एक बड़ी कृति के आगे दूसरी कृतियाँ गौण हो ही जाती हैं। उपन्यास में प्रयुक्त व्यंग्यात्मक भाषा की प्रखरता का ही यह कमाल है कि 'राग दरबारी' अब तक साहित्य का स्थायी राग बना हुआ है। भविष्य में भी बना रहेगा। इस उपन्यास में संभवतः पहली बार यह भी हुआ है कि यह व्यक्तिपरक नहीं, प्रवृत्ति परक है। इसमें कोई एक मुख्य नायक नहीं है, जिसके इर्दगिर्द पूरा उपन्यास घूमता हो। इसका मुख्य पात्र शिवपालगंज नामक कस्बा है। जिसके बहाने लेखक ने उस समय के समाज में जो कुछ घटित हो रहा था, उसका रोचक विवरण दिया है। इस उपन्यास को अनेक विसंगतिपूर्ण घटनाओं का व्यंग्यात्मक कोलाज भी कहा जा सकता है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए फणीश्वर नाथ रेणु का 'मैला आँचल' भी याद आता है। कभी कुछ पाठकों को ऐसा आभास होता है कि रेणु की शैली इस उपन्यास में प्रतिबिंबित हो रही है, लेकिन ऐसा नहीं है। राग दरबारी की अवधी भाषा व्यंग्यात्मक अधिक है और रेणु की भाषा में

भोजपुरी, मैथिली आदि का टच है। वहाँ कहीं हिंदी एकदम गायब हो जाती है, लेकिन राग दरबारी में शुरू से लेकर अंत तक हिंदी की बहुलता है और उसमें देशज भाषा–बोली (अवधी) का तड़का है।

'राग दरबारी' काल्पनिक उपन्यास है, लेकिन उसका वर्णन कुछ इस तरह से हुआ है कि वह यथार्थवादी लगता है। वैद्यजी, रुप्पन बाबू, छोटू पहलवान, रंगनाथ, लंगड़, जोगनाथ, बद्री पहलवान, प्रिंसिपल साहब, गयादीन आदि कुछ पात्रों के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने शिवपालगंज नामक एक गाँव को केंद्र में रखकर जो कथानक बुना है, वह कथानक लगभग साठ दशक के बाद भी जीवंत नजर आता है। दरअसल शिवपालगंज लगभग हर उस भारतीय गाँव का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ राजनीतिक अराजकता घर कर गई है। एक बड़का–सा चरित्र है वैद्य जी का, जहाँ गाँव के विभिन्न लोगों का दरबार सजता है। लोग वैद्य जी के सुर–में–सुर मिलाते रहते हैं। ये गाँव की राजनीति के केंद्र बने रहते हैं। अनेक गाँवों में ऐसे दरबार सजाऊ चरित्र मिल जाते हैं। शिवपालगंज में वैद्य जी और उनके परिवार के पूरे सदस्यों का दबदबा है। बड़ा बेटा बद्री पहलवान है। छोटा बेटा रुप्पन बाबू पढ़ाई लिखाई में फिसड्डी है, लेकिन राजनीति में तेज। हाँ, उनका भतीजा रंगनाथ जरूर पढ़ा लिखा है। शहर से पढ़–लिखकर कुछ दिनों के लिए शिवपालगंज आता है। शहर गाँव की हालत देखकर व्यथित होता है कि गाँव कैसे विनष्ट हो रहे हैं। भारतीय राजनीति में 'राग दरबारी' आजादी के पहले भी था और आजादी के बाद से लगातार इसका उपयोग 'अपने तरीके' से हो रहा है। श्रीलाल शुक्ल के इस उपन्यास को पढ़कर समझ में आता है कि कितना सटीक शीर्षक उन्होंने रखा था। भारतीय लोकजीवन में उपजी अनेक यथार्थ विसंगतियों पर बेहद विनोदपूर्ण तरीके से गहरे कटाक्ष करने वाली इस कृति को एक कालजयी व्यंग्य उपन्यास के मानक के रूप में दर्ज किया गया। इस उपन्यास को पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि गाँव में किस कदर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। हर गाँव जैसे राजनीति का शिकार है। शिक्षा की बुरी हालत है। समाज का धीरे–धीरे नैतिक पतन हो रहा है।

उपन्यास में एक जगह रुप्पन कहता भी है, *मुझे तो लगता है दादा, सारे मुल्क में शिवपालगंज ही फैला है।* राग दरबारी को ध्यान से पढ़ने वाले पाठकों को पता है कि आज भी हमारे समाज में लगभग वैसे ही कैरेक्टर मिल जाते हैं, जैसे कैरेक्टर 'राग दरबारी' में दिखाए गए हैं। गाँव में आज भी हमें गुंडे–माफिया मिल जाते हैं, जिन्हें हम छोटू पहलवान के रूप में देख सकते हैं। अनेक दबंग नेता होते हैं, जो किसी न किसी के भतीजे रुप्पन हो सकते हैं। आज भी हमें गाँव में अनेक रुप्पन राजनीति करते मिल जाएँगे। वैद्य जी का मुँहलगा चरित्र सनीचर भी हर गाँव में मिल जाएगा। 'राग दरबारी' एक तरह से श्रीलाल शुक्ल का एक शोधपरक उपन्यास भी कहा जा सकता है। यह लोक श्रुतियों के आधार पर भी लिखा गया प्रतीत होता है। इस

उपन्यास को लिखने के लिए श्रीलाल शुक्ल ने घर–परिवार और बाहर के अनेक लोगों की मदद ली, यह साफ नज़र आता है। 'राग दरबारी' में एक प्रेम पत्र में अनेक फिल्मी शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है। शुक्लजी की बिटिया ने खुद अपने एक संस्मरण में बताया था कि बहुत सारी फिल्मी लाइनें उन्होंने पिताजी को बताईं, जिन्होंने प्रेम पत्र में पिरोईं। उपन्यास के एक चरित्र बेला ने रुप्पन बाबू को जो प्रेम पत्र लिखा, उसका एक अंश देखिए, *ओ सजना बेदर्दी बालमा तुमको मेरा मन याद करता है, पर चाँद को क्या मालूम, चाहता है उसे कोई चकोर। वह बेचारा दूर से ही देखे, करे न कोई शोर। तुम्हें क्या पता कि तुम ही मेरे मंदिर तुम्ही मेरी पूजा, तुम्ही देवता हो। याद में तेरी जाग–जाग के हम रात भर करवटें बदलते हैं। अब तो मेरी हालत यह हो गई है कि सहा भी न जाए रहा भी न जाए। देखो न मेरा दिल मचल गया, तुमको देखा और बदल गया और तुम हो कि कभी उड़ जाए कभी मुड़ जाए भेद जिया का खोले न। मुझको तुमसे यही शिकायत है कि तुमको छुपाने की बुरी आदत है। कहीं दीप जले कहीं दिल। जरा देख तो आके परवाने..!* और लंबा पत्र है, जिसमें फिल्मी गानों को बहुत सुंदर ढंग से संवाद के रूप में पिरोया गया है, जो रोचकता पैदा करता है। यह वही दौर था, जब प्रेमी या प्रेयसी एक–दूसरे को पत्र लिखते थे तो अपनी अभिव्यक्ति करने के लिए फिल्मी गानों का ही सहारा लिया करते थे। मज़े की बात यह है कि परंपरा आज भी व्हाट्सएप के जरिए जारी है। आज लोग संवाद का सहारा तो लेते हैं और अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी फिल्मी गाने का वीडियो रील के रूप में भेज देते हैं। अनेक उपन्यास इसी तरह लिखे जाते रहे हैं। यह रचना प्रक्रिया का हिस्सा है। कुछ सुनी–सुनाई बातों के आधार पर और कुछ देखी–दिखाई बातों के आधार पर उपन्यास लिखे जाते हैं। पूरा उपन्यास किसी भी लेखक का भोगा हुआ यथार्थ नहीं रहता। वह अकसर देखा–सुना हुआ यथार्थ ही होता है। इसका एक उदाहरण है 'राग दरबारी'। श्रीलाल शुक्ल बड़े प्रशासनिक पद पर कार्यरत थे। उनका वास्ता आए दिन गाँव के लोगों से पड़ता ही था। उनकी शब्दावलियों से भी वे दो–चार होते रहे। इन सबका उन्होंने बहुत सुंदर सार्थक उपयोग अपने उपन्यास में किया है। यही लेखन–कौशल है, जो इस उपन्यास में दृष्टव्य होता है। इसमें बहुत सारे चुटीले अवधी संवाद हैं, जो अवध क्षेत्र में आज भी प्रयोग में लाए जाते हैं। यह कहना कि श्रीलाल शुक्ल द्वारा रचित अनेक संवाद उनके गढ़े हुए हैं, यह गाँव में प्रचलित लोकोक्तियों का निरादर होगा। बहुत से सम्मान–संवाद उन्होंने लोकजीवन से उठाए हैं। उन लोकोक्तियों को शुक्ल जी ने अपने रंग में रँगकर पुनर्प्रस्तुत किया है। जैसे "साला आग खाएगा तो अंगार हगेगा" अथवा "तन पर नहीं पत्ता, पान खाए अलबत्ता" आदि। कुछ संवाद उनके अपने गढ़े हुए हैं। जैसे *वर्तमान शिक्षा प्रणाली सड़क की कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है, हिंदुस्तानी छैला, आधा उजाला आधा मैला,* या फिर *जिसकी भी दुम उठाकर देखा मादा नजर आता है।* कुछ संवाद

साहित्यिक मर्यादा भी भंग करते हैं लेकिन व्यंग्यकार इस तरह की छूट ले लेता है। मैंने भी अपने उपन्यास 'मिठलबरा की आत्मकथा' में ऐसी छूट ली है। व्यंग्य की तीक्ष्णता दिखाने के लिए कभी–कभी ऐसा करना पड़ता है। जैसे 'राग दरबारी' का यह संवाद देखें, *वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था कि इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है*। हालांकि कुछ शिष्ट व्यंग्यात्मक संवाद भी हैं। जैसे एक जगह रंगनाथ कहता है, *ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है।* ड्राइवर ने मुस्कुरा कर वह प्रशंसा पत्र ग्रहण किया। रंगनाथ ने अपनी बात साफ करने की कोशिश की और कहा, *उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खाँचे में आ जाती है।* एक और संवाद देखें, *हमने विलायती तालीम तक देसी परंपरा में पाई है। और इसलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं।* हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है।" यह भी देखें, "रंगनाथ ने दूर से इस ट्रक को देखा और देखते ही उसके पैर तेजी से चलने लगे। उसकी बाँछें– वे शरीर में जहाँ कहीं भी हों – खिल गईं"।

थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो दूसरा संवाद मिलता है। ड्राइवर ने कहा, "श्रीमान जी आजकल क्या कर रहे हैं?"

"घास खोद रहा हूँ। इसको अंग्रेजी में रिसर्च कहते हैं।"

"रिश्वत, चोरी, डकैती – अब तो सब एक हो गया है। पूरा साम्यवाद है।"

"इस देश के निवासी परंपरा से कवि हैं। चीज को समझने से पहले ही उस पर मुग्ध होकर कविता कहते हैं। भाखड़ा–नांगल बाँध को देखकर वह कहते हैं, अहा! अपना चमत्कार दिखाने के लिए देखो, प्रभु ने फिर से भारत भूमि को ही चुना। ऑपरेशन टेबल पर पड़ी युवती को देखकर वे मतिराम– बिहारी की कविताएँ दोहराने लगते हैं।"

"इंसानियत का प्रयोग शिवपालगंज में उसी तरह चुस्ती और चालाकी का लक्षण माना जाता था, जिस तरह राजनीति में नैतिकता का।"

'राग दरबारी' में राजनीतिक विसंगतियाँ हैं, तो उस समय समाज में प्रचलित छुआछूत की प्रथा को भी लेखक ने छूने की कोशिश की है। दुर्भाग्यवश यह कुप्रथा आज भी कहीं–कहीं दिखाई दे जाती है। श्रीलाल शुक्ल उपन्यास में एक जगह लिखते हैं *..अछूत एक प्रकार के दुपाये का नाम है, जिसे लोग संविधान लागू होने से पहले छूते नहीं थे। संविधान एक कविता का नाम है जिसके अनुच्छेद 17 में छुआछूत खत्म कर दी गई है क्योंकि इस देश में लोग कविता के सहारे नहीं बल्कि धर्म के सहारे रहते हैं और क्योंकि छुआछूत इस देश का धर्म है इसलिए शिवपालगंज में भी दूसरे गाँव की तरह अछूतों के लिए अलग–अलग मोहल्ले थे और उनमें सबसे ज्यादा मोहल्ला चमरही था, जिसे जमीदारों ने किसी जमाने में बड़ी ललक से बसाया था और*

उस ललक का कारण जमीदारों के मन में चर्म उद्योग का विकास करना नहीं था बल्कि यह था कि वहाँ बस्ती के लिए आने वाले चमार लाठी अच्छी चलाते थे। इसी के आगे श्रीलाल का व्यंग्य अपने चरम पर पहुँचता है और वह गांधी को याद करते हुए कहते हैं, *वहाँ एक चबूतरा बनवा दिया गया था, जिसे गांधी चबूतरा कहते थे। गांधी जैसे कि कुछ लोगों को आज भी याद होगा, भारत वर्ष में ही पैदा हुए थे और उनके अस्थिकलश के साथ ही उनके सिद्धांतों को संगम में बहा देने के बाद यह तय किया गया था कि गांधी की याद में अब सिर्फ पक्की मार्ट बनाई जाएगी और इस हाले में जो शिवपालगंज में है कबूतर चबूतरा बन गया। ज्यादातर उस पर कुत्ते धूप खाया करते थे और चूँकि उनके लिए कोई बाथरूम नहीं बनवाया जाता है इसलिए वे धूप खाते–खाते उसके कोने पर पेशाब भी कर देते थे और उनकी देखा–देखी कभी–कभी आदमी भी चबूतरे की आड़ में वही काम करने लगते थे।*

उपन्यास की एक बड़ी समस्या नौकरशाही की भी है। (यह और बात है कि उस समय अफसरशाही भी थी लेकिन श्रीलाल शुक्ल ने उस पक्ष को छोड़ दिया है) सामान्य जन अपने काम के लिए इधर से उधर अधिकारियों के पास चक्कर लगाता रहता है। एक विभाग से दूसरे विभाग तक। लंगड़ नामक किसान की भी यही स्थिति है। वह अपने खेत की नकल निकलवाना चाहता है। इसके लिए तहसील ऑफिस जाता है और फिर वहाँ से इधर–उधर अन्य विभागों के चक्कर लगाता है। यह उपन्यास इसलिए भी शाश्वत प्रतीत होता है कि आज भी लगभग वही स्थिति है। किसान आज भी चक्कर लगा रहा है। आत्महत्या कर रहा है। उसकी नियति में ही चक्कर है। आज़ादी के सात दशक बीत जाने के बावजूद मुझे लगता है शिवपालगंज वैसा–का–वैसा है। भले अब वह हाईटेक हो गया है, लेकिन जो चरित्र है, वह बदला नहीं है। वही शाश्वत राग अभी तक जारी है। यह शाश्वत राग है भ्रष्टाचार का, अनैतिकता का, अराजकता का, छद्म का। इसलिए 'राग दरबारी', मुझे लगता है कभी बासी नहीं पड़ सकता। साठ साल पहले के गाँव अब और अधिक चालाक, भ्रष्ट और राजनीतिक हो गए हैं। श्रीलाल शुक्ल ने अपने उस समय को व्यंग्यात्मक दृष्टि से देख कर जो आख्यान प्रस्तुत किया है, वह आज भी चर्चा में है। जब यह उपन्यास दूरदर्शन के माध्यम से सामने आया तो और बेहतर ढंग से लोगों को समझ में आया। बहरहाल, व्यंग्य उपन्यासों की जब भी बात चलेगी, एक नाम हर सुधी पाठक के ज़ेहन को कौंधेगा, और वह है 'राग दरबारी'। यह ऐसा शास्त्रीय राग है, जो मध्य रात्रि में नहीं गाया जाता, यह दिन के उजालों में गाया जाने वाला साहित्यिक और शाश्वत राग है। इसके प्रति आज भी करोड़ों पाठकों का अनुराग है।

❑❑❑

संपर्क

गिरीश पंकज– सेक्टर, 3, एचआईजी– 2/2 दीनदयाल उपाध्याय नगर, रायपुर–492010 ईमेलः girishpankaj1@gmail.com, मो.– 9425212720

'मेघदूत' के परिप्रेक्ष्य में भारतबोध

विकास शर्मा*

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में कालिदास का स्थान अद्वितीय है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कहे जाने वाले कालिदास ने अपनी रचनाओं में न केवल भाव और श्रृंगार की अभिव्यक्ति की है, बल्कि तत्कालीन समाज, संस्कृति और जीवन के विविध पक्षों का भी अत्यंत सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण किया है। मेघदूत विशेष रूप से एक खंडकाव्य (प्रेम काव्य) के रूप में प्रसिद्ध है। यह एक दूतकाव्य है जिसमें यक्ष अपने प्रिय मेघ को संदेशवाहक बनाकर अपनी प्रेयसी तक अपना संदेश पहुँचाने के लिए भेजता है। यह कथा केवल व्यक्तिगत प्रेम की नहीं है, बल्कि यक्ष के मार्गदर्शन में मेघ की यात्रा के माध्यम से भारत बोध की भी है। इस यात्रा में उत्तर से दक्षिण तक, पश्चिम से पूर्व तक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भारत का दर्शन भी दृष्टिगोचर होता है।

'मेघदूत' का कथानक निम्न प्रकार से है –

- **यक्ष की विरह वेदना** – यक्ष अपनी प्रेयसी से दूर है और उसे पुनर्मिलन की तीव्र इच्छा है।
- **मेघ को दूत बनाना** – यक्ष मेघ को संदेशवाहक के रूप में नियुक्त करता है।
- **मार्ग निर्देशन** – यक्ष मेघ को यात्रा के मार्ग का विस्तृत विवरण देता है जिसमें भारत की नदियाँ, पर्वत, नगर, वन और तीर्थ शामिल हैं।
- **भाव और उद्देश्य** – संदेश के माध्यम से केवल प्रेयसी तक प्रेम पहुँचाना ही उद्देश्य नहीं, बल्कि भारत बोध का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण भी है।

मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में भारतबोध– कालिदास वन, पर्वत, नदियाँ और ऋतु–चित्रण के माध्यम से भारत की पर्यावरणीय चेतना का सजीव चित्रण तो प्रस्तुत करते ही हैं लेकिन साथ में इनके माध्यम से भारत की सांस्कृतिक एकता का भी दर्शन कराते हैं। वे रामगिरि से लेकर कैलाश धाम तक के स्थलों के माध्यम से भारत के

*सहायक आचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्यभाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।।

तीर्थ–परंपरा एवं उनका आध्यात्मिक महत्त्व का उल्लेख करते हैं। वे स्थान–स्थान पर लोक जीवन, कृषि, उत्सव, मेले और शास्त्रीय परंपराओं के संदर्भ में भारतीय संस्कृति का भी बोध कराते हैं तथा नारी सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य और जीवन–सौंदर्य के आधार पर भारत की सौंदर्य परंपरा को भी सूक्ष्मता के साथ जीवंत करते हैं। रामगिरि से कैलाश तक पर्वतीय मार्ग का साहित्यिक भौगोलिक वर्णन उनकी मेधा का अद्वितीय उदाहरण है। कालिदास ने मेघदूत में सर्वत्र प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से भारत बोध–सूक्ष्म का चिंतन प्रस्तुत किया है जिसका विस्तार से उल्लेख निम्न है –

पर्वतीय मार्ग से भारतबोध – यक्ष शाप से ग्रसित होकर रामगिरि पर्वत के आश्रम में ही रहता था, वह मेघ को संदेशवाहक बनाकर रामगिरि से यात्रा आरंभ करने को कहता है। रामगिरि का स्थान वर्तमान मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ की सीमा पर माना जाता है। मल्लिनाथ चित्रकूट को ही रामगिरि मानते हैं। यह विंध्य पर्वत की दक्षिणी श्रेणी से संबद्ध है। यहाँ से मेघ उत्तराभिमुख होकर भारत की यात्रा आरंभ करता है।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।[1]

मेघ यात्रा के अंतर्गत विंध्य पर्वत श्रृंखला (मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमा) को पार करता है। कालिदास ने इस क्षेत्र के घने जंगलों और ऊँची चोटियों का सुंदर वर्णन किया है। यह क्षेत्र आज भी अपनी जैव विविधता के लिए जाना जाता है। यक्ष कहता है कि हे मेघ! विंध्य पर्वत पर सुंदर स्त्रियाँ तुम्हारी बिजली को देखकर, इंद्रधनुष की शोभा निहारकर और तुम्हारी गर्जना सुनकर संगीत के लिए ढोल बजाएँगी। वहाँ के ऊँचे महल, जिनके शिखर आकाश को छूते हैं, अपनी विशेषताओं से तुम्हारी तुलना करने में सक्षम होंगे–

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।[2]

इसके अतिरिक्त मेघ का पड़ाव देवगिरि है जो आज के दौलताबाद, महाराष्ट्र के नाम से जाना जाता है। यहाँ का किला और प्राचीन वास्तुकला कालिदास के समय में भी प्रसिद्ध थी। आज यह स्थान अपने ऐतिहासिक महत्त्व के लिए जाना जाता है। यक्ष मेघ से कहता है कि हे मेघ, देवगिरि पर्वत पर उस बादल के समान ठहर जाओ,

---

1. पूर्वमेघ – 1
2. उत्तरमेघ – 1

जो मोती की माला जैसा चमकता है और उसकी हरियाली बादलों से ढकी रहती है–

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।

नोचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्घ्।।[3]

पर्वत यात्रा के अंतर्गत मेघ का पड़ाव सतपुड़ा क्षेत्र, नर्मदा का उद्गम अमरकंटक पर्वत है। कालिदास ने इसे 'आम्रकूट' के नाम से संबोधित किया है। यह स्थान अपनी प्राकृतिक सुंदरता और धार्मिक महत्त्व के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ से मेघ को पश्चिम की ओर मुड़ने का निर्देश दिया जाता है। कालिदास के इस वर्णन में संपूर्ण मध्य भारत का भूगोल सूक्ष्म रूप में विद्यमान है–

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।

न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।[4]

जब तुम विदिशा नगरी में पहुँच जाओगे तब नीचौः नाम के पर्वत पर ठहराना –*नीचौराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो*।[5] पर्वतीय मार्ग में मेघ हिमालय की यात्रा भी करता है जो भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का केंद्र है। हिमालय के शिखरों पर स्थिर (पर्वत) और चर (देवता, गंधर्व आदि) की स्त्रियाँ निवास करती हैं। हिमालय की ऊँचाई, शीतलता और आध्यात्मिकता को मेघ की यात्रा में विशेष स्थान मिला है।

अंततः हे मेघ! कैलाश की ओर बढ़कर अलकापुरी जाना जो कुबेर की नगरी है। यहीं यक्षिणी निवास करती है। वहाँ से आगे बढ़कर कैलाश पर्वत के अतिथि होना जो अपनी शुभ्रता के कारण देवांगनाओं के लिए दर्पण के समान है। उसकी धारों के जोड़ रावण की भुजाओं से झड़झड़ाए जाने के कारण ढीले पड़ गए हैं। वह कुमुद के पुष्प जैसी श्वेत बर्फीली चोटियों की ऊँचाई से आकाश को छाए हुए ऐसे खड़ा है मानो शिव के प्रतिदिन के अट्टहास का ढेर लग गया है –

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्कासितप्रस्थसंधेः कैलासस्य त्रिदशवनितादर्षणस्यातिथिः स्याः।

शृङ्गोच्छायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः वं राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्यादृहासः।।[6]

इस प्रकार मेघयात्रा के अंतर्गत रामगिरि से लेकर कैलाशधाम तक के सभी

---

3. वही, 42,
4. वही, 17,
5. वही, 26,
6. वही, 58

पर्वतों का उल्लेख कालिदास करते हैं। ये सभी स्थान केवल पर्वत नहीं हैं अपितु भारतीय सनातन संस्कृति के भी द्योतक हैं।

पावन नदियों के माध्यम से भारतबोध– यक्ष मेघ को मार्ग के विषय में बतलाते हुए अनेक पावन नदियों एवं तीर्थों का उल्लेख करते हैं जो भारत की सांस्कृतिक धरोहर का प्रतीक हैं। इसमें सर्वप्रथम नर्मदा नदी का उल्लेख प्राप्त होता है। वो अमरकंटक पर्वत के उल्लेख में वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब तुम वृष्टि द्वारा अपना जल बाहर उड़ेल चुको तो नर्मदा के उस जल का पान कर आगे बढ़ना जो जंगली हाथियों के मद से भावित है और जामुनों के कुंजों में रुक–रुककर बहता है। हे घन, भीतर से तुम ठोस होगे तो हवा तुम्हें न उड़ा सकेगी क्योंकि जो रिक्त हैं वे हलके और जो भरे–पूरे हैं वे भारी–भरकम होते हैं–

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बूकुञ्ज प्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।।[7]

इस स्थल से केवल नर्मदा ही नहीं अपितु सोन और महानदी भी प्रवाहित होती हैं। कालिदास के इस वर्णन में संपूर्ण मध्य भारत का भूगोल सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। विंध्य और नर्मदा भारतीय भूगोल की प्रमुख रेखाएँ हैं। कालिदास ने नर्मदा नदी के तट पर स्थित रमणीय प्राकृतिक सौंदर्य का उल्लेख किया है। नर्मदा तट भारतीय संस्कृति में तीर्थरूपा मानी जाती है। विंध्य को पार करने के बाद मेघ नर्मदा नदी के तट पर पहुँचता है। कालिदास ने नर्मदा के तेज बहाव और उसके किनारे बसे शहरों का वर्णन किया है। आज यह क्षेत्र जबलपुर जैसे शहरों के लिए जाना जाता है। उज्जैन से आगे बढ़ते हुए मेघ शिप्रा नदी के तट से गुजरता है। कालिदास ने इस नदी के किनारे के सुंदर दृश्यों और स्थानीय त्योहारों का उल्लेख किया है। आज यह क्षेत्र अपने घाटों और मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। तदनंतर यक्ष मेघ को वेत्रवती जो अब बेतवा के नाम से जानी जाती है, के जलपान से कांता के अधरपान के सुख के समान होने वाली अनुभूति के विषय में बतलाता है। कहता है कि जब तुम उस दशार्णदेश की राजधानी विदिशा में पहुँचोगे तो सहसा ही तुम्हारी कामनाओं का अखंड फल तुम्हें प्राप्त होगा क्योंकि वहाँ पर स्थित बेतवा नदी का जल अत्यंत ही स्वादिष्ट है और उसकी लहरें चंचल हैं और वे चंचल लहरें (किसी नायिका के) भ्रूविलास की आकृति से युक्त होंगी जब तुम तट के समीप गर्जना से सुंदर रूप से उसका पान करोगे–

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्ध्वा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात् सभ्रूभङ्गम् मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।।[8]

---

7. वही, 20
8. वही, 24

मेघ के मार्ग में वननदी के पश्चात् निर्विंध्या नदी का आगमन होता है। यक्ष कहता है कि मार्ग में लहरों के चलने से वाचाल पक्षियों की पंक्ति जिसकी करधनी हो ऐसी, पत्थरों से टकराने के कारण मनोहर ढंग से बहती हुई, भँवर रूपी नाभि का प्रदर्शन करने वाली निर्विंध्या नदी से मिलकर रस से परिपूर्ण हो जाना क्योंकि स्त्रियों का प्रियों के सामने विलास आदि प्रदर्शन सबसे पहले प्रेम के इशारे का वचन होता है—

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।

निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।।[9]

यक्ष मेघ से निर्विंध्या नदी के बाद आने वाली सिंधु नदी का वर्णन करते हुए कहता है कि किसी स्त्री की चोटी के समान उसका जल अत्यंत ही अल्प हो चुका है क्योंकि स्त्री विरहकाल में एक चोटी बाँधकर रहती है जिससे उसके बालों की अल्पता प्रतीत होती है। नदी के किनारे पर लगे हुए वृक्षों के पत्तों के सूखकर नदी में गिर जाने से उसका रंग अत्यंत पीला पड़ चुका है, प्रेमी से वियोग रहने पर स्त्री का रंग भी पीला पड़ जाता है, वह कमजोर प्रतीत होती है। वह सिंधु विरहदशा के द्वारा तुम्हारे सौभाग्य को प्रकट करने वाली है, अर्थात् तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम उस महान नदी की सहायता करोगे जिसका नाम सिंधु है। जिस भी उपाय से उसकी दुर्बलता दूर की जा सके वह तुम्हें करना ही पड़ेगा —

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रं—शिभिर्जीर्णपर्णैः।

सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः।।[10]

इसके अनंतर गंभीरा नदी— जो प्रसन्न ह्रदय के समान निर्मल जल वाली है — *गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने,* फिर मेघयात्रा में चर्मण्वती और सरस्वती नदी का उल्लेख है कि आकाश—चारी (देव) कृष्ण की कांति के चोर तेरे (चर्मण्वती का) जल लेने के लिए झुक जाने पर विशाल होते हुए भी दूर होने के कारण क्षीण उस नदी के प्रवाह को मानो, एक (लड़ी वाले), मध्य में मोटी इंद्रनील मणि वाले, पृथ्वी के मोतियों के हार को सचमुच दृष्टि जमाकर देखेंगे। बंधुओं के स्नेह के कारण युद्ध से पराङ्मुख हलधर (बलराम) ने अभीष्ट स्वाद वाली (और) रेवती के नेत्रों के चिह्न (प्रतिबिंब) वाली सुरा को छोड़कर जिनका सेवन किया था, सरस्वती नदी के उन जलों को पीकर हे सौम्य, तुम भी ह्रदय से शुद्ध हो, जाओगे, केवल वर्ण से ही श्याम रहोगे—

9. वही, 28

10. वही, 29

त्वय्यादातुं जलमवनते शाङ्ग्र्णो वर्णचौरे तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।

प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टीरेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्।।[11]

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनांकां बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लांगली याः सिषेवे।

कृत्वा तासामधिगममपां सौम्य सारस्वतीना मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः।।[12]

इसके अनंतर मेघ के मार्ग में गंगा नदी का आगमन होता है जिसका उल्लेख इस प्रकार से है कि कुरुक्षेत्र से कनखल के समीप पर्वतराज (हिमालय) से उतरी हुई सगर के पुत्रों के लिए की सीढ़ी (बनी हुई), जह्नु की पुत्री (गंगा) पर जाना, पार्वती के मुख पर भ्रूभंग का मानो झागों से उपहास करके चंद्रमा में लगे हुए तरंग रूपी हाथी वाली जिस (गंगा) ने शिव के केशों को पकड़ा था। यहाँ गंगा–यमुना संगम का भी उल्लेख है कि हे मेघ! इसके बाद तुम यमुना और गंगा के संगम पर पहुँचोगे। वहाँ इंद्रदेव तुम्हें उत्तर दिशा की ओर ले जाएँगे–

तस्याः पातुं सुरगज इव व्याम्नि पश्चार्धलम्बी, त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।

संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ, स्वादस्थानोपगतयमु–नासंगमेवाभिरामा।।[13]

मेघ का अंतिम पड़ाव गंगोत्री है, जहाँ से गंगा नदी निकलती है। कालिदास ने इस स्थान की प्राकृतिक सुंदरता और पवित्रता का विस्तार से वर्णन किया है .

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।

वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः शोभां शुभ्रत्रियनवृषोत्खात–पङ्कोपमेयाम्।।[14]

इस प्रकार मेघदूत में मेघ के माध्यम से कालिदास अपने भौगोलिक ज्ञान विशेषकर पर्वतीय मार्ग के माध्यम से भारतवर्ष के विभिन्न आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक स्थानों का बोध कराते हैं। मेघदूत में कालिदास ने जिन नदियों और पर्वतों का वर्णन किया है, वे केवल भौगोलिक स्थल नहीं हैं बल्कि नदी – सांस्कृतिक जीवन, धार्मिक आस्था और सौंदर्य का स्रोत हैं और पर्वत – स्थिरता, विराटता और देवोपम महिमा का प्रतीक हैं। इस प्रकार मेघदूत भारतीय भूगोल को काव्यात्मक, सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टि से जीवंत करता है।

---

11. वही, 43, 12. वही, 49, 53, 13. वही, 54, 14. वही, 52

मेघयात्रा में भारत के विभिन्न प्रदेश – कालिदास ने मेघयात्रा के अंतर्गत अनेक प्रदेशों का चित्रण किया है। यह केवल स्थल का उल्लेख नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति, सामाजिक जीवन और पारंपरिक व्यवस्था का संकेत है जैसे उज्जयिनी महाकालेश्वर का नगर धार्मिक एवं सांस्कृतिक केंद्र के रूप में आज भी स्थापित है और विदिशा व्यापार, कला और प्रशासन का केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित था। उज्जयिनी और विदिशा जैसे नगर केवल आर्थिक संपन्नता का प्रतीक नहीं, बल्कि उत्सवप्रियता, सौंदर्य, धर्म और कला के केंद्र भी हैं। मेघ अपना मार्ग रामगिरि से प्रारंभ करके अलकापुरी तक संपूर्ण करता है। मेघमार्ग के माध्यम से कवि ने मार्गगत नगरों का बहुत ही भव्य वर्णन किया है।

माल देश – अलकापुरी तक के मार्ग का वर्णन करते हुए यक्ष मेघ से कहता है कि रामगिरि के पश्चात् सर्वप्रथम तुम माल देश जाओगे जहाँ पर कृषि का फल मेघ के अधीन होने से वहाँ की भोली–भाली स्त्रियाँ स्नेहपूर्ण दृष्टि से तुमको देखेंगी और तुम वहाँ पर कुछ बरस कर वहाँ की भूमि को सुगंधित कर देना –

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण।।[15]

दशार्णप्रदेश–विदिशानगरी – यक्ष दशार्ण प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कहता है, दशार्णदेश कलियों के अग्रभाग में विकसित केतकी के पुष्पों के कारण पीले रंग की कांति वाले उपवनों से घिरा हुआ है। घरों में बलिवैश्वदेव नामक धार्मिक कार्य द्वारा समर्पित अन्न को खाने वाले पक्षियों द्वारा घोंसलों की रचना से व्याप्त, गाँव की गलियों में खड़े पवित्र पीपल आदि वृक्षों वाला, जामुन के पके हुए फलों से युक्त है। इस प्रकार वर्षा ऋतु में विविध रंगों वाले, सभी दिशाओं में प्रसिद्ध दशार्णदेश में कुछ दिनों के लिए ठहरना–

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैर्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजा– माकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिन– स्थायिहंसा दशार्णाः।।[16]

वर्तमान मध्य–प्रदेश में स्थित भेलसा नगरी दक्षिण प्रदेश की राजधानी विदिशा थी। विदिशा के प्रसंग में यक्ष कहता है कि विदिशा नगरी के पास पहुँचकर वेत्रवती नदी से मिलकर तुम्हें कामुकता का पूर्ण फल मिलेगा। महाकवि कालिदास ने चंचल तरंगों वाली वेत्रवती नदी के लहरों वाले तटवर्ती जल को नदीरूपी सुंदरी के मुख के रूप में प्रस्तुत किया है–

15. वही, 16

16. वही, 23

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात् सभ्रूभंगंमुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।।[17]

उज्जयिनी नगरी – उज्जयिनी नगरी के प्रति महाकवि कालिदास का कुछ विशेष ही अनुग्रह दिखाई देता है। यद्यपि मेघ को उत्तर की ओर जाना है फिर भी यक्ष उससे कहता है कि आप कृपा करके उज्जयिनी अवश्य जाएँ। यक्ष के अनुसार उज्जयिनी नगरी का अपना ही विशेष आकर्षण है। तुम उज्जयिनी के प्रासादों की शोभा से परिचय अवश्य प्राप्त करना। उज्जयिनी के वैभव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि उज्जयिनी नगरी के बाजारों में विविध रत्न मणियाँ, शंख, सीपियाँ आदि सजे हुए हैं और सभी को देखकर ऐसा लग रहा है जैसे सागर के रत्न यहीं पर आ गए हैं और सभी समुद्र रत्नविहीन हो गए हैं। भौतिक सौंदर्य का वर्णन करके महाकवि उज्जयिनी के आध्यात्मिक तेज का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह महाकाल की नगरी है। अतः उज्जयिनी में स्थित महाकाल के मंदिर में अगर तुम संध्या के अतिरिक्त किसी अन्य समय पहुँचे तो तुम्हें तब तक वहीं ठहरना चाहिए जब तक सूर्य दिखाई देते रहे, क्योंकि शूलपाणि शिव जी की संध्याकालीन पूजा आरती में नगाड़े का काम करते हुए अपने गंभीर गर्जनों के पुण्य फल को प्राप्त करना। शिव पूजा में सम्मिलित होकर अपनी गर्जना द्वारा नगाड़े का कार्य करने से तुम्हें शिवजी की पूजा का विशेष फल प्राप्त होगा। इस प्रकार उज्जयिनी के विविध सौंदर्य का वर्णन महाकवि के उज्जयिनी प्रेम को दर्शाता है। इसी उज्जयिनी वर्णन के कारण कतिपय विद्वान् महाकवि कालिदास को उज्जैन का वासी भी स्वीकार करते हैं।

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्।।[18]

अलकापुरी–

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अंतरतोयं मणिमयमुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।।[19]

17. वही, 25
18. वही, 30
19. उत्तरमेघ – 1

अलकापुरी ही मेघ का अंतिम गंतव्य है। विविध नगरों का वर्णन करते हुए यक्ष मेघ से कहता है कि जब तुम अलकापुरी पहुँच जाओगे तब वहाँ का सौंदर्य देखकर ही तुम यह अनुमान कर सकते हो कि तुम अलकापुरी पहुँच गए हो। वहाँ गगनचुंबी भवन मिलेंगे, उनमें निवास करने वाली सुंदर स्त्रियाँ अपनी चपलता के कारण तुम्हारे भीतर से चमकने वाली बिजलियों से भित्तियों पर चित्रित चित्र तुम्हारे इंद्रधनुष से तथा संगीत के लिए बजने वाले नगाड़े जल धारण किए तुम्हारी गर्जना से समानता रखने में समर्थ हैं। अलकापुरी देवों के कोषाध्यक्ष कुबेर की राजधानी है। इस कारण वहाँ पर अत्यधिक संपन्नता है। वहाँ की स्त्रियाँ बहुत सुंदर हैं तथा अपने सौंदर्य की वृद्धि के लिए अनेक प्रकार के श्रृंगार करती हैं। उनके केशों में नवीन पुष्प गुँथे हुए रहते हैं। स्वाभाविक रूप से उनका वर्ण गोरा है और अपने गोरेपन की वृद्धि करने के लिए अपने मुख पर लोध्र के पुष्पों की धूलि लगाती हैं। उनकी माँग में कदंब के फूल हैं जिनका जन्म तुम्हारे आने के कारण से होता है। अलकापुरी का वर्णन करते हुए यक्ष कहता है– यहाँ के पौधे और वृक्ष पुष्पों से लदे रहते हैं। यहाँ सरोवर नित्य कमलों से युक्त रहते हैं जिन पर हंससमूह ऐसी शोभा देते हैं मानो वे कमलिनियाँ अपने कमर पर करधनियाँ धारण की हुई हैं। यहाँ सदा शुक्ल पक्ष रहता है इसलिए अंधकार के प्रसार से सदा के लिए निवृत्त रहने के कारण यहाँ की रात्रियाँ अत्यधिक रमणीय होती हैं–

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैर्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्ट–संयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद् विप्रयोगोपपत्तिः वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति।।[20]

यक्षों के सुखमय जीवन का परिचय कराते हुए यक्ष कहता है कि अलकापुरी में निवास करने वाले यक्षों की आँखों से आँसू प्रसन्नता के कारण ही निकलते हैं, किसी कष्ट के कारण नहीं निकलते। अलकापुरी निवासी कामदेव के बाणों से ही आहत होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से उनको कोई भय नहीं है। अलकापुरी में होने वाले वियोग भी प्रेम में विरह के कारण होते हैं। यक्ष जाति के लोग सदा युवा रहते हैं। अलकापुरी में युवा के अतिरिक्त कोई अवस्था ही नहीं है। इस प्रकार अलकापुरी निवासी सभी प्रकार से संतुष्ट हैं और सभी प्रकार का एश्वर्य अलकापुरी में विद्यमान है।

अन्य प्रदेश – उज्जयिनी वर्णन के अंतर्गत ही वत्स देश का भी उल्लेख आता है। वत्स देश के राजा उदयन ने प्रद्योत की प्रिय पुत्री वासवदत्ता का हरण किया था– *प्रद्योतस्यं प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे।* गोदावरी को पार करने के बाद मेघ विदर्भ

20. वही, 2

क्षेत्र में प्रवेश करता है। यह क्षेत्र समृद्ध कृषि और सांस्कृतिक विरासत के लिए प्रसिद्ध है। आज यह क्षेत्र नागपुर और अमरावती जैसे शहरों के लिए जाना जाता है। चर्मण्वती को पार करने के पश्चात्, मेघ, तुम दशपुर की स्त्रियों के नयनों के कौतूहल का पात्र बनते हुए आगे बढ़ना। मेघ का अगला महत्त्वपूर्ण पड़ाव प्रयाग है जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम होता है। कालिदास ने इस तीर्थस्थल की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है। आज यह स्थान प्रयागराज के नाम से जाना जाता है और महाकुंभ के लिए प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् ब्रह्मावर्त जनपद में कुरुक्षेत्र का वर्णन प्राप्य है जहाँ गांडीव धनुर्धारी अर्जुन ने तीक्ष्ण बाणों से क्षत्रियों के मुखों पर, धारावृष्टि से कमलों पर तुम्हारे समान वर्षा की थी– *ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः*।[21]

कालिदास ने मेघदूत में अनेक पवित्र स्थलों और तीर्थों का उल्लेख किया है जो भारतीय धार्मिक चेतना और आस्था को दर्शाते हैं। रामगिरि – यक्ष का निवास और प्रारंभिक बिंदु जो अत्यंत रमणीय स्थान है, उज्जयिनी में महादेवालय हैं, कैलाश पर्वत शिवधाम के समान पूज्य है।

प्राकृतिक भारतबोध – कालिदास ने प्राकृतिक दृश्य को केवल शोभा के लिए नहीं, बल्कि मानव जीवन और भावनाओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया। कालिदास ने मेघदूत में वर्षा ऋतु का अत्यंत मनोहारी चित्रण किया है। यक्ष अपने संदेश के लिए मेघ को दूत बनाता है जो भारत की प्राकृतिक छटा और ऋतु–रंग को प्रदर्शित करता है। वर्षा का वर्णन केवल प्राकृतिक दृश्य नहीं, बल्कि जीवन–स्फूर्ति और समृद्धि का प्रतीक है। मेघ के मार्ग में वन, पर्वत और प्राकृतिक स्थल आते हैं। ये स्थल केवल भौगोलिक दृष्टि से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रकृति–मानव संबंध और भारतीय पर्यावरणीय चेतना के द्योतक हैं। नदी, पर्वत, वन और वर्षा–ऋतु के माध्यम से भारत की प्राकृतिक विविधता उजागर होती है। प्राकृतिक भारतबोध में सौंदर्य, जीवन और आध्यात्मिकता की झलक मिलती है।

मेघदूत में प्राकृतिक बोध आरंभ में ही रामगिरि आश्रम के उस प्रदेश से होता है, जहाँ के वृक्ष कोमल छाया वाले एवं तालाब के जल सीता जी के स्नान से पावन है। मेघदूत के पूर्वभाग (पूर्वमेघ) में कवि प्रकृति के सुमधुर चित्रण में ही लगा रहता है। यक्ष द्वारा मेघ के प्रति किया हुआ मार्ग–वर्णन प्रकृति की जो रमणीय झाँकी प्रस्तुत करता है, उसे देखकर सहृदय का हृदय आनंद–विभोर हो जाता है। अलकापुरी का मार्ग मेघ को यक्ष इस प्रकार बताता है –

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः त्वय्यारुढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।

नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थाम्मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।।[22]

21. पूर्वमेघ – 51

22. वही, 18

मेघ जिस–जिस मार्ग से होकर आगे की तरफ बढ़ता जाता है, वह उस–उस जगह अपनी छाप छोड़ता जाता है। सारंगों द्वारा मेघ के मार्ग की सूचना ऐसे प्राप्त हो जाती है कि जब मेघ वर्षा करके आगे बढ़ता है तो जल बरसने के कारण पुष्पित कदंब को भ्रमर मस्त होकर देख रहे होंगे, प्रथम जल पाकर मुकुलित कंदली को हरिण खा रहे होंगे और वर्षा ऋतु में पहली बार वर्षा जल के कारण पृथ्वी से निकल रही गंध को गज समूह सूँघ रहे होंगे, इस प्रकार भिन्न–भिन्न क्रियाओं को देखकर मेघ के गमन मार्ग का स्वतः अनुमान हो जाता है। प्रकृति से मानव जाति का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। यही कारण है कि वह मनुष्य के अंतःकरण को प्रभावित करती है। मेघदूत में कवि ने इसी तथ्य को उजागर किया है– *मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे*[23] अर्थात् मेघ को देखकर सुखी जनों का चित्त जब विचलित हो जाता है तो फिर जो वियोगी जन हैं उनका कहना ही क्या, इसका तात्पर्य यह हुआ कि उनमें तो विचलन स्वाभाविक ही है। कालिदास ने प्रकृति को मनुष्य के सुख–दुःख में सहभागिनी निरूपित किया है।

नदी की सुरम्यता और उसके मधुमय अवदानों ने कवि को इतनी विमुग्धता और तन्मयता प्रदान की है कि उसे नदी नायिका–सी प्रतीत होती है। यक्ष मेघ से कहता है कि हे मेघ! उज्जयिनी के मार्ग में निर्विंध्या नदी बहती है जो तुम्हें अपने हाव–भाव से अपनी ओर आकृष्ट करेगी। तो सुनो तरंगों के हलचल के कारण शब्दायमान पक्षियों की पंक्ति रूपी करधनी को धारण करने वाली, स्खलित प्रवाह के कारण सुंदरतापूर्वक बहने वाली अर्थात् मस्त होकर चलने वाली और भँवर रूपी नाभि को दिखाने वाली वह निर्विंध्या नदी रूपी नायिका से मिलकर तुम रस अवश्य प्राप्त करना क्योंकि कामिनियों का हाव–भाव प्रदर्शन ही रति प्रार्थना का वचन होता है –

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः संमर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावतनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।।[24]

फिर तुरंत ही कवि ने निर्विंध्या को विरहिणी के रूप में भी चित्रित किया है। वेदना की व्याकुलता का यह अनूठा प्रकृति–चित्रण है। निर्विंध्या नदी की धारा वेणी की तरह पतली हो गई है और तट पर के पेड़ों के पीले पत्ते झड़ कर उस पर आ गिरे हैं, जिससे उसकी कांति पीली पड़ गयी है। इस प्रकार निर्विंध्या विरही कृशागी की तरह जान पड़ती है। उत्तर मेघ का आरंभ कवि अलकापुरी के वर्णन से करता है। इसके वर्णन में वहाँ की प्रमुख छह ऋतुओं का वर्णन एक ही छंद में चित्रित किया है, जहाँ अलकापुरी में रमणियों के हाथ में क्रीड़ाकमल, बालों में नए–नए कुंद पुष्पों का

23. वही, 3
24. वही, 28

बंधन, मुख पर लोध के फूलों के पराग से गौरवत्व को प्राप्त हुई शोभा, जूड़े में नए कुरबक के फूल, कानों पर सुंदर शिरीष के फूल और माँग में तुम्हारे आगमन से वर्षा ऋतु में खिलने वाले कदंब के फूल रहते हैं। इस प्रकार अलका में षड्ऋतुओं की निरंतर अवस्थिति की विलक्षण कल्पना को बड़ी निपुणता से साकारता दी गई है–

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।

चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।।[25]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के प्रकृति वर्णन में अनेक वैशिष्ट्य हैं, कवि मानव सौंदर्य की तीव्रता तथा यथार्थता के अभिव्यंजन के निमित्त प्रकृति का आश्रय लेता है, तो कहीं यह प्रकृति के ऊपर मानव भावों तथा व्यापारों का ललित आरोप करता है। कहीं वह प्रकृति और मानव के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री, सहज सहानुभूति तथा रमणीय रम्यात्मक वृत्ति का संबंध जोड़ता है तो कहीं प्रकृति को भगवान की ललित लीला का निकेतन मानकर आनंद से विभोर हो जाता है।

शिल्पकला के माध्यम से भारतबोध– महाकवि कालिदास ने मेघदूत में शिल्प कलाओं का वर्णन अत्यंत सुंदर शैली में किया है। यक्ष कुबेर की नगरी अलकापुरी का निवासी था। यह नगरी सभी भोग विलासों से संपन्न थी। यह नगरी समस्त कलाओं की उच्चतम अभिव्यक्ति का प्रमाणिक रूप थी। कला के सभी पक्ष जैसे आभूषण कला, चित्रकला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला परिपक्व से मेघदूत में प्राप्त होते हैं। *रत्नछायाव्यतिकर*[26] के प्रयोग से यह ज्ञात होता है। कार्य किस प्रकार आभूषणों को विभिन्न धातुओं में ढालकर बनाया जाता था। *विहगश्रेणीकांचीगुणाया:*,[27] *क्वणितरशना*[28] एवं *विहगश्रेणिरचितरशना* से करधनी नामक आभूषण का तथा *हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्* द्वारा भी अनेक रत्नों, मणियों व आभूषणों का ज्ञान होता है। मेघदूत में एक स्थान पर नदी पर स्थित मेघ को मोतियों के हार में गुंफित की गई इंद्रनीलमणि की भाँति कहना भी आभूषणकला का अद्भुत उदाहरण है। इसी के साथ कहीं–कहीं प्रसाधन व शृंगार कलाएँ भी वर्णित हैं। चित्रकला का वर्णन करते हुए महाकवि ने रेखाओं द्वारा की गई चित्र रचना को भक्तिच्छेद तथा हाथी के शृंगार को भूति कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि रेखाओं द्वारा की गई हाथी की चित्रकारी – *भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे*

25. उत्तरमेघ, 2
26. पूर्वमेघ, 15
27. वही, 28
28. वही, 35

गजस्य।[29] क्योंकि चित्रकला में रेखांकन ही प्रथम चरण है। *अन्यत्र भी सचित्राः*[30] इत्यादि पद चित्रकला का ही सूचक है।

'मेघदूत' में संगीत कला आमोद–प्रमोद, मानव जीवन के आवश्यक अंग के रूप में वर्णित है। मेघदूत में तुरी, बाँसुरी, मृदंग आदि वाद्यों का भी वर्णन प्राप्त होता है। *सन्ध्याबलिपटहताम्*[31] के उल्लेख से नगाड़ा नामक वाद्ययंत्र का वर्णन किया गया है। इसी के साथ पुष्कर अर्थात् पखावज का भी वर्णन किया गया है। यक्षिणी की गीत रचना की प्रतिभा का प्रकाशन करते हुए कहा गया है– *भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती*।[32] मूर्छना–गान पद्धति प्राचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्राण कही जाती है। अतः कुशल गायन काल गुप्तकाल कहा जा सकता है। मयूरों के नर्तन इत्यादि से नृत्यकला को प्रदर्शित किया गया है। महाकाल के मंदिर में नृत्य करने वाली वेश्याओं का वर्णन करके स्फुटतया नृत्यकला का उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर शिवजी के तांडव का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार संगीत कला के अनेक रमणीय उदाहरण मेघदूत में दर्शनीय हैं। मेघदूत में कुबेर की नगरी का वर्णन वास्तुकला का ही परिचय देता है– *वाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या*।[33] पुरी अथवा नगरी भी वास्तु का विषय है। मेघदूत में *उच्चौर्विमानाः* शब्द का प्रयोग सात मंजिल भवनों के लिए हुआ है। उत्तरमेघ में प्रयुक्त प्रसाद शब्द वास्तुकला को ही विवेचित करता है। उज्जयिनी का महाकाल मंदिर तत्कालीन स्थापत्य कला का अत्यंत सुंदर व उत्कृष्ट प्रमाण है। इस प्रकार मेघदूत में प्रतिपादित संगीतकला, चित्रकला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला माध्यम से तत्कालीन भारत की कलाओं का बोध होता है।

निष्कर्ष रूप में यह यात्रा केवल भौगोलिक नहीं है, बल्कि भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। यक्ष के संदेश मार्ग के माध्यम से कालिदास पर्वतीय मार्ग द्वारा रामगिरि, विंध्य, सतपुड़ा, हिमालय, कैलाश, नदियाँ (गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, शिप्रा, गंभीरा आदि) भौगोलिक भारत का बोध कराते हैं। नगरों, उत्सव, कला और सामाजिक जीवन का चित्रण के माध्यम से सांस्कृतिक भारत का बोध होता है। वहीं वर्षा ऋतु, वन, पर्वत और प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा प्राकृतिक भारत का बोध तथा धार्मिक तीर्थस्थल, पवित्र नदियाँ और महाकालेश्वर, कैलाशधाम आदि के उल्लेख से दार्शनिक भारत का बोध करते हैं। कालिदास ने मेघदूत में भारत की भौगोलिक,

29. वही, 16
30. उत्तरमेघ, 1
31. पूर्वमेघ, 34
32. उत्तरमेघ, 23
33. पूर्वमेघ, 7

सांस्कृतिक, धार्मिक, प्राकृतिक और दार्शनिक चेतना का अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत किया। भावों की स्वाभाविक व मार्मिक अभिव्यक्ति को काव्य के माध्यम से प्रकट करने में जितने कुशल महाकवि कालिदास हैं, उतना संपूर्ण काव्य जगत में कोई नहीं है। उन्होंने **'भूतो न भविष्यति'** कथन को सत्य कर काव्य जगत् को मेघदूत रूपी अमूल्य रत्न से अलंकृत किया तथा जिसका प्रकाश आज भी उज्ज्वलता से दीप्त होता हुआ सहृदयों के हृदयों को प्रकाशित कर रहा है।

❑❑❑

संपर्क

विकास शर्मा, सहायक आचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्यभाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, मो. 9910770082, ईमेलः vikassharma@svc.ac.in

'सौजन्य से'– पारुल निगम

भाषाई संरचना और विद्यापति की कीर्तिलता

राहुल सिद्धार्थ*

भाषा शिक्षण किसी भी समाज की सांस्कृतिक और बौद्धिक धरोहर को संरक्षित रखने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। यह शिक्षण केवल संचार का माध्यम नहीं होता, बल्कि यह एक संपूर्ण परंपरा, संस्कृति और साहित्य को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य करता है। भारतीय साहित्य में अनेक कवियों और लेखकों ने भाषा शिक्षण की भूमिका को मजबूती दी है। इसी क्रम में विद्यापति की "कीर्तिलता" एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जो न केवल भाषा शिक्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि इसमें सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी समाहित है।

"कीर्तिलता" न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि इसमें तत्कालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी समाहित हैं। इस ग्रंथ में विद्यापति ने तत्कालीन मिथिला और बंगाल के शासकों की नीतियों, प्रशासनिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना का विस्तृत वर्णन किया है। यह कृति तत्कालीन राजनीतिक हलचलों, राजनयिक संबंधों और समाज में हो रहे परिवर्तनों को उजागर करती है।

राजनीतिक संदर्भ में, "कीर्तिलता" में तत्कालीन राजाओं, उनके शासन कौशल और प्रजा के प्रति उनकी नीतियों का उल्लेख मिलता है। विद्यापति स्वयं एक राजदरबारी कवि थे, इसलिए उनकी कृति में प्रशासनिक प्रणाली, राजकीय नीति और शासकीय दृष्टिकोण के प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

सांस्कृतिक संदर्भ में, "कीर्तिलता" में तत्कालीन समाज की परंपराओं, रीति–रिवाजों, धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक गतिविधियों का विस्तृत चित्रण मिलता है। इस ग्रंथ में मैथिली समाज की सांस्कृतिक विविधता, लोकाचार, संगीत, नृत्य और साहित्यिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। विद्यापति ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति, विवाह प्रथाओं और धार्मिक अनुष्ठानों का भी विस्तार से वर्णन किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह कृति केवल भाषा शिक्षण ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षण का भी सशक्त माध्यम है।

*विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश।

भाषा शिक्षण और कीर्तिलता :

• कीर्तिलता और भाषाई संरचना :

आदिकालीन हिंदी काव्य की परंपरा में कीर्तिलता का भाषिक महत्त्व है। विद्यापति की यह रचना संस्कृत, अपभ्रंश, अरबी–फ़ारसी मिश्रित (जिसे मलेच्छ वाणी भी कहा गया) के साथ मैथिली के शब्दों का भी समावेश करती है। यह रचना ऐसे समय में लिखी गई जब समाज में संस्कृत में रचना करने की परंपरा थी या दूसरी तरफ, यदि आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें तो, लौकिक काव्य की रचना हो रही थी। लेकिन अरबी–फारसी मिश्रित भाषा में रचना की यह प्रवृत्ति सामान्य नहीं थी। वासुदेवशरण अग्रवाल ने कीर्तिलता के भाषिक वैशिष्ट्य पर विचार करते हुए लिखा है–

विद्यापति के युग में दो सांस्कृतिक धाराएँ चली आती थीं। एक राजपूत मध्यकाल की हिंदू परंपरा और दूसरी अफगान काल की इस्लाम की परंपरा– विद्यापति ने अपने युग की वास्तविक स्थिति को मान्यता देते हुए दोनों को स्वीकार किया था। कीर्तिलता यद्यपि छोटा ही काव्य है किंतु कवि ने भाषा के असामान्य अधिकार द्वारा दोनों धाराओं की शब्दावली को अपने ग्रंथ में भर दिया है– इस्लामी शासन और रहन–सहन के अनेक शब्द पहली ही बार यहाँ स्पष्ट पहचाने गए हैं।[1]

'कीर्तिलता' में भारत की प्राचीन हिंदू संस्कृति के साथ इस्लामिक संस्कृति के बारे में भी जानकारी मिलती है तथा इसकी भाषा भी कथ्य के अनुरूप है जिसमें संस्कृत के साथ अरबी–फ़ारसी मिश्रित शब्दावली का प्रयोग मिलता है। कीर्तिलता के इस भाषिक वैशिष्ट्य की और संकेत करते हुए डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है, "कीर्तिलता भाषा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व की वस्तु है। मध्यकाल की कोई भी रचना इतने पुराने और अत्यंत विकासशील भाषा के तत्त्वों को इतने विविध रूपों में सुरक्षित नहीं रख सकी है।"[2]

कीर्तिलता के माध्यम से ज्ञात है कि विद्यापति संस्कृत में तो रचना करते ही हैं, साथ ही साधारण जन की भाषा (मैथिली) और मलेच्छ भाषा में भी रचना करते हैं। मिथिला के एक संस्कृत आचार्य द्वारा भाषा के इस रूप का अपने काव्य हेतु प्रयोग की प्रयोजनीयता पर भाषाविद बाबूराम सक्सेना ने लिखा है–

मिथिला के पंडित सदैव कट्टरपंथी रहे हैं और उनका संस्कृत से संपर्क बराबर रहा है– इसलिए वे बड़ी आसानी से स्थान–स्थान पर जननी भाषा से आधार ग्रहण कर सके हैं। आज भी पंडितों की मैथिली और अपढ़ ग्रामवासी की मैथिली में बहुत हद तक अंतर है।[3]

1. अग्रवाल, (सं.) वासुदेव शरण अग्रवाल, कीर्तिलता, साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी, प्रस्तावना से
2. सिंह, शिवप्रसाद, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रथम संस्करण, निवेदन से
3. कीर्तिलता, सक्सेना, (सं) बाबूराम, कीर्तिलता, पृष्ठ, 26

कीर्तिलता में मध्यकालीन अन्य कवियों से अलग उसका वैशिष्ट्य अरबी–फ़ारसी शब्दों का अपभ्रंशीकरण या देसीकरण ही है। कीर्तिलता में अरबी–फ़ारसी शब्दों का प्रयोग दो विधि से किया गया है जिसमें अपभ्रंश मिश्रित तथा अरबी–फ़ारसी शब्दों का देसीकरण करते हुए उसका प्रयोग किया गया है।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने कीर्तिलता की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखा है, कीर्तिलता की यह शब्दावली और वर्णन के अंश मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास के लिए मूल्यवान है। इनसे यह सूचित होता है कि हिंदी भाषा अपने पेट में अरबी–फ़ारसी शब्दों को निधड़क पचाने लगी थी, न केवल हिंदी में वरन् प्राचीन बंगला और गुजराती में भी ऐसे शब्द घर करने लगे थे।[4]

कीर्तिलता में शुद्ध रूप में तत्सम, अपभ्रंश, ठेठ देसी और अरबी–फ़ारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस तरह अरबी–फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के औचित्य पर विचार करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है– *15 वीं शताब्दी के आरंभ में लिखने वाले विद्यापति के सामने यह रात–दिन वास्तविक प्रयोग में चालू हो चुके थे। उनको छोड़ देने से काव्य की यथार्थता का स्वरूप बिगड़ जाता और भाषा में वह जान भी नहीं रह जाती, जो अब है। यह अच्छा ही हुआ कि विद्यापति को इस बोलचाल की शब्दावली को अपना लेने में कोई दिक्कत या झिझक नहीं हुई। एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि राजमहल या शाहीमहल का जिसे विद्यापति ने 'महलमजीद' कहा है वर्णन करते हुए उन्होंने हिंदू युग की संस्कृत शब्दावली और तुर्की युग की नई फ़ारसी और अरबी शब्दावली दोनों को एक साथ अपना लिया है।*[5]

विद्यापति ने अनेकः अरबी–फ़ारसी शब्दों का प्रयोग शाही दरबार, फौज और तुर्कों के रहन–सहन के प्रसंग में किया है। कहीं ये शब्द ज्यों के त्यों प्रयुक्त हुए हैं जिसे गुलाम, सलाम, खत, बाजू वगैरह और कहीं इन्हें अपभ्रंश बना लिया गया है जैसे अदप (अदब), उज्जीर (वजीर), खाण (खान), षोजा (ख्वाजा), कादी (काजी), तकत (तख्त), दवाल (दुआल), देमान (दीवान) आदि।

रामविलास शर्मा ने विद्यापति को आरंभिक भारतीय 'नवजागरण का अग्रदूत' कहा है। ईश्वर, अलौकिक सत्ता और राजदरबार के बरक्स यहाँ से वहाँ तक उनकी रचनाओं में विन्यस्त मानवीय सरोकार और चिंताएँ विद्यापति को नवजागरण से जोड़ती हैं। मनुष्य का अस्तित्त्व विद्यापति के लिए सर्वोपरि था। मनुष्य के सम्मान के प्रति विद्यापति सर्वत्र चिंतित नजर आते हैं। उनके अनुसार मनुष्य जीवन की सार्थकता सम्मानपूर्ण जीवन जीने में हैं।

कीर्तिलता और राष्ट्रीयता :

हिंदी साहित्य में 'कीर्तिलता' का स्थान वीरगाथा काल के अंतर्गत है। आचार्य

---

4. अग्रवाल,(सं.)वासुदेव शरण,कीर्तिलता,साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी, पृष्ठ,58
5. वही, पृष्ठ 57–58

रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथा काल नाम से संबोधित किया है। आचार्य शुक्ल ने 12 ग्रंथों के आधार पर 'आदिकाल' का नामकरण वीरगाथा काल किया। इन 12 ग्रंथों में कीर्तिलता ही आचार्य शुक्ल के मानक पर अपने आपको सिद्ध करता है। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल के अंतर्गत जिन 12 ग्रंथों का उल्लेख किया है उनमें कीर्तिलता देश और काल दोनों दृष्टियों से प्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त आदिकालीन अन्य ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है।

आदिकाल के ऐसे ग्रंथों को वीरगाथा काल में शामिल नहीं किया जा सकता है जिसमें वीरता के नाम पर केवल 'स्त्री/नायिका' के अपहरण के वर्णन हैं। आचार्य शुक्ल ने इस संदर्भ में लिखा है, *किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था।*[6]

इतिहासकारों ने दलपतविजय, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो पर प्रामाणिकता को लेकर संदेह व्यक्त किए हैं। इसके साथ ही कीर्तिलता की ऐतिहासिकता पर इतिहासकारों ने संदेह नहीं किया है। इन्होंने अपनी रचना में तत्कालीन समाज एवं जिस राजनीतिक परिस्थिति का उल्लेख किया है, वह इतिहास के आधार पर संगत है।

इसका मुख्य वैशिष्ट्य तो इसकी राष्ट्रीयता है। इसके नायक ने मिथिला प्रदेश को शत्रु से मुक्त करने का प्रयास किया है। मिथिला को स्वतंत्र करने की भावना इस काव्य को राष्ट्रीय काव्य के स्तर पर सुशोभित करती है। राजा गणेश्वर की हत्या के बाद मिथिला की दशा अत्यंत दयनीय हो गई थी। कीर्तिलता में इस दयनीयता का यथार्थ वर्णन किया गया है –

ठाकुर ठक भए गेल चारें चप्परि घर लिज्झिअ।
दास गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिय
खले सज्जन परिभविय कोई नहि होइ विचारक.......
तिरहुति तिरोहित सब गुणे रा गणेश जबे सग्गग गऊँ।।[7]

राजा गणेश्वर के मरणोपरांत स्थितियाँ प्रतिकूल हो गईं। पृथ्वी अर्थात् तिरहुत (मिथिला) में हाहाकार मच गया। ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने जबरदस्ती घरों पर कब्जा कर लिया, भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म चला गया, काम–धंधे ठप्प हो गए।

इसके पश्चात् कीर्तिसिंह ने इब्राहिम शाह की मदद से शत्रुओं पर आक्रमण किया। विद्यापति ने इस आक्रमण के वर्णन में किसी भी प्रकार की अतिरंजना नहीं की है।

6. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, संस्करण, नवीनतम, पृष्ठ, 34
7. वही, पृष्ठ 242–243

साहित्य में कल्पना का समावेश होता है। यह रचनाकार के लिए दुष्कर कार्य होता है कि वह साहित्य की रचना करते समय कल्पना का सहारा नहीं लें। लेकिन कल्पना के धरातल पर रचा गया साहित्य ऐतिहासिकता की दृष्टि में संदिग्ध ही होता है।

कीर्तिलता तिरहुत राज्य के माध्यम से राष्ट्रीय स्वर को मुखरित करती है। विद्यापति ने कीर्तिसिंह के माध्यम से इतिहास के धरातल पर सिद्ध किया है –

सुरतान के फरमाने।। सगरे हसम रोल पलु,
खोदवरत ख़त उपलु।। वाद्य वाजु,सेना साजू।।

सुलतान के फरमान होते ही सारी पैदल सेना (हसम) में शोर मच गया। सब लोग पूछने लगे कहाँ जाने के लिए हुक्म निकला है ?बाजा बजने लगा, सेना सजने लगी।

पुनः विद्यापति ने लिखा है–

सज्जह सज्जह रोल पलु जानिअ इत्ति न मित्ति।।
राय मनोरथ सम्पलिअ कटकाञी तिरहुत्ति।।

तैयार हो, तैयार हो का शोर मच गया, कोई उसका कारण नहीं जानता था। राजा कीर्तिसिंह का मनोरथ पूर्ण हुआ और सेना ने तिरहुत की ओर प्रस्थान किया।

कीर्तिलताः साहित्यिक–इतिहास का आख्यान –

'कीर्तिलता' के माध्यम से इसकी ऐतिहासिकता का अध्ययन भाषा शिक्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साहित्य एवं इतिहास का आपसी संबंध होता है। ऐतिहासिकता किसी भी रचना को प्रामाणिक सिद्ध करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य और इतिहास के संबंध पर विचार करते हुए लिखा है– *हिंदुस्तान में इतिहास को ठीक–ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया है; जैसे– राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया है; जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का– फैक्ट्स और फिक्शन का अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में, मनुष्य के अपूर्व शक्ति भंडार होने में विश्वास से इस देश के ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।*[8]

---

8. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2000, पृष्ठ, 108

जननि पाए पन्नविअ जन्मभूमि को मोह छड्डिअ।
पांतिसाह उद्येसे चलु गअन राय को पुत्त।।[9]

जौनपुर जाने के रास्ते में चरितनायक कीर्तिसिंह और सहोदर वीरसिंह की जो दुर्दशा होती है, उस पर किसी का भी हृदय विदीर्ण हो सकता है। राजपुरुष, जिसने कभी कष्ट नहीं झेला, वह भयानक कष्टों से घिर जाता है। वे मिथिला की दयनीयता को दूर करने के क्रम में खुद ही दयनीय स्थिति में चले जाते हैं–

लोगों को छोड़ा, परिवार छोड़ा, राजपाट का परित्याग किया, श्रेष्ठ घोड़े और परिजनों को छोड़ा जननी के पाँव को प्रणाम किया, जन्मभूमि का मोह छोड़कर चले। नव यौवना पत्नी छोड़ी, सारा धन–वैभव छोड़ा। बादशाह से मिलने के लिए राजा गणेश्वर के पुत्र चले।

लोभ छोडिडय अवरु परिवारा।
रज्ज भोग परिहरिअ वर तुरंग परिजन विमुक्कीय।।

यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि मध्यकालीन रचनाकार विद्यापति युद्ध में स्त्री–दुर्दशा से चिंतित हैं और कीर्तिलता में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है। मिथिला के दोनों कुमार के साथ जब तुर्क सुल्तान की उद्धत सेना युद्ध के लिए प्रस्थान करती है तो वह कोहराम मचाती चलती है। गाय और ब्राह्मणों की हत्या से उसे परहेज नहीं और शत्रु नगर की स्त्रियों को बंदी बनाने में संकोच नहीं।

कीर्तिलता के सांस्कृतिक संदर्भः

कीर्तिलता 14वीं शताब्दी के भारत के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का एक संक्षिप्त दस्तावेज है। कीर्तिलता में जौनपुर के दरबार से लेकर बाजार, अट्टालिका, वीथियों, राजमार्गों, दुकानों, वेश्याओं, सिपाहियों तथा उनके तंबू का यथार्थ चित्रण हुआ है। युद्ध के समय महँगाई आसमान छूने लगती है। इब्राहिम शाह की सेना युद्ध के लिए गाँव, नगर को पददलित करते हुए मिथिला की ओर कूच करती है तो युद्धजनित महँगाई विद्यापति से ओझल नहीं हो पाती। सेर के भाव पानी खरीद कर लाइए, पीते समय कपड़े से छानिए, पान के लिए सोने का टंक दीजिए, ईंधन चंदन के भाव बिकता। बहुत कौड़ी (पैसा) देने पर, थोड़ा कनिक (अन्न) मिलता। घी के लिए घोड़ा देना पड़ जाता। शरीर में लगाने के लिए करुआ का तेल (सरसों तेल) मिलता, बांदी और बैल महँगे दामों में मिलते–

सेरें कीनि पानि आनिअ।
पीवए षने कापडे छनिअ
चंदन क मूल ईंधन विका
वहुल कौटि कनिक थोड़

---

9. सिंह, शिवप्रसाद, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, कीर्तिलता–विद्यापति, द्वितीय पल्लव वाणी प्रकाशन, आवृत्ति 2009, पृष्ठ, 248

घीवक बेचाँ दीअ घोड़
करुआ क तेल आँगे लाइअ
वांदि बड़दा सओघ पाइअ।।[10]

विद्यापति ने यह भी बताया है कि आम हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के धर्म का उपहास करते हुए भी मिल–जुलकर रहते हैं–

'हिंदू तुरके मिलल बास
एकक धम्मे अओका उपहास'[11]

विद्यापति ने जौनपुर के बाजार के दृश्य का ऐसा चित्रण किया है जिसपर सभी विद्वानों का ध्यान इस ओर स्वाभाविक रूप से गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि जौनपुर का राजसी ठाठबाट विद्यापति को उतना रास नहीं आता जितना जौनपुर का आम जनजीवन का बाजार। आधुनिककाल में भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक 'अंधेर नगरी' के बाजार वर्णन की कीर्तिलता के बाजार वर्णन से अद्भुत साम्यता है।

यह पूरा वर्णन एक प्रकार के खास स्थानीय रंग से रंगा हुआ है–

हाट करेओ प्रथम प्रवेश, अष्टधातु
घटना टंकार, केसरी पसरा कांस्य क्रेकार करें
प्रचुर पौरजन पद संभार संभिन्न धनहटा सोनहटा पनहटा
पकवानहटा मछहटा करेओ सुख– रव कथा
कहन्ते होइअ झूठ, जनि गंभीर गुग्गूरावर्तकल्लोल कोलाहल।।[12]

विद्यापति अपनी संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली रचनाओं के कारण हिंदी के प्रथम अंतर–अनुशासनिक रचनाकार तो कहे ही जा सकते हैं इसके साथ ही कीर्तिलता अपने आप में बहु–अनुशासनिक यथार्थ काव्य भी है।

कीर्तिलता और भाषा शिक्षणः

कीर्तिलता एक ऐसा पाठ प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से भाषा शिक्षण का प्रारूप (मॉडल) सफलतापूर्वक प्रस्तुत होता है। कीर्तिलता के पाठ से अपभ्रंश – संस्कृत – मैथिली के भाषा शिक्षण को आसानी से प्रस्तुत होता है। इसी क्रम में कीर्तिलता भाषा शिक्षण के साथ–साथ संबंधित क्षेत्र का राजनीति, संस्कृति, रीति–रिवाज, राष्ट्रीयता की भावना को भी प्रस्तुत करने में सक्षम है। इसे कीर्तिलता के निम्नलिखित उदाहरणों से देखा जा सकता है –

मध्यान्हे करी वेला संमद्द साज,
सकल पृथ्वी चक्र करेओ वस्तु बिकाइबा काज।।

---

10. सिंह, शिवप्रसाद, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, कीर्तिलता–विद्यापति, तृतीय पल्लव, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति 2009,पृष्ठ,295
11. सक्सेना, (सं.) बाबूराम सक्सेना, कीर्तिलता, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, 1929, पृष्ठ, 42
12. वही, पृष्ठ 253–254

मानुस क मीसि पीसि बर आंगे आंग।।
ऊँगर आनक तिलक आनकाँ लाग।।
यात्राहुतह परस्त्रीक वलया भाँग।।
ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चांडाल के आंग लूर,
वेश्यान्हि करो पयोधर जती के ह्रदय चूर।।
घने संचार घोल हाथि, बहुत बापुर चूरि जाथि।।
आवर्त विवर्त रोलहो, नअर नहि नर समुद्र ओ।।

यहाँ मध्याह्न, वेला, सकल पृथ्वीचक्र, वस्तु, परस्त्री, ब्राह्मण, यज्ञोपवीत, चांडाल, वेश्या, विवर्त आदि तत्सम हैं। इन शब्दों के साथ वाक्य में इस प्रकार प्रयोग किया गया है कि इनका तत्सम होना पाठकों के लिए कठिन नहीं होता है। ये शब्द संस्कृत के प्रचलित शब्द हैं तथा भाषा में क्रिया रूपों के प्रयोग के कारण सुगम भी है। "बिकार आए" क्रिया युग्म मैथिली और हिंदी के मेल से बने हैं। "बिकाए" मैथिली है जिसका अर्थ "बिकने के लिए" और "आए" तो खड़ी बोली की क्रिया "आना" का भूतकालिक रूप है। यह भाषा की रचनात्मक का उदाहरण है।

"आनक तिलक" में "आनक" ठेठ मैथिली प्रयोग है जिसका अर्थ है– अन्य का। इस पद में "का" के लिए मैथिली "क" का प्रयोग अनेक जगह है।

भाषा शिक्षण : अपभ्रंश–संस्कृत–मैथिली

- *अवसओ विसहर विस वमइ अमिञ विमुक्कइ चंद।*
  अवसओ(अपभ्रंश)–अवसर(हिंदी),
  विस(अपभ्रंश)–विष(संस्कृत),
  अमिञ(अपभ्रंश)–अमृत(संस्कृत/हिंदी),
  विमुक्कइ(अपभ्रंश)–विमुक्त(संस्कृत)–मुक्त(हिंदी),
- *सक्कय वाणी बुह अन भावइ। पाऊँअ रस को मम्म न पावइ।।*
  देसिल वअना सव जन मिट्ठा।।
  सक्कय(अपभ्रंश)–संस्कृत(हिंदी/संस्कृत)
  वअना(अपभ्रंश)–वाणी(संस्कृत)
  बुह(अपभ्रंश)–बुध/बुद्धिमान(संस्कृत),
  देसिल(अपभ्रंश)–देशी(संस्कृत)–देसी(मैथिली)
  मिट्ठा (अपभ्रंश)–मीठा(हिंदी/संस्कृत)–मीठ(मैथिली)
- *कित्तिलद्ध सूर संगाम।*
  धम्म पराअण हियय विपय कम्म नहु दीन जंपइ।।
  कित्तिलद्ध(अपभ्रंश)–कीर्तिलब्ध(संस्कृत/हिंदी/मैथिली)
  संगाम–(अपभ्रंश)–संग्राम(संस्कृत/हिंदी/मैथिली)
  धम्म पराअण(अपभ्रंश)–धर्म परायण(संस्कृत/हिंदी/मैथिली)

हियय(अपभ्रंश)–हृदय(संस्कृत / हिंदी)–हिरदय(मैथिली)
विपय(अपभ्रंश)–विपत्ति(संस्कृत / हिंदी)–विपैत(मैथिली)
कम्म(अपभ्रंश)–कर्म(संस्कृत)–काम(हिंदी / मैथिली)
जंपइ(अपभ्रंश)–बोलना(हिंदी)–बाजब(मैथिली)

निष्कर्ष :

"कीर्तिलता" का भाषा–शिक्षण पर व्यापक प्रभाव है। इस कृति के माध्यम से पाठकों को भाषा की विविधता, शब्दावली और व्याकरण की जटिलताओं को सहजता से समझने में सहायता मिलती है। इस ग्रंथ में प्रयुक्त मैथिली भाषा न केवल भाषा शिक्षण का साधन है बल्कि यह क्षेत्रीय भाषा के विकास में भी सहायक सिद्ध होती है। विद्यापति की भाषा शिक्षण की शैली इस प्रकार है कि यह पाठकों को स्वाभाविक रूप से भाषा को आत्मसात् करने के लिए प्रेरित करती है। उनकी रचनाओं से प्रेरणा लेकर भाषा शिक्षण को रोचक एवं प्रभावी बनाया जा सकता है।

भाषा शिक्षण की प्रक्रिया में साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विद्यापति की "कीर्तिलता" भाषा शिक्षण की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कृति है जो न केवल शिक्षार्थियों को भाषा सीखने में सहायता प्रदान करती है, बल्कि उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से भी जोड़ती है।

❑❑❑

संपर्क
राहुल सिद्धार्थ– विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, रायसेन, मध्यप्रदेश, मो. 9968380151, ईमेलः rahul.siddharth@subis.edu.in

धूपछाँही

अनुभूतियों की विविधवर्णी वर्णमाला में लिखी जाती है कविता
धूपछाँही
कि जब तुम खुश होओ या होओ उदास
जी से लगती है उसकी गलबाँही

– **ज्ञानेन्द्रपति**

असम में राम–साहित्य की परंपरा

नागेश्वर यादव*

साहित्य मनुष्य की भावात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है जो युगानुरूप निरंतर परिवर्तित होता रहा है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक जो साहित्य रचे गए हैं उनमें मानवीय चेतना का क्रमिक विकास रेखांकित हुआ है। काल के प्रवाह में प्रवाहित मनुष्य चेतना के उन तत्त्वों को ही ग्रहण करता आ रहा है जिनसे उसका स्वार्थ सिद्ध होता है। बाकी को वह कोई खास तवज्जो नहीं देता है। ग्रहण और त्याग की इस परंपरा ने परिवार, समाज और राष्ट्र को जन्म दिया। इन संस्थाओं को सुश्रृंखल, सुव्यवस्थित चिरस्थायी बनाने के क्रम में भाषा, साहित्य, धर्म, सभ्यता और संस्कृति की परिकल्पना की गई और इन सभी के केंद्र में मनुष्य को रखा गया। आत्मकल्याण के स्थान पर लोक कल्याण की भावना को स्थापित करने की प्रवृत्ति ने ही साहित्य को जन्म दिया होगा। *'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान, निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।'* अर्थात् जैसे आदि कवि वाल्मीकि ने क्रूर बहेलिए के शर से घायल क्रौंच पक्षी की वेदना की पृष्ठभूमि में एक आदर्श पुरुष की परिकल्पना कर रामायण की रचना की, उसी प्रकार अन्य भारतीय मनीषियों के साथ–साथ असम के महापुरुषों ने भी अपने–अपने युग की विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों एवं अराजकताओं को दूर करने के लिए एक ऐसे व्यक्ति की परिकल्पना की जो 'नर में नारायण और नारायण में नर' का पर्याय हो। इस तरह भारतीय साहित्य द्वारा 'नर में नारायण और नारायण में नर' की परिकल्पना आत्मकल्याण और लोककल्याण की भावना से प्रेरित दिखाई देती है। इस प्रकार की भावना का विकास बिजली की कौंध की तरह एकाएक विकसित नहीं हुई होगी, लाखों वर्ष लगे होंगे। प्रस्तर युग से लेकर मशीनी युग तक के मानव की चेतना का यह प्रवाह सरल–सपाट नहीं है। उसमें अनेक उतार–चढ़ाव और संघर्षों के मोड़ शामिल हैं। उन संघर्षों से नवीन शक्ति संचय कर अपनी जिजीविषा को सार्थक और अर्थपूर्ण दिशा देने की गाथाएँ शामिल हैं। उन्हीं गाथाओं में एक है– मर्यादा पुरुषोत्तम राम की। युग पुरुष के रूप में राम और कृष्ण असमिया जनमानस को प्रभावित करने वाले सर्वप्रमुख

*एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रवींद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, होजाई, असम।

चरित्र हैं। मौखिक और लौकिक साहित्य से लेकर शिष्टसाहित्य तक परिव्याप्त इनकी महिमा सिर्फ असमिया संस्कृति की ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। परंतु बड़ी विचित्र बात है कि असम में राम साहित्य का प्रादुर्भाव कब, कैसे, किसके द्वारा और किन परिस्थितियों में हुआ ? इसका सटीक उत्तर विद्वानों के पास आज तक नहीं है। फिर भी उपलब्ध साहित्येतिहास, आलोचनात्मक ग्रंथों एवं शिला लेखों के अध्ययन–मनन से ज्ञात होता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना की परंपरा ही राम साहित्य का मूल प्रस्थान बिंदु है जिसका उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। यह साहित्य सर्वत्र श्रद्धा–भक्ति, ज्ञान और धर्म के कलेवर में लिपटकर ही जनमानस तक पहुँचा है।

भारत के अन्य प्रांतों की तरह भक्ति की लहर से प्रभावित होकर असम प्रदेश की पावन भूमि पर राम साहित्य के सृजन की पृष्ठभूमि, वैचारिक स्रोत, विकास के विभिन्न चरणों का विधिवत एवं क्रमबद्ध अध्ययन–मनन करते हुए इस तथ्य का खुलासा करना कि तत्कालीन समाज में राम साहित्य की क्या उपादेयता थी ? तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी क्या महत्ता है? तत्कालीन राम–साहित्य में निर्धारित मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में अपने समय के समाज को समझना और समझाना तथा विश्व–मंच पर भारत की गौरवमयी सांस्कृतिक अस्मिता को स्थापित करना, अपनी राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखते हुए नागरिकों में भावनात्मक एकता और मूल्य बोध को बढ़ावा देना ही प्रस्तावित शोध आलेख का मूल लक्ष्य है।

असम, भारत के पूर्वी सीमांत पर स्थित आठ राज्यों में एक है। सभ्यता के विकास के आरंभिक दिनों से आज तक भारतवर्ष का यह भू–भाग कामरूप, प्राग्ज्योतिषपुर, असम आदि नामों से इतिहास में विख्यात है। इस अंचल में वैष्णव मत के आरंभ और विकास एवं भक्ति आंदोलन में उसकी परिणति के पहले यहाँ विभिन्न मत–मतांतरों का प्रचलन था। इन्हीं मत–मतांतरों की पृष्ठभूमि में वैष्णव भक्ति का प्रचलन असम में हुआ है। यहाँ यह भी संकेत कर देना जरूरी है कि असम की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि ठीक वैसी नहीं थी जैसी कि अन्य प्रांतों में थी। यही कारण है कि यहाँ राम साहित्य का सृजन भी ठीक उस रूप में नहीं हुआ जिस रूप में भारत के अन्य प्रांतों में होने का उल्लेख मिलता है। उपलब्ध भारतीय साहित्य में मोटे तौर पर राम कथा के विकास के तीन स्तर दिखाई पड़ते हैं– *ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं सांप्रदायिक। वाल्मीकि ने नरोत्तम राम का चरित्र प्रस्तुत किया, उनके पर्यटन की गाथा लिखी। जिस दिन उनका कार्य पूरा हुआ, राम–चरित्र की ऐतिहासिक विकास–कथा को पूर्णता प्राप्त हुई–उसी दिन मानो प्रथम स्तर भी चुक–सा गया। तत्पश्चात् मात्र साहित्यिक और सांप्रदायिक स्तरों और दिशाओं को ही लक्ष्य बनाकर रचनाएँ होती रहीं। भास, भवभूति, कालिदास, राजशेखर,*

कुमारदास, दामोदर मिश्र जैसे कवि मानवीय संवेगों से युक्त राम का अंकन कर चले, राम कथा का इस प्रकार ललित साहित्यिक पक्ष पुष्ट हो चला। इसके पश्चात् (या समानांतर ही) रामोपासना के लोकाकर्षण ने राम–चरित्र को तीसरी दिशा– संप्रदाय बद्धता–प्रदान करने की कोशिश की और कालांतर में यह रूप ही सर्वप्रमुख हो गया।[1] कहने का आशय यह कि विभिन्न समयों में परिवर्तित परिवेश और मनोभाव के अनुरूप नई–नई रामकथात्मक कृतियों की रचना होती रही है और वे युगानुरूप नए–नए मूल्यों की स्थापना एवं उनके विकास में सहायक बनी हैं। इतिहास से संप्रदाय तक की यात्रा करने की कथा को आधार बनाकर अनेक भारतीय राम–साहित्य की रचना हुई है और इन साहित्यों में राम का स्वरूप भी भिन्न–भिन्न तरह से अंकित हुआ है। लोक साहित्य हो या शिष्ट साहित्य, सर्वत्र राम और कृष्ण जो विष्णु के अवतार माने गए हैं, उनका शील, शक्ति और सौंदर्य से अभिमंडित व्यक्तित्त्व कभी उनके ईश्वरत्व का तो कभी–आम लोगों की तरह हर्ष–विषाद की अनुभूति से आनंदित–पीड़ित होने के कारण– मनुष्यत्व का बोध कराता है। असम में राम–साहित्य–रचना की जमीन कैसे और किन परिस्थितियों में तैयार हुई, उसे समझने के लिए असम की तत्कालीन परिस्थितियों का आकलन अत्यंत प्रासंगिक है।

यह सच है कि असमिया साहित्य में राम का प्रवेश स्वतंत्र रूप से न होकर वैष्णव श्रीकृष्ण के रूप में हुआ है। यहाँ के जनमानस में राम की तुलना में गिरिधर गोपाल वृंदावन बिहारी नटवर श्रीकृष्ण की छवि अधिक लोकप्रिय है। परंतु साथ ही साथ श्रीराम को भी विष्णु का पर्याय मानकर श्रीकृष्ण के समान ही आदर दिया गया है। वैष्णव धर्म के प्रचलन के पूर्व असम में कैरातिक, शैव एवं शाक्त धर्म का प्रभाव विशेष रूप से था। 'कलिकापुराण' और 'योगिनीतंत्र' (जिन्हें असम का सामाजिक–सांस्कृतिक भूगोल कहा जाता है) से प्राप्त विवरणों एवं चौथी शती और उसके बाद के मिलने वाले अभिलेखों की सामग्री की छानबीन करने से विदित होता है कि "शिवोपासना असम का प्राचीनतम धर्म रहा है। नरक द्वारा प्राग्ज्योतिषपुर पर अधिकार करने के पूर्व यहाँ के निवासी किरात शिवोपासक थे। शिव की उपासना यहाँ पौराणिक और तांत्रिक दोनों विधियों से होती थी। प्रथम विधि निरामिष, योगमूलक और मर्यादित थी जबकि दूसरी विधि सामिष, बलि–विधान, मदिरापान और रमणी–मैथुन से जुड़ी हुई थी। कालांतर में शिवोपासक किरातों को सत्ताच्युत कर नरक ने देवी–पूजा को राज्यधर्म और देवी कामाख्या को राज्य देवी स्वीकार किया।"[2] (योगिनीतंत्र, 1/12/7 शक्ति च प्रददौ तस्मै सर्वशक्तविनासातनीम्। राज्ञेप्राप्ताभिषेकाय विष्णुः शक्ति ददावपि।) शैवों के प्रभाव के कारण कामाख्या को शिव की शक्ति के रूप में

---

1. असम–प्रांतीय राम–साहित्य, पृ. सं. 8
2. असम–प्रांतीय राम–साहित्य, पृ. सं. 22

मान्यता प्राप्त होना तो ठीक है परंतु शक्ति की योनि–पूजा, कुमारी–पूजा, अंबुबाची इत्यादि का पर्व के रूप में प्रमुखता देना वामाचारिता की व्यापकता को प्रकट करता है। पंच मकार (मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) और महासुख की अवधारणा ने न सिर्फ शिष्ट जनों की वैचारिक चिंतन को कुंठित किया, अपितु सामान्य जनता की रुचि–अभिरुचि को भी विकृत बना दिया था। तांत्रिकों के लिए मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन का सेवन अनिवार्य हो जाने के परिणामस्वरूप समाज में कर्मकांड और बलिविधान को फलने–फूलने का अवसर मिला। कुल मिलाकर इस समय तक कामरूप तंत्र, मंत्र, जादू–टोना और वामाचार का प्रमुख केंद्र बन चुका था। शैव, शाक्त मतों के अतिरिक्त बज्रयानी बौद्धों, कौलों, तांत्रिकों के घृणित स्वेच्छाचारों से समाज ग्रस्त था।[3] भारत के अन्य प्रांतों से आकर निवास करने वाले अनेक देव–देवियों का जो सम्मिलन नरक के समय में आरंभ हुआ था, उसका क्रम भी जारी था। इतिहास में यह अवधि अंधकार–काल के रूप में दर्ज है। इसी संक्रमण की पृष्ठभूमि में चुपके से असम में वैष्णव मत के प्रवेश का उल्लेख (योगिनीतंत्र) मिलता है। कालांतर में वैष्णव धर्म की बढ़ती लोकप्रियता से प्रभावित होकर कामरूप–नरेश धर्मपाल द्वारा शैव मत का परित्याग और वैष्णव मत ग्रहण करना इस बात की ओर संकेत करता है कि जनता प्रचलित व्यवस्था के स्थान पर एक नई व्यवस्था की माँग कर रही थी। इन्हीं विषम परिस्थितियों में वैष्णव साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है।

कृष्ण से राम की अभिन्नता स्वीकृत होने के कारण कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण–चरित्र के साथ ही राम–चरित्र का भी गायन किया है। अतः असम में वैष्णव साहित्य की जो सुदीर्घ परंपरा रही है, उसमें राम–साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। असमिया भाषा में राम–साहित्य की परंपरा का शुभारंभ माधवकंदली कृत 'पंचकांड रामायण' से होता है। इस परंपरा को पल्लवित एवं पुष्पित करने में अनेक छोटे–बड़े कवियों, भक्तों, चिंतकों एवं महापुरुषों का योगदान रहा है जिनमें श्रीमंत शंकरदेव (उत्तरकांड), श्री माधवदेव (आदिकांड), हरिहर विप्र (लवकुशर युद्ध), अनंत कंदली (रामायण), दुर्गावर कायस्थ (गीति रामायण), अनंत ठाकुर आता (श्रीरामकीर्तन), रघुनाथ महंत (अद्भुत रामायण) आदि के अतिरिक्त शिष्ट भट्टाचार्य (कथा किष्किंधा), श्रीचंद्र भारती (महिरावण वध), कृतिवास पंडित (अंगद–रायवर), भवदेव विप्र (नागाक्ष युद्ध), तीर्थनाथ गोस्वामी (रामवनवास, सीताहरण, बाली–वध, लवकुशर युद्ध), ज्योतिप्रसाद आगरवाला (ज्योति रामायण) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त जनजातीय राम–साहित्य तथा संस्कृत एवं हिंदी आदि से अनूदित कृतियों के परिप्रेक्ष्य में यह समझने का प्रयत्न किया गया है कि असम–प्रांतीय

3. द मदर गॉड्स कामाख्या, अनुच्छेद–73

रामायण में किस प्रकार राम के चरित्र को सामने रखते हुए असम की स्थानीय संस्कृति और परंपराओं का निर्वहण किया गया है ? तथा क्यों धार्मिक कर्मकांडों का परित्याग कर सांस्कृतिक आचरण को परिष्कृत करने और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया गया है ? कैसे रामायण की कथावस्तु, चरित्र–योजना एवं शिल्प–विधान में किंचित वैषम्य होते हुए भी उद्देश्य में साम्य स्थापित कर सांस्कृतिक समन्वय पर बल दिया गया है ?

संकेत किया जा चुका है कि श्रीमंत शंकरदेव के पूर्व असमिया साहित्य में राम के जीवन–चरित्र को आधार बनाकर औपचारिक रूप से काव्य रचना का सूत्रपात माधवकंदली के 'पंचकांड रामायण' से होता है। इस तथ्य की पुष्टि शंकरदेव की आत्म स्वीकारोक्ति से भी होती है, जिसमें उन्होंने असमिया के प्रथम रामकाव्यकार माधवकंदली का न केवल सश्रद्ध 'अप्रमादी कवि' के रूप में स्मरण किया है, बल्कि काव्यकारिता की दृष्टि से उन्हें 'हाथी'(महान, श्रेष्ठ, बड़ा) और उनकी तुलना में अपने को 'खरहा'(तुच्छ, हीन, लघु) तक घोषित किया है।

पूर्ब्ब कवि अप्रमादी माधवकंदली आदि, तेहे विरचिला राम कथा।
हस्तीर देखिया लाद शशा येन फारे मार्ग, मोर भैल तेह्नय अवस्था।[4]

आलोच्य उद्धरण में प्रयुक्त 'माधवकंदली आदि' पद में 'आदि' शब्द से ध्वनित होता है कि शंकरदेव तथा उनके समकालीनों के पूर्व माधवकंदली के अलावा अन्य रामकाव्यकार असमिया में हुए होंगे इसीलिए उन्होंने 'आदि' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त न करके संज्ञा के रूप में किया है,जिसका अर्थ 'प्रथम' न होकर' इत्यादि' है।

कहने का आशय यह कि शिष्ट और अभिजात्य साहित्य के अतिरिक्त तद्युगीन असम के विभिन्न लोक माध्यमों में भी राम–चरित्र गेय और अभिनय के द्वारा प्रचारित–प्रसारित हो रहा था। उस युग में भावरिया, ढुलिया, ओजापालि जैसे गीत–नृत्य–प्रधान लोक–नाट्यों के माध्यम से राम–चरित्र जन मानस को आह्लादित और अनुप्राणित कर रहा था। इसके अतिरिक्त असमिया संस्कारपरक लोक गीतों, लोक कथाओं एवं लोकगाथाओं में भी राम और श्रीकृष्ण के नामों का उल्लेख मिलना इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। ओजापालि के लिए दुर्गावर– कृत 'गीति रामायण' आज भी लोकप्रिय रचना है। यह बात और है कि उक्त कृतियाँ नव वैष्णवभक्ति आंदोलन के पूर्व होने के कारण उनका मूल स्वर वैष्णवभक्ति काव्य की तरह नहीं है। उन पर शाक्त वातावरण का प्रभाव परिलक्षित होता है किंतु कालांतर में हुए पाठ परिवर्तनों ने उन पर वैष्णव–भक्तिकाव्य की छौंक अवश्य डाल दी है। अतः इन काव्यकृतियों को नव वैष्णवभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में समझना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। इस संदर्भ में डॉ. बिरंचि कुमार बरूवा का कथन अवलोकनीय है–

4. सप्तकांडर रामायण, उत्तरकांड पद. सं. 7041

The legacy of a rich and beautiful diction which Madhava Kandli left in his Ramayana exercised a tremendous influence on Sankaradev and his immediate successors[5]

अर्थात् शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित एकशरण नामधर्म के कारण जिस असमिया वैष्णव मत को एक नई दिशा और दार्शनिक विचारधारा मिली, उन पर रामकाव्यकारों का कम ऋण नहीं है। माधवकंदली कृत पंचकांड रामायण की मौलिक विशेषताएँ जो परिलक्षित होती हैं, वे निम्नांकित हैं–

क) यह वाल्मीकि रामायण का हू–ब–हू अनुवाद नहीं, अपितु उसके अनुकरण पर लोकभाषा में रचित स्वतंत्र रचना है।

ख) वाल्मीकि रामायण के अवांतर प्रसंगों के विस्तार को माधवकंदली ने छोड़ दिया है तथा लोकरुचि के अनुरूप स्वतंत्र प्रसंगों की उद्भावना कर अपनी कवि प्रतिभा का परिचय दिया है।

ग) माधवकंदली की रचना कोमल मधुर पदावली में हुई है।

घ) रामचरित्र रूपी पुण्य कथा अमृतरूपिणी ही नहीं, कलिमलसंहारिणी और मोक्षदायिनी भी है।

पंचकांड रामायण के अध्ययन–अनुशीलन से ज्ञात होता है कि रामभक्त के रूप में माधवकंदली के भक्तिविषयक कतिपय उद्गार तो अवश्य प्रस्फुटित हुए हैं, किंतु इसकी रचना के मूल में उनका उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार करना नहीं था। इस संदर्भ में श्री उपेंद्रचंद्र लेखाः का मत अवलोकनीय है–

कंदलिर निजर उक्तिबोरर परा धरिब पारि ये काव्य प्रचारेइ तेऑँर मूल उद्देश्य, कोनो धर्मशिक्षा दिया बा रामत ईश्वरत्व आरोप करि भक्तकवि तुलसीदासर दरे रामभक्ति–शाखा प्रचार करा तेऑँर उद्देश्य नहय।[6] कंदली की आत्मस्वीकृति से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इस काव्य रचना के पीछे उनका मूल उद्देश्य काव्य प्रचार करना था, किसी धर्म की शिक्षा देना या राम में ईश्वरत्व का आरोप कर रामभक्ति शाखा का प्रचार करना नहीं था।[7] कथागुरुचरित से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि माधवकंदली–कृत रामायण में भक्तिविषयक उद्गार बाद में माधवदेव द्वारा अंतर्भुक्त किए गए हैं पर इसमें किन–किन स्थलों पर कितना अंश माधवदेव कृत या प्रक्षिप्त है यह कहना मुश्किल है। किंतु इतना तो तय है कि अद्यावधि उपलब्ध माधवकंदली–कृत रामायण अपने मूल रूप में नहीं, अपितु माधवदेव द्वारा किंचित संशोधित–परिवर्धित और संपादित रूप में ही उपलब्ध है। शंकर देव द्वारा उत्तरकांड और माधव देव द्वारा आदिकांड के जोड़े जाने के बावजूद भी माधवकंदली के वैशिष्ट्य

5. History of Assamese Literature, P-12.
6. असमिया रामायण श्री उपेंद्रचंद्र लेखाः (पृ. सं. 40)
7. कथागुरुचरित (पृ. सं. 119)

पर कोई आँच नहीं आने दी गई है। इस संदर्भ में मेरी यह धारणा है कि काव्य रचना चाहे जिस किसी ने या जब कभी की हो, वह न तो युग निरपेक्ष होती है और न समाज–निरपेक्ष। रचना में युगीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियाँ कमोवेश प्रतिबिंबित हुए बिना नहीं रहतीं। क्या पता, माधवकंदली के जमाने में विष्णु–पूजा की बढ़ती लोकप्रियता ने ही उन्हें लोकभाषा असमिया में रामायण लिखने की ओर प्रेरित किया हो। कालांतर में चलकर श्रीमंत शंकरदेव एवं उनके शिष्य भक्तप्रवर माधवदेव ने एक आडंबरहित, समतामूलक, स्वस्थ समाज की रचना हेतु राम–कृष्ण के चरित को अपने ढंग से प्रस्तुत किया और राम साहित्य की परंपरा को एक नया आयाम दिया। इन भक्त कवियों की सभी रचनाओं की विषय वस्तु चाहे कुछ भी रही हों किंतु मूल लक्ष्य रहा है– समाज की विकृत परंपराओं, अंधविश्वासों, जर्जर रूढियों को ध्वस्त कर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना।

महापुरुष श्रीमंत शंकर एवं भक्तप्रवर माधवदेव का आविर्भाव ऐसी विषम परिस्थिति में हुआ था जब संपूर्ण जनता उच–नीच, छुआ–छूत, तंत्र–मंत्र, जादू–टोना, अंधविश्वास तथा गुह्य रहस्य की अंधी गलियों में फँसी हुई थी। उनकी मुक्ति कामना हेतु श्रीमंत शंकर देव ने परंपरित भक्ति के विरुद्ध नवीन भक्ति–मार्ग की नींव रखी। अपने जीवनादर्श, मत एवं मूल्यों को प्रचारित करने के लिए 'एक देव एक सेव्य' का नारा देते हुए एक 'शरणीया नव वैष्णव धर्म' को अपनाया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने वेद, पुराण, उपनिषद, भगवत, रामायण, महाभारत, गीता आदि में बिखरे सूत्रों को नए सिरे से संजोया तथा साधारण लोगों को राजा एवं पुरोहितों के चंगुल से बचाया। तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि के स्थान पर चित्त की शुद्धि और आचरण की सरलता पर बल देते हुए भक्ति को मुक्ति का मार्ग माना। भक्ति हेतु निष्काम कर्म और आत्मसमर्पण को अपरिहार्य माना। ब्राह्मण, शूद्र, चंडाल आदि सभी के लिए भक्ति का द्वार समान रूप से खोलकर समाज में नवीन क्रांति का उद्घोष किया। यही कारण है कि उनके आराध्य इष्टदेव सगुण होते हुए भी निर्गुण हैं और निर्गुण होते हुए भी सगुण, श्रीकृष्ण होते हुए भी श्रीराम के पर्याय हैं और कुल मिलाकर नव–वैष्णव धर्म का आधार स्तंभ हैं।

यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत करना जरूरी है। पहला यह कि नव वैष्णव भक्ति आंदोलन में विष्णु–कृष्ण की उपासना ही असम में प्रमुख रही। उसमें विष्णु के नरावतार राम को स्वतंत्ररूपेण कभी वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं हुआ। किसी रामावत संप्रदाय का न तो यहाँ उद्भव ही हुआ और न ही किसी दूसरे प्रदेश से रामभक्ति–प्रचारक आचार्यादि ने यहाँ आकर स्वतंत्र रामभक्ति का प्रचार ही किया। परंतु नाम, गुण, कीर्तन, स्मरण, पठन–गायन और लीलाओं के सश्रद्ध श्रवण में राम और श्रीकृष्ण को समान महत्त्व दिया गया है। एक शरण नामधर्म में भगवन्नाम का स्मरण करना ही

सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया। यही कारण है कि उन्होंने स्वयं 'उत्तरकांड' रामायण की रचना की तथा अपने प्रिय शिष्य माधवदेव से 'आदिकांड' रामायण की रचना करवाकर माधवकंदली कृत पंचकांड रामायण को सप्तकांड रामायण में परिवर्तित किया। इसके पीछे का रहस्य यही था कि जनता के सामने रामराज्य यानी एक आदर्श समाज की रचना की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वयं तथा अपने परम शिष्य माधवदेव को ऐसे ग्रंथों की रचना की ओर प्रेरित किया जिनमें भारतीय संस्कृति की गौरवमयी छवि साकार हो उठे। यही कारण है कि उनके द्वारा रचित 'बरगीत' तथा माधवदेव कृत नामघोषा श्रेष्ठ आध्यात्मिक गीत का उत्कृष्ट नमूना तो हैं ही, उन दोनों की अन्य रचनाएँ आदर्श, नैतिकता की पृष्ठभूमि में चरित्र निर्माण और आडंबररहित सहज–सरल जीवन का संदेश देने वाली हैं। गौरतलब है कि भारतीय रामसाहित्य में राम के जिस शील, सौंदर्य एवं शौर्य की बात कही गई है उसे ही शंकरदेव एवं माधवदेव अपने देशवासियों तक पहुँचाने में लीन नहीं थे, अपितु अपने समय एवं समाज की परिस्थितियों के अनुकूल भाव एवं शिल्प में परिवर्तन भी करने से नहीं हिचकिचाए। दूसरा यह कि अपने विचार, दृष्टिकोण एवं सिद्धांत को सर्वजन सुलभ और सर्वग्राह्य बनाने के लिए भाषा की दृष्टि से मैथिली, ब्रज, बंगला और असमिया मिश्रित एक नवीन काव्य भाषा–ब्रजबुलि का निर्माण किया।

इन दोनों महापुरुषों के पश्चात् असम में राम साहित्य को गति प्रदान करने वालों में हरिहर विप्र का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है जिन्होंने अपनी कृति 'लवकुशर युद्ध' में लंकाविजय के पश्चात् सीता–लक्ष्मणादि सहित राम के अयोध्या प्रत्यावर्तन से लेकर रामअश्वमेघ तक की कहानी को कथानक के रूप में ग्रहण किया है। कुछ आलोचक एवं साहित्येतिहासकार इसे जैमिनीय भारत का अनुवाद बताते हैं। परंतु महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि यह अनूदित कृति है या मौलिक, महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि कवि ने राम कथा का वर्णन करने के दौरान असम की सांस्कृतिक रीति–रिवाज एवं परंपरा को उद्घाटित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इस दृष्टि से पुंसवन–संस्कार को लिया जा सकता है[8] राम द्वारा पंचदेव की पूजा(38), भरत आदि का जोरा–नाम गाना, स्वर्ण आभरण से सीता के गर्भ को ढ़कना(40) और वशिष्ठ का सीता और राम के केश–गुच्छ को एक साथ कर उस पर जनक से पानी ढलवाना। इनकी दूसरी सबसे प्रमुख विशेषता यह है–पौराणिक कथा चरित्रों को ग्रामीण वातावरण और सहज–सरल जनसाधारण के अनुरूप ढालकर उपस्थित करना।

असमिया में रामसाहित्य को दिशा देने वाले भक्त कवियों में अनंत कंदली का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि इन्होंने रामायण की रचना राम भक्ति का

8. उरूलि मंगल (पद सं. 37)

प्रचार करने के उद्देश्य से की है। इनके पूर्ववर्ती कवियों ने राम के जीवन चरित को आधार बनाकर जो रचनाएँ प्रस्तुत की थीं, वे जनमानस के अंदर लोकप्रिय तो हो गई थीं किंतु उन रचनाओं में राम नर के रूप में अंकित हुए थे। इन्होंने अपनी रामायण में भक्ति का पुट देकर राम में ईश्वरत्व स्थापित करने का प्रयास किया है। भक्ति प्रतिपादन और भक्ति के प्रचार को सामने रखकर रामायण की रचना की ओर प्रवृत्त होने वाले ये पहले असमिया कवि ठहरते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में

रामर चरणे भजिवाक मने मोहोर यतन अति।
एतेके भकति पथ दरशिलों भजुओक साधुलोक।
भक्तिसे तोर पातेक सिंधुक दूर होवे दुख शोक।[9]

गौरतलब है कि संस्कृत का प्रकांड विद्वान होते हुए भी उन्होंने जनभाषा असमिया में रामायण की रचना इसलिए की ताकि अधिक से अधिक लोग उनके भाव, विचार एवं भक्तिपरक दृष्टिकोण से परिचित हो सकें। 'येहे कृष्ण सेहि राम' कहकर इन्होंने कृष्ण एवं राम में अभेद स्थापित किया है। परंतु दुख का विषय है कि इनके द्वारा रचित रामायण के तीन कांड–अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा ही उपलब्ध होते हैं।

रामकाव्य परंपरा को आगे बढ़ाने में कवि दुर्गावर की भी महती भूमिका रही है। इनकी 'गीतिरामायण' को लेकर इतिहासकारों एवं आलोचकों में आज भी यह विवाद का विषय बना हुआ है कि यह वाल्मीकीकृत 'रामायण' से प्रभावित है या माधवकंदली कृत 'पंचकांड रामायण' से। प्रभाव चाहे जिसका भी हो परंतु इनकी मौलिकता इस बात में झलकती है कि इन्होंने अपनी लोकरुचि और लोकमानस ज्ञान का अगाध परिचय देते हुए गीतों में रामायण की रचना की जिसके लिए ओजापालि (जिसमें गीत, नृत्य और गायन की प्रधानता होती है) की शैली का प्रयोग किया है। कथा–विधान के परीक्षण से ज्ञात होता है कि कवि ने वैसे प्रसंगों को विस्तार देने में रुचि दिखलाई है जो प्रसंग जनसाधारण के मर्म को छू सकने में समर्थ हैं। अरण्य में सीता द्वारा माया–अयोध्या की सृष्टि और मदन चतुर्दर्शी उत्सव[10], चकवा–चक प्रसंग[11], स्वर्णमृग–प्रसंग[12] आदि का समावेश करना कवि की मौलिक प्रतिभा का परिचायक हैं। इस ग्रंथ की लोकप्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि आज भी पश्चिमी असम के विभिन्न स्थानों विशेषकर कामाख्या में अवसरविशेष पर गीतिरामायण का ओजापालीय प्रदर्शन होता है। डॉ. वाणीकांत काकति इसे वाल्मीकीय रामायण का लोक–संस्करण मानते हैं। परंतु मेरा मत है कि यह लोक–संस्करण तो है परंतु वाल्मीकीय रामायण का नहीं वरन् माधवकंदली रामायण का। भाषा और भाव की सरलता, स्पष्टता, लोकोन्मुखता और विश्वसनीयता की दृष्टि से यह ग्रंथ राम काव्य परंपरा में अपना स्थान सुरक्षित रखने में सफल है।

---

9. अयोध्याकांड, 1007,
10. माया अयोध्या की सृष्टि और मदन–चतुर्दशी उत्सव (गीत सं. 43–64), 11. चकवा–चक प्रसंग (गीत सं. 355–405), 12. स्वर्णमृम–प्रसंग. गीत सं. 146–158)

इसी कड़ी में अनंत ठाकुर कृत 'श्रीराम–कीर्तन' का उल्लेख करना विशेष रूप से प्रासंगिक जान पड़ता है क्योंकि इसमें कवि ने राम के चरित्र, गुण एवं उनके जीवन से संबंधित घटनाओं का वर्णन मात्र तिरसठ पदों में कीर्तन शैली में किया है। हालाँकि इस शैली की नींव महापुरुष शंकरदेव ने अपनी रचना कीर्तनघोषा में बहुत पहले ही रख दी थी किंतु उनकी विषय–वस्तु की व्यापकता, भाषा एवं शिल्प की गंभीरता के सामने साधारण पाठक का धैर्य डोलने लगता था। इसकी पूर्ति इस रचना के द्वारा होती है। कुछ विद्वानों ने इसे शिशुरामायण की संज्ञा दी है। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य है– रामकथा की संक्षिप्तता, रचना रीति की सरलता और सहजता, गेयता और मधुरता। कवि का लक्ष्य काव्य रचना करना नहीं, भगवान के नाम–रूप–लीला और धाम का कीर्तन करना भर है।

राम–कथाकारों में रघुनाथ महंत विशेष महत्त्व के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी तीन रचनाओं–'शत्रुंजय', 'अद्भुत रामायण' और 'कथा–रामायण' के द्वारा एक अलग पहचान बनाई है। इनकी तीन कृतियों में अंतिम कृति गद्यात्मक है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में गद्य में रचित यही प्रथम रामायण है। इसकी भाषा को डॉ. सत्येंद्रनाथ शर्मा ने भकतिया गद्य की संज्ञा दी है। असमिया रामकथाकारों में माधवकंदली के बाद रघुनाथ महंत ने ही पहली बार रामकथा को समग्रता में उपस्थित करने की सफल चेष्टा की है। शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित महापुरुषिया मत के अनुयायी एवं दैयांग सत्र के अधिकारी रघुनाथ की महत्ता और विशिष्टता उनके उदार रामभक्त कवि होने में ही निहित है।

असमिया साहित्य में 'आलोक–संधानी कवि', 'विपल्वी मनीषा' और 'रूपकोंवर' के रूप में विख्यात ज्योतिप्रसाद आगरवाला कृत 'ज्योति–रामायण' अधूरी रचना होने के बावजूद भी राम–काव्य परंपरा में एक अनूठी रचना है। इसमें कवि ने असम की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों के आलोक में रामकथा कहने का उपक्रम किया है। इसकी मूल कथा पाँचवें शीर्षक से आरंभ होती है। इसके पूर्व कवि ने 'आग कथा' शीर्षक के अंतर्गत भारतवर्ष में सभ्यता के विकास का संक्षिप्त किंतु मर्मस्पर्शी विवरण देते हुए बताया है कि भारतीय संस्कृति आर्यों एवं अनार्यों का सम्मिलित रूप है। किसी जमाने में भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का डंका बजता था परंतु विदेशी आक्रांताओं के चंगुल में फँसने के बाद भारत की दुर्दशा शुरू हो गई। उन्हीं के शब्दों में–

"सेइ आर्य गैरवर बेलि मरि गैल,
हिंदुस्थान इंग्लैण्डर तलतीया हैल।" [13]

गौरतलब है कि कवि उक्त पंक्तियों में अपने युगीन दासता को ही रूपायित कर

13. ज्योति ग्रंथावली, प्र.सं. 724, अ. प्र. प. गु. 1981

रहा है और अपने देशवासियों में आत्मबल और उत्साह जाग्रत करने के लिए ग्रंथ के वस्तु निर्देश में रामकथा का निर्देश देते हुए कहता है–

"राम नामे आर्य राजा आछिल एजना।
कुँवरी सुन्दरी सीता कमलनयना।
रामर कथारे लिखा आछे रामायण।
मनदि पढिबा देइ सरू पोनाकण।"[14]

'सेवाजननी' शीर्षक में कवि ने अपना परिचय तथा 'वाल्मीकि मुनि कथा' में वाल्मीकि के रत्नाकर रूप का तथा उनके मन में कविता की उत्पत्ति कैसे हुई, उन सबका जिक्र करने के पश्चात् रामायण की मुख्य कथा का वर्णन किया है। इनकी कथा का मूल स्रोत वाल्मीकीय रामायण होने के बावजूद भी वर्णन की स्वाभाविकता, आँचलिक विशिष्टता, भाषा–शैलीगत ध्वन्यात्मकता, संक्षिप्तता और युगानुकूल नव्यता की मौलिकता लिए हुए है। यथा–

भनीयेक आहि हलने बाइटि बुलि मातिलेहि पिछे।
उठि चकखाइ निजे लाज पाइ कँकालत मेखेला खोछै।[15]

गौरतलब है कि जनकपुर की नारियों में मेखला–रिहा–चादर पहनने की प्रथा न तब थी और न आज है परंतु कवि अपने समाज के वैवाहिक अनुष्ठान में पहने जाने वाले बहुमूल्य वस्त्रों का विधान कर आँचलिक परिवेश को सामने लाया है। एक विशेष बात यह कि इस ग्रंथ में शिशु मानसिकता को यथार्थ रूप देने में कवि को आशातीत सफलता मिली है। कदाचित आधुनिक असमिया साहित्य में शिशु साहित्य के लिए नई जमीन तैयार करने वाले ये पहले कवि हैं।

प्राक्शंकरीयुग से लेकर असमिया साहित्य में जो राम–काव्य की परंपरा आरंभ हुई, वह आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। काव्य ग्रंथों के अतिरिक्त रामायणी प्रसंगों पर नाटकों की रचना अधिक हुई है। और यह भी सच है कि काव्य और नाटक के अतिरिक्त अद्यावधि असमिया की किसी अन्य गद्य विधा में रामकथा–संबंधी कृतियाँ नहीं रची गई हैं। उपलब्ध साहित्येतिहास और आलोचनात्मक ग्रंथों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि राम कथा पर आधारित असमिया में नाट्य रचना की एक सुदीर्घ परंपरा है। राम कथा के विभिन्न प्रसंगों पर आधारित नाटकों की रचनाप्रक्रियागत भिन्नता के आधार पर इन्हें दो वर्गों में रखकर समझा जा सकता है– अंकिया नाट और आधुनिक नाटक। अंकिया नाट का श्रीगणेश श्रीमंत शंकरदेव कृत 'राम विजय'(1568) नाट से होता है। इस परंपरा में रचे गए प्रमुख नाटकों में नित्यानंद कृत 'मारीचवध', 'सीता पातालगमन', 'दीन गोपाल कृत 'सीता–हरण', अनंतदेव कृत

---

14. ज्योति ग्रंथावली, पृ. सं. 724
15. ज्योति ग्रंथावली, पृ. सं. 755

'सिंधुममुनि वध', परमानंददेव गोस्वामी कृत 'रावण वध', पूर्णकांत कृत 'लंका–दहन', कमलाकांत कृत 'कपींद्र विजय', हरेंद्रदास कृत 'दुर्वासा भोजन' आदि सैंकड़ों अंकिया नाट हैं जिनमें राम के जीवन प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। ठीक इसी प्रकार आधुनिक साहित्यकारों ने भी रामकथा के विभिन्न प्रसंगों, पात्रों, घटनाओं को आधार बनाकर आधुनिक नाटकों की रचना की है। ऐसे नाटकों में रामाकांत चौधरी (सीता–हरण), देवनाथ बरदलै (वैदेही वनवास), चक्रधर बरूवा (मेघनाद–वध), दुर्गेश्वर शर्मा(बालि–वध), अतुलचंद्र हाजारिका (श्रीरामचंद्र), करुणाधर बरूवा (सीता), सुरेंद्रनाथ शइकीया (लक्ष्मण), मित्रदेव महंत (बैदेही–वियोग), गोपालचंद्र बरा(जनक) आदि प्रमुख हैं। 'संख्यात्मक और धार्मिक उद्देश्य की दृष्टि से आधुनिक नाटकों की अपेक्षा अंकिया नाट अधिक महत्त्व की है।'[16] यह बात और है कि आजकल कई दृष्टियों से अंकिया नाट अपनी पूर्व गरिमा खो चुके हैं, तथापि उनका लेखन जारी है। इस संदर्भ में डॉ. महेश्वर नेओग का कथन अवलोकनीय है– *नतुन नाटबोरर विषये थुलमुलभावे क'ब पारि ये सिबिलाकत माधवदेवर सरू झुमुरा गढ़ अनुसरन न करि शंकरदेवर पूर्णांग अंकबोरर आर्हिके करा हैछे। अवश्ये सेई आदर्श रक्षात अनेकखिनि अवसाद आहि परिछे। संस्कृत श्लोक रचना बहुतरे कारणे बले नोवरा शिल ह'ल, यदिओ अनुस्वार–बिसर्ग–युक्त शब्द–समष्टिये नाटकर एइ अंग पुराइ थाकिल। अवश्य दुइ–अटि नतुन रागर प्रचलन देखा–पोवा याय। ब्रजबुलि शैली शिथिल है आहिल।नाटकर संगीत अंशओं गतानुगतिक ह'ल*।[17] आधुनिक नाटकों के न केवल नाट्यशिल्प परिवर्तित हुए हैं बल्कि उद्देश्यगत भिन्नता के कारण कथावस्तु–गठन, चरित्रांकन, देशकाल–निर्वाह में भी अंतर लक्षित होता है।

उपर्युक्त नाटकों के परीक्षण, विश्लेषण, अनुशीलन और मूल्यांकन से स्पष्ट होता है कि अधिकतर नाटककारों ने अपनी उर्वर कल्पना और तार्किक बुद्धि से अपने युगीन समाज की गतिविधियों को स्वर देने का भरसक प्रयास किया है। हालाँकि इनमें दो–तिहाई से भी अधिक नाटकों की रचना धार्मिक–आध्यात्मिक उद्देश्य से हुई है, जबकि शेष की रचना के मूल में वृहत्तर मानववादी दृष्टि ही प्रमुख रही है।

काव्य और नाटक के रूप में आज तक असमिया भाषा में जितने भी राम–साहित्य रचे गए हैं, उनके अतिरिक्त असम में प्रचलित कई अन्य भाषाओं में भी राम–चरित्र–संबंधी काव्य मिलते हैं जिनमें गोष्ठी विशेष के संश्लिष्ट जातीय और सांस्कृतिक चित्र अंकित हुए हैं। इस दृष्टि से कार्बी रामायण (साबिन–आलुन) और खामति रामायण (लिक चाओं लामांग) का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। गौरतलब है कि कार्बी समाज

16. कृष्ण प्रसाद मागध, शंकरदेवः साहित्यकार औरर विचारक, पृ. सं. 459–460
17. असमिया साहित्यर रूपरेखा, पृ. सं. 222–223

में प्रचलित रामकथा की आख्या लोकगाथा पर आधारित है, जिसमें 'साबिन' का अर्थ है– गाने या रचने वाला व्यक्ति तथा 'लुन' का अर्थ है–गान या गीत। इस प्रकार 'साबिन–आलुन' का शाब्दिक अर्थ है–साबिन के द्वारा रचा या गाया हुआ गीत। इस गाथा में राम–लक्ष्मण नारायण के तथा सीता लक्ष्मी के अवतार माने गए हैं जो अत्याचारी रावण का संहार करने हेतु मानव रूप धारण किए हैं। यह लोकगाथा वाल्मीकीय परंपरा की होकर भी इस अर्थ में सर्वथा नई और मौलिक है कि इसने कार्बी–जनजीवन से खाद्य–पानी ग्रहण कर नवीन जन्म पाया है, नए रूप में विकास किया है। यह लगभग ढाई हजार पंक्तियों की लोकगाथा है। इसके गायन और अभिनय में कुछ खास विधि–निषेधों को ध्यान में रखना पड़ता है। आनुठानिक गायन के लिए वातावरण की पवित्रता, एक ही बार में न गाकर दो–तीन बार में समाप्त करना तथा एक व्यक्ति द्वारा पूरे जीवन में मात्र तीन बार ही गायन करना और तीसरे अथवा अंतिम बार के गायन समाप्ति पर मांस, मदिरा के साथ अपने पुरवासियों के लिए भोज का आयोजन करना विशेष रूप से शामिल है। यह न तो धार्मिक लोकगाथा है और न ही कार्बी समाज में इसका धार्मिक महत्त्व है। इसका महत्त्व केवल सामाजिक एवं सांस्कृतिक है। इसके अनुशीलन से यह कहा जा सकता है कि धार्मिक पूजा–उपासना की दृष्टि से कोई भी जाति अथवा समाज भले ही भिन्न रहा हो, पर इसमें दो मत नहीं कि रामायण की कहानी ने न केवल भारत की विभिन्न वनवासी, गिरिवासी जातियों के अपितु भारतेतर देशों की असंख्य जातियों के सांस्कृतिक निर्माण में भी पर्याप्त योगदान दिया है।

असम के उत्तर लखीमपुर जिले और अरुणाचल के लोहित अंचल में मुख्य रूप से 'खामति' जाति रहती है। यह टाई जाति की ही एक शाखा है, जो बौद्ध मतानुयायी है। 'खामति' स्थानवाचक शब्द है जिसका अर्थ है– खाम (स्वर्ण) +ति (स्थान), यानी स्वर्णदेश या स्वर्णदेश के लोग। इसका वास्तविक नाम है–'लिक चाओं लामांङ्' (श्रीराम काव्य) अथवा 'चाओ आलंङ् लामांङ्' (श्रीरामावतार–कथा)। यह पैंतीस अध्यायों में विभक्त है। कथा के वाचक हैं स्वयं भगवान बुद्ध और श्रोता हैं आनंद एवं अन्य शिष्य। शिष्यों के सम्मुख उपदेश के रूप में कथा की वाचना (लाओ–मुंङ्) होने के कारण ही इसे संक्षेप में 'चाओ लामांङ्' भी कहा जाता है। इसके कथा–स्रोत का संकेत सत्रहवें अध्याय के आरंभ में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि मानव–जीवन को आलोकमय बनाने के लिए यह कथा सुतपिटक से टाई भाषा में रखी गई है। वस्तुतः इसमें वर्णित राम–कथा मोटे तौर पर असम में प्रचलित वाल्मीकीय परंपरा की कथा ही है पर कृत्तिवासीय रामायण के कथा विवरणों से निकटता अधिक है। इसके अनेक कथाओं के विवरण में नवीनता ही नहीं झलकती है, अपितु सर्वथा

नवीन उद्‌भावना–सी प्रतीत होती है। इस ग्रंथ में सामति–समाज की अनेक रीति–नीतियों, लोकविश्वासों की झलक मिलती है। अंततः यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ न केवल सामति भाषा और साहित्य में एक अन्यतम कृति है, अपितु भारतीय रामायणों में अपने ढंग की एकमात्र अकेली रचना है। आवश्यकता है भारतीय भाषा–रामायणों से इसका विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन कर भारतीय संस्कृति के स्वस्थ तत्त्वों की खोज करने की।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त असमिया भाषा में समय–समय पर अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचलित राम–साहित्य का अध्ययन–अनुशीलन करके अनुवाद का कार्य भी होता रहा है। यों तो संस्कृत की कालजयी कृतियों की छाया–प्रतिछाया पर असमिया में अनेक पुस्तकें अनूदित की गईं हैं, किंतु रामकथा के आधार पर रची गई संस्कृत कृतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रीराम आता कृत 'अध्यात्म रामायण' और कमलेश्वर चलिहा कृत 'उत्तरकांड रामायण' तथा हिंदी प्रदेशों में प्रचलित राम कथा के आधार पर श्रीकांत सूर्यविप्र कृत 'तुलसीदासीय रामायण', कृष्णनाथ शर्मा कृत 'हिंदी रामायण' एवं बापचंद महंत एवं केशदा महंत कृत 'श्रीरामचरितमानस' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन अनुदित ग्रंथों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि अनुवादक को स्रोत भाषा के भाव–सौंदर्य एवं शिल्प–विधान को यथावत् लक्ष्य भाषा में रूपांतरित करने में अनेक कठिनाइयों से होकर गुजरना पड़ा है। भावानुवाद के माध्यम से स्रोत भाषा में निहित भाव एवं शिल्प सौंदर्य को लक्ष्य भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढालने के दौरान कहीं–कहीं अनुवादकों ने अपनी–अपनी मौलिक रचनात्मक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। इस संदर्भ में बापचंद महंत का कथन अवलोकनीय है– *एइटो कथा निश्चित ये अनुवादत मूलग्रंथर सौंदर्य संपूर्णरूपे रक्षा कराटो कोनो प्रकारे संभव न हय। मूलपाठर शब्दावलीर ओपरत बेछि निर्भर करिले अनुवादर भाषार स्वाभाविक गतित बाधा सृष्टि हय बा अनुवाद सुपाठ्य है नुठे। आन हाते अनुवाद अधिक सुपाठ्य करिबलै याओंते बहु क्षेत्रत मूलपाठर कलात्मक सौंदर्य रक्ष कराटो संभव है नुठे। पुनरीक्षणर समयत सुपाठ्य होवार फालेहे बेछि चकु रखा संभव हय।*[18] सारांशतः यह कहा जा सकता है कि राम–साहित्य की जमीन गोड़ने में इन अनूदित कृतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

उपर्युक्त विवेचन–विश्लेषण के पश्चात् यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि असम में राम–साहित्य की एक सुदीर्घ परंपरा रही है, जिसकी परिव्याप्ति मौखिक साहित्य, लौकिक साहित्य से होते हुए प्राक्शंकरी युग, शंकरीयुग, आधुनिक साहित्य

18. श्री रामचरितमानस की भूमिका, पृ. सं. 20

तथा जनजातीय साहित्य तक व्याप्त है। देश—काल और परिस्थिति के अनुकूल इनके भाव, शिल्प और संरचना में परिवर्तन आने के बावजूद भी मूल कथ्य में कोई विशेष अंतर नहीं है। भारतीय के बहुरंगी एवं बहुआयामी चित्र को अंकित करने में इनकी भूमिका सराहनीय है। *हमारे सामने समाज का जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा*।[19] अतः आज जरूरत है भूखंड विशेष के जन की इच्छा—आकांक्षा, हित—अहित विषयक भावनाओं को जानने —समझने की, उनके विशिष्ट और स्वतंत्र मान—मर्यादा को निर्मित करने वाले महापुरुषों के आदर्श को आज के संदर्भ में मूल्यांकित करने की जो निराशा और आलस्य के क्षणों में आशा और स्फूर्ति का संचार करते हैं। एक बात और, समय—समय पर विभिन्न कवियों द्वारा रामकथा का जो परिवर्तित रूप सामने आया है, वह न केवल युगीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मानव मूल्य का निर्धारण करता है अपितु रामकथा की लोकप्रियता को भी दर्शाता है। वैश्वीकरण के इस दौर में मध्ययुगीन रामकथात्मक कृतियों में प्रतिपादित ईश्वरवाद और भक्तिवाद पर चर्चा आज भले ही कुछ अटपटी सी लगती हो, किंतु विघटित मूल्यों के दौर में नई पीढ़ी को आदर्श, नैतिकता और कर्तव्यपरायणता से प्रबोधित करने के लिए रामकथा से बेहतर मार्ग और दिखाई नहीं देता है। प्रस्तावित शोध पत्र में रामकथा से संबंधित जिन रचनाओं को सम्मिलित किया गया है, उनमें प्रतिपादित मूल्य भारतीय संस्कृति के ही नहीं वैश्विक संस्कृति की धरोहर हैं। किसी रामोपासक संप्रदाय का आश्रय प्राप्त न होने पर भी असम में जो राम—साहित्य सृजित हुए हैं, वे महत्त्वपूर्ण और शाश्वत मानव—मूल्यों का अक्षय कोश हैं। इन कृतियों को बचाना, अध्ययनीय बनाना, मनीषियों द्वारा अभिव्यक्त भाव, विचार एवं दर्शन के मर्म को वर्तमान के संदर्भ में मूल्यांकित करते हुए सहज—सरल भाषा में सभी तक पहुँचाना भावात्मक एकता का परिचायक है।

❑❑❑

संपर्क

नागेश्वर यादव— एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग रवींद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, होजाई, (असम)782435 मो. 9954695285 ईमेलः nageshwar355@gmail.com

19. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ. सं. 14

पून्तानं की कृष्ण भक्ति

अंजली. एस*

13वीं सदी तक भारतीय समाज में हर कहीं मूल्य हीनता, नीतिबोध का ह्रास, विलासिता आदि व्याप्त हो चुका था। विदेशी आक्रमण, राजाओं या सामंतों के बीच अधिकार को लेकर होनेवाले निरंतर संघर्ष, भोग–विलास में लिप्त उच्च वर्ग आदि ने मिलकर जनसाधारण का जीवन दु:सह बना दिया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप 14वीं सदी से लेकर 17वीं सदी तक के कालखंड में संपूर्ण भारत में उभरी भक्ति की लहरों को धर्म संस्थापन के प्रयत्न के रूप में हम देख सकते हैं। विशाल भारतीय समाज एवं साहित्य को आध्यात्मिकता का मज़बूत आधार प्रदान करते हुए उसको सर्वथा परिष्कृत करने की शांत–गंभीर क्रांति के रूप में ही भक्ति उभर आई थी। धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास आदि में लिप्त समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। आत्मांवेषण के रास्ते पर आगे बढ़ने संकलित के लिए भक्त कवि संपूर्ण जगत को ईश्वरमय देखते थे। समष्टि का उद्धार एवं परिष्कार उनका पाथेय बन गया। फलतः सांसारिक माया से मुक्ति का प्रत्येक प्रयास व्यक्ति एवं समाज के परिष्कार का कारण बना। भक्ति आंदोलन संपूर्ण भारत में एक नवोन्मेष लाया। इसीलिए भक्तिकाल विभिन्न भारतीय भाषा साहित्य में स्वर्णिम युग माना जाता है।

मलयालम साहित्य में 15–16वीं सदी में नवजागरण तुंचत्त रामानुजन एषुत्तच्छन से आरंभ होता है। उस ज़माने में मलयालम साहित्य मणिप्रवाल से अत्यधिक प्रभावित था। संस्कृत में काव्य रचना विद्वत्ता का लक्षण मानी जाती थी तो उच्च वर्ग की भोग लालसा को लक्ष्य करता हुआ पल्लवित मणिप्रवाल साहित्य जीवन के समस्त क्षेत्रों को मलिन करनेवाले नैतिक पतन का सबूत बन गया था। इस नैतिक पतन से समाज का उद्धार करनेवाले अनेक कवि भक्ति की दार्शनिकता को लेकर आए। वेद–पुराण–उपनिषद् एवं बृहत् काव्यों के दार्शनिक तत्त्वों को मलयालम भाषा में मौलिकता के साथ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने जन–मन में आस्तिकता की जड़ों को मज़बूत ही नहीं किया, बल्कि केरलीय समाज में सांस्कृतिक, नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा भी की। मूल्य बोध से आत्मबोध की ओर जन सामान्य को अग्रसर करने की क्षमता रखनेवाले अनेक भक्त कवियों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। उनमें से प्रमुख हैं पून्तानं।

* विभागाध्यक्ष एवं सह आचार्य, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग एवं शोध केंद्र, महाराजा कॉलेज, एर्णाकुलम–682011।

केरल के कृष्ण भक्त कवियों में अग्रणी पून्तानं का जीवन काल 1547 से 1646 तक माना जाता है। वे मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि के समकालीन थे। इनके काल में केरल में गुरुवायूर श्रीकृष्ण मंदिर कृष्ण भक्ति के केंद्र के रूप में विकसित हुआ था। भक्ति से भरपूर उनकी तीन काव्यात्मक रचनाएँ – कुमारहरणं या संतानगोपालं पाना, ज्ञानप्पाना एवं श्रीकृष्ण कर्णामतं– मलयालम साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनके अतिरिक्त करीब 53 स्तोत्र रचनाएँ भी पून्तानं के द्वारा रचित मानी जाती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन स्तोत्रों की अधिक महत्ता नहीं है। लेकिन महाकाव्य के लक्षणों और तत्कालीन विद्वत्ता के मापदंडों से कोसों दूर होते हुए भी मलयालम भाषा में रचित उनके तीनों काव्य भक्तिजन्य सरलता, चिंतन की उदात्तता, मौलिकता एवं चिरंतन मूल्यों से स्निग्ध होकर प्रत्येक केरलीय के हृदय एवं जिह्वा में कलातिशायी बन प्रतिष्ठित हो चुके हैं। केरल की कृष्णभक्ति शाखा को लोकप्रिय बनाने में पून्तानं का बहुत बड़ा योगदान है। मलयालम लोक गीत शैली के 'पाना गीतों' को एक साहित्यिक के रूप में विकसित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय पून्तानं को है। संतानगोपालं एवं ज्ञानप्पाना–पाना गीत शैली में ही रचित हैं।

मलप्पुरम जिले के पेरुंतलमण्णा तालुक के अंगाडिप्पुरम या तिरुमंधांकुन्नु में पून्तानं इल्लम (नंबूतिरि गृह को इल्लम कहा जाता है) अब भी स्थित है। पून्तानं के असली नाम के बारे में उनकी रचनाओं में कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'पून्तानं' उनके परिवार का नाम है। पुराने ज़माने के नंबूतिरी लोग अपने परिवार के नाम से ही जाने जाते थे। उनके गुरु का नाम नीलकंठ था। संतानगोपालं पाना और श्रीकृष्ण कर्णामृतं में उन्होंने गुरु का नाम लेकर उनकी वन्दना की है। ऐसा माना जाता है कि वे 90 वर्ष के करीब जीवित रहे। श्रीकृष्ण कर्णामृतं की पंक्ति "त्वन्नाम संकीर्तनमेण्णियेण्णि तोन्नूरडुत्तू परिवत्सरं मे" (गिनकर नाम आपके छू रहा नवतीकाल) इसका प्रमाण है।

पून्तानं के जीवन को लेकर अनेक जनकथाएँ प्रचलित हैं। इनमें से अधिकांश उनके आराधनामूर्ति गुरुवारूरप्पन और गुरुवायूर मंदिर से संबद्ध हैं। पून्तानं के वैराग्य एवं ज्ञानप्पाना की रचना से संबद्ध एक जनकथा इस प्रकार है– वे सालों तक पुत्र प्राप्ति के लिए ईश्वर भजन करते रहे। लंबे अंतराल के बाद पुत्र का जन्म हुआ तो उसके कर्णवेध के दिन घर आए अतिथियों की लापरवाही से बच्चे की मृत्यु हो जाती है। सोए हुए शिशु के ऊपर अतिथिगण ने अपने दुशाले निकालकर डाले तो नवजात का दम घुट गया! कहा जाता है कि दुख से तप्त पून्तानं ने अपने पुत्र के शरीर को गोदी में लेकर 'ज्ञानपाना' का गायन किया था। परम विरक्ति की दशा में उन्होंने शेष जीवन गुरूवायूरप्पन (गुरुवायूर मंदिर के देवता श्रीकृष्ण) की सेवा उपासनाओं में व्यतीत किया।

पून्तानं के देहावसान के बारे में प्रचलित लोककथा अत्यंत नाटकीयता से युक्त है। उन दिनों संध्यावंदन के समय पर वे भक्ति की पराकाष्ठा को छूते थे। एक दिन अपने स्वर्गारोहण का समय होने का एहसास उनको हुआ। अपने जगह से झट से उठकर वे किन्हीं लोगों के स्वागत करने की तैयारियों में लगने लगे। पत्नी को बुलाकर कहने लगे कि उन्हें ले जाने के लिए भगवान् स्वर्णिम पालकी में परिवार सहित पधार रहे हैं। पूजा के सामान, पाद प्रक्षालन के लिए पानी, पंखा आदि सभी साधनों को ले आने के लिए कहकर वे पश्चिम दिशा की ओर ताककर वैकुंठ से भगवान् की प्रतीक्षा में अधीर हो रहे थे। फिर कहने लगे कि पालकी आ गई है। वे आँगन की ओर जाकर भगवान् का स्वागत करके ले आने की व्यस्तता में दिखाई पड़े और पत्नी ने सोचा कि भक्ति की पराकाष्ठा में उनके मन का संतुलन नष्ट हो गया है। कहने लगे कि उन्हें स्वर्ग सिधारने के लिए भगवान् पार्षदों सहित आए हैं, और कोई साथ में आने के लिए यदि तैयार है। उसी बीच घर की दासी ने वैकुंठ जाने की इच्छा प्रकटकर उनसे साथ जाने की अनुमति माँगी। पून्तानं ने अनुमति दे दी तो उसी क्षण वे जीवनमुक्त होकर उसी दालान में गिर पड़े, पीछे दासी भी गिर पड़ी[1] पून्तानं इल्लम में उनके जीवन मुक्त होने के उस स्थान पर अब भी दिया जलाने की प्रथा हैं। शायद यह मात्र एक कथा हो सकती है, लेकिन इतनी जीवंत जनकथा भी अत्यंत दुर्लभ है।

नवधा भक्ति में नामसंकीर्तन को प्रधानता देनेवाले कवि थे पून्तानं। भक्ति के साधना मार्गों में उन्होंने ज्ञानमार्ग को अपनाया। ज्ञान से ही सांसारिक बंधनों से मुक्ति पा सकते हैं यही उनका मत था। सांसारिक जीवन की क्षणिकता का उन्होंने बखूबी वर्णन किया। उनकी तीनों काव्य रचनाओं का लघु परिचय आगे प्रस्तुत है।

संतानगोपालं पाना (कुमारहरण)

भागवत के दशम स्कंध के संतानगोपालं प्रकरण की मूल कथा ही इस रचना का आधार है। संतानगोपालं पाना के रचना संदर्भ के बारे में दो प्रकार की जनश्रुतियाँ हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि पून्तानं ने पुत्र लब्धि के लिए ही संतानगोपाल कथा का पुनर्गायन किया था। दूसरा मत है कि पुत्र दुख से शांति प्राप्त करने के लिए ही संतानगोपालं की रचना की जो भी हो, संतानगोपालं कथा में पून्तानं का आत्मांश प्राप्त होता है।

भागवत पुराण में 42 श्लोकों में वर्णित संतानगोपालं की कथा संक्षेप में इस प्रकार है– ब्राह्मण के नौ पुत्रों के जन्म लेते ही मृत्यु ने उनका अपहरण किया। प्रथम पुत्र के वियोग दुख से तप्त ब्राह्मण द्वारका आकर कृष्ण की भर्त्सना करते हुए बताते हैं

1. पून्तातं – पाल क्कज़ नारायणन, साहित्य अकादमी, त्रिशूर, पृ 22

कि शासकों की कुरीतियों एवं दुष्ट आचरणों से ही देश में ऐसी आपत्तियाँ होती हैं[2]। आगे एक के बाद एक होकर नौ पुत्रों की मृत्यु होती है तो ब्राह्मण उस लाश को लेकर द्वारका आ जाता है और कृष्ण से अपने दुख का रोना रोने लगता है। नवीं बार आने पर अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा स्वीकार किया हुआ कृष्ण मौन रहता है। उसी क्षण वहाँ उपस्थित अर्जुन भावविभोर होकर ब्राह्मण के अगले पुत्र को मृत्यु से बचाकर ब्राह्मण के अनपत्य दुख मिटाने का वचन देता है। अर्जुन ने इतना तक कह दिया कि यदि वचन का पालन नहीं कर पाएगा तो अग्निप्रवेश करके प्राणत्याग करेगा। अर्जुन की वीरता और कीर्ति का विश्वास लेते हुए ब्राह्मण आश्वस्त होकर वापस जाता है। आगे ब्राह्मण पत्नी के दसवें गर्भ धारण से लेकर शिशु की रक्षा के लिए अर्जुन हर तरह की तैयारियाँ करता है। सूतिका गृह के चारों ओर सख्त सुरक्षा कर देता है। बच्चा पैदा हुआ, लेकिन इस बार उसका शरीर तक देखने को न मिला, वह पूरी तरह से गायब था। पुत्र शोक से आक्रांत ब्राह्मण अर्जुन पर बरस पड़ता है, उसके शौर्य और अहंकार की हँसी उड़ाता है। अपने वचन का पालन न कर सकने पर अर्जुन अग्नि में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाता है तो कृष्ण आकर उसे रोक लेता है। अंत में दोनों विष्णुलोक जाकर ब्राह्मण के दस शिशुओं को वापस ले आते हैं और ब्राह्मण के हाथों सौंप देते हैं।

अर्जुन तो वीर हैं, अजेय हैं, उसे हमेशा कृष्ण का सहारा मिला है। भगवान् ने ही आत्ममित्र अर्जुन की बुद्धि को सही रास्ते ले जाकर सफलता के शिखर तक पहुँचाया था। लेकिन बिना उस ईश्वर के सहारे वीर अर्जुन भी असहाय बन जाता है, भक्त के मन में यही एहसास जगाना पूंतानं का उद्देश्य है। जहाँ व्यक्ति अपने आप को सभी कार्यों का नियंता समझने लगता है, अहंकार से संचालित होने लगता है, वहीं से उसकी पराजय भी शुरू होती है। यहाँ पूंतानं संपूर्ण मानव जाति के लिए यह संदेश देते हैं कि दुष्टों के निग्रह करने के लिए भूमि में अवतार लिए ईश्वर की वीरता को अपनी वीरता समझने की बेवकूफी मत करो[3]।

भक्ति का महत्त्व घोषित करनेवाली इस रचना का मूल रस भक्ति ही है। बीच बीच में करुण, वीर, अद्भुत आदि रसों का भी सम्यक समन्वय संतानगोपालम में है, तो भी वे भक्ति के सर्वातिशायी महत्त्व को घोषित करने के उपकरण मात्र हैं। सरल–सपाट मलयालम भाषा का प्रयोग, लोकोक्तियों एवं मुहावरों का संदर्भानुसार प्रयोग आदि पूंतानं की प्रथम काव्य रचना को लोकप्रिय बना देता है।

---

2. दुष्टराय महीपालन्मारुडे दुरूटतकलकोंडीवण्णमोरोरो
   निष्ठुरमाय बालमरनाँगल कष्टमायिट्टनुभविच्चीडुन्नू।
3. दुष्टनिग्रहं चेय्वतिनाय वन्नु प्रथ्वितन्निल पिरन्न भगवान्टे।
   वीर्यगलेललाम वीरनामेन्नुडे वीर्यमेन्नू निनक्कोल्ल भाषा नी– सन्तानगोपालं–190

ज्ञानप्पाना

पून्तानं की सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट रचना है ज्ञानप्पाना। वेदसार, उपनिषद् दर्शन एवं गहन आध्यात्मिक तत्त्वों को अशिक्षितों एवं पामरों तक के लिए ग्राह्य बनाते हुए, हमेशा गानेयोग्य एक गीत के रूप में प्रस्तुत करते हुए पून्तानं मलयालम के लोकप्रिय कवि बन गए। सांसारिक जीवन की महत्ता एवं उसकी क्षणिकता, जन्म–मरणरूपी सांसारिक चक्र में आत्मा की गति–विगतियाँ, मानव जन्म की महत्ता, कलियुग का वर्णन, भारत देश की महत्ता, सांसारिक जीवन की क्षणिकता आदि से होकर तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का परिच्छेद तक इसमें चित्रित है। कलियुगीन समाज में व्याप्त अनैतिकताओं के माध्यम से कवि ने मध्यकालीन केरलीय समाज की कड़ी आलोचना की है। जाति –पाँति, उच्च–नीचत्व, भौतिकता एवं वासनामय जीवन, ब्राह्मण्य को बेचनेवालों के धार्मिक अधरुपतन, विलासी राजा– सामंतों और उनकी चाकरी करनेवालों की दशा आदि का यथातथ्य चित्रण करनेवाले पून्तानं भक्ति के द्वारा मानव मन और सामाजिक जीवन को सुधारने के पक्ष में थे।

भौतिक जीवन की क्षणिक सुख–सुविधाओं में रमनेवाले मनुष्य के लिए मुक्ति का एकमात्र साधन है भक्ति। उसके लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग है नामसंकीर्तन – यही ज्ञानप्पाना का संदेश है। कवि के उद्बोधन जन साधारण के जीवन से इतनी गहराई से जुड़े हुए हैं कि पंडित और पामर उसे समान रुचि से आत्मसात कर सकते हैं। यही ज्ञानप्पाना का महत्त्व है।

जीवन की क्षणिकता एवं अनिश्चितता के वर्णन से ही ज्ञानाप्पना का आरंभ है–

इन्नलेयोलं एन्तेन्नरिन्जीला। इनी नालेयुमेन्तेन्नरिन्जीला
इन्नी कंट तटिक्कु विनाशवुं ष्इन्न नेरमेन्नेतूमरिन्जीला
कंटु कंटंगिरिक्कुम जनंगले कंटिल्लेन्नु वरुत्तुन्नतुं भवान्
रडु नालू दिनं कोंटोरुत्तने। तंडिलेट्टी नडत्तुन्नतुं भवान्
मालिकामुकलेरिया मन्नन्टे। तोलिल माराप्पु केटटुन्नतुम भवान[4]

पून्तानं मात्र एक भक्त कवि नहीं थे, जीवनमुक्त होते हुए भी उन्होंने सांसारिक जीवन को नहीं ठुकराया। कर्मों से विलग होकर करनेवाले धार्मिक आचरणों के पक्ष

---

4. ज्ञानप्पाना 5–14। इस जन्म के पूर्व क्या हुआ था, मैं कौन था, इसका पता हमें नहीं है। कल क्या होनो वाला है, इसका भी पता नहीं है। आज देह पर हम इठलाते हैं उसका नाश कब होनेवाला है, इसका भी पता नहीं है। आज जिस देह पर हम इठलाते हैं उसका नाश कब होनेवाला है, ज्ञात नीहं है। जो हमारे सामने अभी था, वह अगले क्षण नहीं भी हो सकता है। दो चार दिन में कोई बड़ा धनी बन सकता है, महल में रहनेवाले व्यक्ति कल याचक भी बन सकता है। इन सबका नियंत्रण हमारे हाथ में नहीं है। अर्थात् जो भी बीत गया है, हमारा भूत है, वह अज्ञात हैं, भविष्य भी अज्ञात है। इन सबका नियंत्रण करनेवाला कोई भी अदृश्य शक्ति ही है। इसलिए ही राजा रंक बन जाता है, याचक राजा भी।

में वे नहीं थे। प्रत्येक व्यक्ति के योग्यतानुसार निश्चित कर्मों में लगकर मोक्ष की ओर अग्रसर होने को ही वे ध्येय मानते हैं।

मनुजातियिल तन्ने पलविधं मनसिन्नु विशेषमुंडोरक्कणं

कर्मशास्त्रत्तिलधिकारी जनंगलक्कु कर्मशास्त्रान्गलुंडु पलविधम

ज्ञानत्तिन्नधिकारी जनंगलक्कु ज्ञानशास्त्रंगलूं पलतुण्डल्लो[5]

मनुष्य जाति में विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं। सब का मन समान नहीं होता। विभिन्न व्यक्तियों के लिए उनके मन की रुचि के अनुसार कर्म भी निहित है। इन कर्मों का विधान शास्त्रों में है। कर्म के अधिकारियों के लिए कर्मशास्त्रों और ज्ञान के अधिकारियों के लिए ज्ञानशास्त्रों का विधान किया गया है। अर्थात, वे व्यक्ति में निहित योग्यतानुसार कर्म में लगने की बात करते हैं, कुल के अनुसार नहीं। व्यक्ति के अंदर जो योग्यता निहित है, उसी के अनुरूप विभिन्न शास्त्रों का भी विधान होता है। वे विद्या का वास्तविक लक्ष्य आत्मा का परिष्कार मानते हैं। यह न समझते हुए जो भी विद्वत्ता का ढोंग करते हैं, वे उस गद्दे के सामान हैं जो कुंकुम की गंध और महत्ता से अनजान होकर उसे ढोते हैं।[6]

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि पून्तानं के काल में केरलीय समाज में जाति–पाँति का आचरण शिखर पर था। मलयाली ब्राह्मण– जिन्हें नंबूतिरी कहते हैं – के बीच ही उच्च–नीचत्व कायम था। ऐसी परिस्थिति में भक्त कवि पून्तानं की पंक्तियाँ समता को लक्ष्य करनेवाला नुकीला अस्त्र थीं। जन साधारण के जीवन को दु:सह बनानेवाली सामाजिक कुरीतियों और अनैतिकताओं का सच्चा चित्र व्यंग्य का पुट देते हुए उन्होंने प्रस्तुत किया। जातिविहीन, समता से युक्त समाज एवं जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की कामना ज्ञानप्पाना की पंक्ति–पंक्ति में हम देख सकते हैं।

उनके अनुसार ब्राह्मण होकर जन्म लेने से कोई श्रेष्ठ नहीं बनता, लेकिन ज्यादातर लोग मात्र कुल के बल पर अपने को ब्रह्मा से भी परे मानते हैं।[7] दूसरे प्रकार के ब्राह्मण ऐसे हैं जो धन की लालसा में पूजा, यज्ञ आदि करते हैं। इस प्रकार धन के लोभी ब्राह्मण कर्मकांड से कमाए हुए धन से धूर्त बन जाते हैं। भोग लालसा से आक्रांत ब्राह्मणों की दुर्दशा का वर्णन वास्तव में तत्कालीन नंबूतिरि समाज की सच्चाई को ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है। साथ ही साथ राजमहल के चाकरों को ही नहीं, शिरच्छेद करने तक के अधिकार रखनेवाले नृप तक को वे निडर होकर चेतावनी देते

---

5. ज्ञानप्पाना 19–20, 24–27
6. "विद्य कोंडरियेन्टतरियाते विद्वानेन्नु नटिक्कुन्नितु चिलर
   कुंकुमत्तिन्टे गंधमरियाते कुंकुमं चुमक्कुन्नु गर्दभं" (ज्ञानप्पाना– 257–258)
7. ब्राह्मण्यं कोंडू कुन्तिच्चु कुन्तिच्चु ब्रह्मावुमेनिक्कोव्वाएन्नुम चिलर
   अर्थाशक्कु विरुथु विलिप्पिप्पान अग्निहोत्रादि चेय्युन्नितु चिलर (ज्ञानप्पाना 228–230)

हैं कि– कृपाविहीन होकर जनता को पीड़ित करनेवाला राजा अगले जन्म में कीड़ा होकर जन्म ले लेता है।[8] नैतिकता या धार्मिकता के मार्ग से विचलित होनेवाले अपने ही समुदाय एवं समाज के अधःपतन को उसकी संपूर्णता में निडर होकर चित्रित करना तत्कालीन सामाजिक परिवेश में कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इसीलिए ही पून्तानं की कविता में भौतिक सुख सुविधाओं में मग्न समाज की जीर्ण–शीर्ण जीवन शैली के प्रति सहानुभूति एवं दुखपूर्ण चेतावनी दी गई है।[9]

कर्म चक्र का विस्तृत वर्णन करते हुए वे नाम माहात्म्य को प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ अत्यंत सौम्य भाव से समाज को नैतिकता के पाठ देनेवाले एक भक्त के साथ साथ, निडर होकर सामाजिक कुरीतियों के पर्दाफाश करनेवाले क्रांतिकारी को भी हम देख सकते हैं। इन पंक्तियों को पढ़ते हुए सामाजिक अन्यायों के ख़िलाफ़ लड़नेवाले कबीर ही याद आते हैं। फर्क इतना है कि कबीर की वाणी धारदार है, लेकिन पून्तानं के व्यंग्य हो या भर्त्सना, वह विनय और भक्ति से आच्छादित है।

वेदों एवं मुनिजनों के मत को स्वीकार करते हुए पून्तानं बताते हैं कि यह भूमि सभी कामनाओं की पूर्ति करनेवाली माँ है। चाहे भोगी हो या मुमुक्षु, माँ भूमि समान रूप से पालती है। समस्त विश्वों में सर्वोत्तम है भूमि। इस भूमि के सर्वोत्कृष्ट देश भारत में इसी कलियुग में जन्म लेना उससे भी बड़ा सौभाग्य है। इस भारत भूमि में एक तृण के रूप में भी जन्म ले सकना हज़ारों पुण्यों का फल है। ऐसी भारत भूमि, यहाँ जन्मे पुण्यात्माओं एवं इसी कलि युग को वे नमस्कार करते हैं[10] तो इसके पीछे भारत को समग्रता में देखने की विशाल दृष्टि है, देश प्रेम है, अपने काल को सर्वोत्तम मानने का सकारात्मक चिंतन है। उस श्रेष्ठ काल को सुधारने की आवश्यकता की ओर इशारा करते हुए वे भक्ति की आवश्यकता पर बल देते हैं। यहाँ भक्ति मात्र ईश्वर भजन नहीं, कर्म का परिष्कार है, अपने आप को सुधारते हुए ईश्वरत्व की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।

"कर्मंगलक्कु विलनिलमाकिय जन्मदेशामी भूमियरिन्जालुम
कर्मनाशं वरुत्तेणमेंगिलो चेम्मे मट्टेंगूम साधिया निर्णयं
भक्तन्माक्कुं मुमुक्षु जनंगल्कुं सक्तराय विषयीजनंगल्कुं
इच्छिच्चीडुन्नतोक्के कोडुत्तिडुं विश्वमातावु भूमियरिन्जालुमद्य"[11]

---

8. कृपाकुड़ाते पीडिप्पिच्चीडुन्ना नृपन चत्तु कृमियाय पिराक्कुन्नु (ज्ञानप्पाना 100)
9. पालक्कीज़ नारायणन, 'पून्तानं', केरल साहित्य अकादमी, त्रिश्शूर– 202 पृ–44
10. ज्ञानपाना 137–144
11. ज्ञानपाना– 112–115। कर्म के बंधन और कर्म की महत्ता को उद्घोषित करते हुए कवि बताते हैं कि कर्म में लगने और कर्म के बंधन को तोड़ने का उपाय मात्र इस भूमि में प्राप्त है। भौतिकता में लीन मनुष्य को कर्म के द्वारा इच्छापूर्ति करने का अवसर भूमि में उपलब्ध है। इस भूमि में जीवित रहते हुए श्रेष्ठ कर्मों से पुण्य कमाना और उससे कर्मबन्धन को तोड़कर मोक्ष प्राप्त करना– यही मुमुक्षु का ध्येय हो सकता है। ये दोनों भूमि में जन्म लेते हुए ये दोनों साध्य है।

श्रीकृष्णकर्णामृतम् (भाषाकर्णामृतं)

श्रीकृष्ण कर्णामृतं पून्तानं की प्रौढ़तम रचना है। नवती के आस पास ही उन्होंने इसकी रचना की थी, उसका उल्लेख कवि ने ही किया है। श्रीकृष्ण कर्णामृतं 'भाषा कर्णामृतं' नाम से भी जाना जाता है। लीला शुक नामक कवि द्वारा इसी नाम से संस्कृत में रचित काव्य से इसको पृथक करने के लिए यह नाम ज्यादा उपयोगी है। भागवत के दशमस्कंध की कथा का वर्णन 168 श्लोकों के माध्यम से कवि ने किया है। अष्टमि–रोहिणी के दिन आधी रात को हाथों में 'शंख– चक्राम्बुजादि' से युक्त होकर देवकी– वसुदेव के सामने प्रत्यक्ष हुए बालकृष्ण को प्रणाम करते हुए ही इस रचना का आरंभ होता है। बालकृष्ण का स्वरूप एवं बाललीलाओं का सहज सुंदर वर्णन पूर्णतः केरलीय परिवेश में है। इसके साथ नामसंकीर्तन का माहात्म्य, दार्शनिकता, जीवन की क्षणिकता आदि का वर्णन बीच बीच में है। साधारण तौर पर शृंगारिकता का वर्णन कृष्ण लीलाओं का अंग है, लेकिन पून्तानं ने मात्र 3 श्लोकों में माधुर्य भक्ति और शृंगारिकता को सीमित करते हुए मातृसहज वात्सल्य भाव और उसके बीचों बीच परमात्मा तत्त्व को द्योतित करनेवाले विवरण ही दिए हैं।

श्रीकृष्णकर्णामृतं की रचना से संबंधित एक जनकथा भी प्रसिद्ध है। बुढ़ापे की अवस्था में गुरुवायूर मंदिर तक प्रतिदिन जाना पून्तानं के लिए कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में गुरूवायूरप्पन ने स्वप्न में प्रत्यक्ष होकर बताया कि पून्तानं के लिए भगवान् श्रीकृष्ण उनके 'इल्लम' के पास ही आकर बसेंगे। भगवान् के आदेशानुसार वहीं मंदिर बनाकर प्रतिष्ठा की गई, यही स्थान 'वामपुरम' नाम से पसिद्ध है। श्रीकृष्णकर्णामृतं का प्रथम श्लोक इसी वामनपुरवासी भगवान् की वंदना है।

संतानगोपालम और ज्ञानप्पाना की तुलना में श्रीकृष्णकर्णामृतं की भाषा किंचित संस्कृत गर्भित मणिप्रवालं है। फिर भी पून्तानं ने ज्यादातर सरल मलयालम को ही स्वीकारा है। इसका मुख्य लक्ष्य जन साधारण के बीच भक्ति का प्रचार करना ही था। इस रचना के अंतिम श्लोक में व्याप्त विनय भी उल्लेखनीय है। नवती को छुए पूतनाम अब तक सभी के आदर के पात्र बनकर भक्त अग्रेसर के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे, फिर भी उनकी वाणी में झलकनेवाला विनय अहम् से पूर्णतः मुक्त निष्कलंक भक्ति का उदाहरण है।

उण्णिक्किड़ांगल कलियायोरु कालुवच्चाल
कण्णिलप्पेरुत्ततिनहो कुतुकं पितघ्णां
एन्नेक्कणक्के नडयुल्लवरकलक्कितेल्लां
एन्नाल कृतं किमपि कौतुकमायवरेणं[12]

12. श्रीकृष्णकर्णामृतं– 168. जैसे बालक पहली बार चलने लगते हैं, उनके कदम लड़खड़ाते तो भी माता–पिता के लिए वह खुशी और कौतुक की बात है। वैसे ही सहृदयों एवं भाषाविदों से पूतनाम का निवेदन है कि उनकी रचना में यदि कोई त्रुटि या कमी हो तो बालक के करतूत समझकर क्षमा करें उनका परिहास न करें।

केरल की कृष्ण संकल्पना पून्तानं के बिना आगे नहीं बढ़ सकती है। कृष्ण भक्ति के माध्यम से उन्होंने केरलीयों के मन में धार्मिक एवं नैतिक बोध को जगाया और जिह्वा से उसको सतत प्रवाहमान बनाया। उनकी प्रत्येक पंक्ति जनता को अज्ञान, धार्मिक पाखंड एवं अंधकार से मुक्त कराकर मानवता की प्रतिष्ठा करने का सफल प्रयास थी, यही उनके लिए भक्ति और मुक्ति थी। उनके लिए भक्ति मात्र दिखावा नहीं, आत्मपरिष्कार का मार्ग है। मोक्ष इस भूमि के सत्कर्मों की चरम परिणति है।

पून्तानं के लिए कृष्ण आराध्य ही नहीं, अपने पुत्र का प्रतिरूप था। 'श्रीकृष्णकर्णामृतं 'और 'संतानगोपालम' के वात्सल्य से सनी पंक्तियाँ उनको सूरदास के करीब बिठाती हैं। दूसरी ओर "उण्णिकृष्णन मनस्सिल कलिक्कुंबोल उण्णिकल मट्टु वेणमो मक्कलाय[13]।" यह कठिन वैराग्य हमें संसार से दूर नहीं, बल्कि संसार में रहते हुए, कमल पत्र में गिरे जल की बूँद के समान निस्संग होने का पाठ सिखाता है। पून्तानं से संबंधित जनकथाओं में कृष्ण ही मुख्य पात्र है। उनकी भक्ति में ज्ञान से उपजा हुआ विनय है, समर्पण है। उनका दर्शन अपने जीवनानुभवों की अग्नि में तपकर चमकनेवाले लोहे के समान है। उनका संसार विशाल है जहाँ ईश्वर का चैतन्य समस्त सृष्टि में समान रूप से विद्यमान है। संसार उनके लिए कर्म बंध से मुक्ति का मार्ग है। सांसारिक कर्मों के तटस्थ आचरण से व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। संसार को ठुकराना नहीं, अपने जीवन को सार्थक बनाते हुए आत्मपरिष्कार से जीवनमुक्ति के मार्ग को ही वे श्रेयस्कर समझते हैं। इसप्रकार पून्तानं के जीवन और साहित्य मध्यकालीन समाज को भक्ति के अमृत रस से सींचकर नैतिकता, अहम् का निर्वासन, निस्वार्थता एवं निस्संग कर्म के रस्ते में ले जाने का सफल प्रयास रहा।

सांसारिक यथार्थ ही उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि था। वे एक ऐसे भक्त थे जिन्होंने भक्ति या धर्म के नाम पर होने वाले दिखावे, धार्मिक पाखंड एवं ब्राह्मण्य के नाम पर सड़े–गले चिंतन एवं आचरणों की कड़ी आलोचना की। इतना ही नहीं, व्यक्ति, गृहस्थ, पुरोहित, विद्वान, ऐसे विभिन्न स्तरों में आई मूल्यहीनता को दिखाते हुए सामाजिक परिष्कार का रास्ता खोल दिया गया। इस प्रकार व्यक्ति के परिष्कार से उसमें ईश्वरत्व जगाने एवं नैतिकता से युक्त कर्म के रास्ते पर चलकर मोक्ष प्राप्त कराने की महान मानवता के संदेश को लेकर उसी को भक्ति का मार्ग घोषित किया गया। अत्यंत सरल शैली में जन साधारण के लिए भक्ति और ज्ञान के मार्ग को खोल देनेवाले पून्तानं के प्रति केरलीय समाज सदा ऋणी रहेगा।

पुस्तक सूची

1. पून्तानं – पालक्कीज़ नारायणन, केरल साहित्य अकादमी, त्रिशूर–2012.

2. मलयाल साहित्य चरित्रं, नूटांडुकलिलूटे – भाग 2, करंट बुक्स, 2000

---

13. ज्ञानप्पाना, 303

3. मलयाल साहित्य चरित्रं, केरल साहित्य अकादमी, 2014

4. पून्तानवुं भक्तिप्रस्थानवुं, प्रो. चेरुकुन्नं पुरुषोत्तमन, केरला भाषा इंस्टीट्यूट, 1992.

5. पून्तानसर्वस्वं – डॉ. वी एस शर्मा (संपादक)

6. साहित्यचरित्रम प्रस्थानंगलिलू टे, डॉ. के एम जॉर्ज (संपादक)

❑❑❑

सच है

यह सच है:–
तुमने जो दिया दान दान वह,
हिंदी के हित का अभिमान वह
जनता का जन–ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है–
यह सच है।
बार–बार हार हार मैं गया
खोला जो हार क्षार में नया–
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है–
यह सच है!

–सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

ज्ञान से कला तकः भारतीय लोक परंपरा, सामाजिक मूल्य और आधुनिक संदर्भ

नम्रता सिंह* और पी. फणी कृष्णा**

भारतीय ज्ञान परंपरा और लोक–संस्कृति का इतिहास अत्यंत समृद्ध और विविधतापूर्ण है। यह परंपरा केवल धार्मिक और दार्शनिक विचारों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें विज्ञान, कला, साहित्य, और सामाजिक मूल्यों का भी समावेश है। भारतीय संस्कृति की जड़ें प्राचीन काल से जुड़ी हैं, और यह विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं, और धर्मों के संगम के फलस्वरूप विकसित हुई है। भारतीय ज्ञान परंपरा का मुख्य आधार वेद, उपनिषद, और पुराण हैं। वेदों में जीवन के सभी पहलुओं पर गहन विचार किया गया है। ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त में पदार्थों का नामकरण और उनके गुणों की चर्चा की गई है, जो ज्ञान के प्रथम चरण को दर्शाता है। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के बीच के संबंध का खोज किया गया है, जो भारतीय दार्शनिकता का मूल है। यह ज्ञान परंपरा आध्यात्मिकता के साथ–साथ मानवता के लिए समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। भारतीय लोक–संस्कृति विविधताओं से भरी हुई है, जिसमें विभिन्न भाषाएँ, रीति–रिवाज, और परंपराएँ शामिल हैं। लोककला, जैसे गोंड और वारली चित्रकला, और लोकसंगीत, जैसे भाँगड़ा और ओडिसी, न केवल मनोरंजन के लिए हैं, बल्कि सामाजिक संवाद का माध्यम भी हैं। ये सांस्कृतिक तत्त्व पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान का संचार करते हैं और समाज के नैतिक मूल्यों को मजबूत करते हैं।

आज के वैश्वीकरण के युग में, जब बाहरी प्रभाव बढ़ रहे हैं, हमें अपनी जड़ों को संरक्षित करने की आवश्यकता है। यह न केवल सांस्कृतिक धरोहर को सहेजने के लिए आवश्यक है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए ज्ञान और संस्कारों का प्रवाह सुनिश्चित करने का भी माध्यम है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा और लोक–संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन आवश्यक है। यह हमारी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने और एक समृद्ध समाज के निर्माण में सहायक है। यह हमारी जिम्मेदारी है कि हम

* सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, विवेकानंद महाविद्यालय, दिल्ली।
** सहायक प्राध्यापक, भाषा–विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

इन अनमोल धरोहरों को बचाकर भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित करें।

बीज शब्द: लोक–संस्कृति, भारतीय संस्कृति, उपनिषद, वैश्वीकरण, आध्यात्मिकता।

प्रस्तावना

भारत लंबे समय से अपनी समृद्ध सांस्कृतिक और पारंपरिक जीवंतता के लिए जाना जाता है, जो अपनी कलाओं, शिल्प और ज्ञान प्रणालियों के माध्यम से प्रदर्शित होती है (सिन्हा, 2021)। देश के विविध क्षेत्रों में प्रत्येक समुदाय की अपनी अनूठी कला शैलियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से लोक कला कहा जाता है। ये रंग–बिरंगी और जीवंत कलाएँ सरलता को प्रतिबिंबित करते हुए भारत की समृद्ध विरासत को प्रदर्शित करती हैं। अंतरराष्ट्रीय बाजार में भारतीय लोक कला की अत्यधिक संभावनाएँ हैं, मुख्य रूप से इसकी पारंपरिक सौंदर्यपरक आकर्षण और प्रामाणिकता के कारण (गुप्ता एवं वर्मा, 2020)।

भारत की ज्ञान परंपरा और लोक–संस्कृति केवल धार्मिक और दार्शनिक विचारों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें विज्ञान, कला, साहित्य और सामाजिक मूल्यों का भी समावेश है। इस परंपरा का आधार प्राचीन ग्रंथों–वेद, उपनिषद और पुराणों–में निहित है, जो जीवन के सभी पहलुओं को समाहित करते हैं (जोशी, 2019)। ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त पदार्थों के नामकरण और उनके गुणों पर विचार करते हैं, जो ज्ञान के प्रारंभिक चरण को दर्शाते हैं, जबकि उपनिषद आत्मा (आत्मन्) और परम सत्य (ब्रह्म) के बीच के संबंध को खोजते हैं, जो भारतीय दर्शन का सार है (शर्मा, 2018)। यह ज्ञान परंपरा एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जो अध्यात्म और मानवता को मिलाकर जीवन जीने के नैतिक मूल्यों का प्रकाशस्तंभ बनती है।

भारत की लोक कला और चित्रकला

भारत की लोक और जनजातीय चित्रकलाएँ देश की विविधता और सांस्कृतिक समृद्धि को दर्शाती हैं, जिनमें प्रत्येक शैली अपने क्षेत्र की परंपराओं में गहराई से रची–बसी है। प्रसिद्ध लोक और जनजातीय चित्रकलाओं में बिहार की मधुबनी चित्रकला, ओडिशा की पटचित्रकला, राजस्थान की फड़ चित्रकला, आंध्र प्रदेश की कलमकारी, राजस्थान की पिछवाई चित्रकला, महाराष्ट्र की वारली चित्रकला, आंध्र प्रदेश की निर्मल चित्रकला, उत्तराखंड का ऐपन, गुजरात की पिथोरा चित्रकला, और मध्य प्रदेश की गोंड और मंडना चित्रकला शामिल हैं। कोलकाता की कालिघाट चित्रकला भी भारत की जीवंत लोक परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती है (बनर्जी, 2020)। इनमें से प्रत्येक कला अपने संबंधित क्षेत्र की सांस्कृतिक और सामाजिक धारा से गहराई से जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए, मधुबनी चित्रकला मुख्य रूप से

महिलाओं द्वारा अपने घरों के पवित्र स्थानों में बनाई जाती है और महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों से प्रेरित होती है (मुखर्जी, 2021)। वारली चित्रकला, जिसका इतिहास 2500–3000 ई.पू. तक जाता है, भारत की सबसे पुरानी कला रूपों में से एक है, जिसकी ज्यामितीय सरलता नवपाषाण कला के तत्त्वों का प्रतीक है (कुमार, 2022)। इसी प्रकार, उत्तराखंड की ऐपन कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों में अपने पवित्र डिजाइनों से सजावट करती है।

भारत के विभिन्न लोक कला रूप

मधुबनी चित्रकलाः बिहार से उत्पन्न यह चित्रकला धार्मिक विषयों को दर्शाती है और मुख्यतः महिलाओं द्वारा बनाई जाती है। 1960 के दशक की शुरुआत में यह कागज पर चित्रण के रूप में प्रकट हुई और इसके उज्ज्वल रंगों और पौराणिक चित्रण के कारण यह पर्यटकों और कला संग्राहकों में लोकप्रिय हुई (मुखर्जी, 2021)।

वारली चित्रकलाः महाराष्ट्र के ठाणे जिले में पाई जाने वाली यह चित्रकला प्राचीन जनजातीय परंपरा से प्रेरित है। इसका इतिहास नवपाषाण काल तक जाता है और यह ग्राम जीवन और प्राकृतिक तत्वों को दर्शाती है (कुमार, 2022)।

उत्तराखंड की ऐपन कलाः ऐपन, जो "अर्पण" शब्द से लिया गया है, कुमाउँनी घरों की एक रस्म है। यह कला पूजा, विवाह और अन्य धार्मिक अवसरों पर ओखर और चावल के पेस्ट से बनाई जाती है, जिससे जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सजाया जाता है (गुप्ता एवं वर्मा, 2020)।

ओडिशा की पटचित्रः यह 12वीं शताब्दी का एक प्राचीन कला रूप है जो पूरी के जगन्नाथ मंदिर से उत्पन्न हुआ है। इसमें पौराणिक कथाओं का चित्रण, जटिल डिजाइन और कैनवास पर उपयोग की जाती है (सिन्हा, 2021)।

राजस्थान की फड़ चित्रकलाः यह चित्रकला देवताओं जैसे पाबूजी और देवनारायण के आख्यानों को फड़ों पर चित्रित करती है। यह फड़ नामक कपड़ों पर बनाई जाती है और इसे पुरोहित–संस्कारी गायक चलते–फिरते मंदिर के रूप में प्रस्तुत करते हैं (जोशी, 2019)।

आंध्र प्रदेश की कलमकारीः फ़ारसी शब्दों से व्युत्पन्न यह कला दोनों हाथ से चित्रित और ब्लॉक–प्रिंटेड तकनीकों में की जाती है। श्रीकाकुलस्ती और मछलीपट्टनम शैलियाँ मिलकर इस कला को पौराणिकता के साथ उत्कृष्ट बनाती हैं (बनर्जी, 2020)।

गोंड और मंडना चित्रकलाः मध्य प्रदेश की गोंड चित्रकला जनजातीय मिथकों और रोज़मर्रा के जीवन पर आधारित होती है। मंडना चित्रकला त्योहारों के

दौरान बनाई जाती है, जो राजस्थान और मध्य प्रदेश में सामुदायिक समारोहों और धार्मिक प्रतीकों का प्रतीक है (शर्मा, 2018)।

ओडिशा की साओरा चित्रकलाः यह कला जीवन के विभिन्न अवसरों जैसे उपचार और प्रसव से जुड़ी हुई है। यह लाल मृत्तिका और चावल के पेस्ट पर दीवारों पर बनाई जाती है (मुखर्जी, 2021)।

पिथोरा, पिछवाई और निर्मल चित्रकलाः गुजरात की पिथोरा चित्रकला राठवा और भीलाला जनजातियों के लिए सांस्कृतिक आदर का प्रतीक है। राजस्थान की पिछवाई नाथद्वारा से जुड़ी है और आंध्र प्रदेश की निर्मल चित्रकला हिंदू महाकाव्यों से प्रेरित होती है (कुमार, 2022)।

भारतीय लोक संस्कृतिः सामाजिक मूल्यों की नींव

विभिन्न भाषाओं, रीति–रिवाजों और परंपराओं से भरी भारतीय लोक संस्कृति, पीढ़ियों के बीच ज्ञान और नैतिक मूल्यों का संचार करती है। भांगड़ा और ओडिसी जैसे लोक संगीत और नृत्य मनोरंजन के साथ सामाजिक संवाद के सशक्त माध्यम भी हैं (शर्मा, 2018)। ये सांस्कृतिक तत्त्व सामुदायिक बंधनों को मजबूत करते हैं और समाज के नैतिक मूल्यों को बनाए रखते हैं, जिससे भारतीय लोक संस्कृति की स्थायित्वता और विशिष्टता स्पष्ट होती है।

भारतीय लोक कलाकारों के सामने चुनौतियाँ और संभावनाएँ

कलाकारों को अपने शिल्प को बनाए रखने में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जिनमें सीमित बाजार पहुँच, बिचौलियों पर निर्भरता और खरीदारों के साथ उचित संवाद की कमी शामिल है। अधिकांश कलाकार तंग और अंधेरे स्थानों में काम करते हैं, जो उनकी उत्पादकता को प्रभावित करते हैं। इन कलाओं को संरक्षित करने और नए दर्शकों तक पहुँचाने के लिए व्यवसायीकरण आवश्यक है (गुप्ता एवं वर्मा, 2020)। बढ़ते वैश्विक रुचि के साथ, भारतीय लोक कला निर्यात बाजारों में संभावनाएँ रखती है और भारत के विकेंद्रीकृत आर्थिक क्षेत्र में रोजगार का योगदान कर सकती है। इन कला रूपों को संरक्षित करने के लिए विभिन्न लोक शैलियों को आधुनिक मीडिया के माध्यम से बढ़ावा देकर व्यापक दर्शकों तक पहुँचाया जा सकता है। कलाकारों को उन्नत तकनीकों में प्रशिक्षित किया जा सकता है और पारंपरिक प्रस्तुतियों को आधुनिक स्वाद के अनुसार अनुकूलित किया जा सकता है। ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के तहत प्रोत्साहन और ऋण से कलाकारों को उच्च गुणवत्ता वाले उत्पादों के निर्माण में मदद मिल सकती है, जिससे भारतीय लोक कला की समृद्ध विरासत को बनाए रखा जा सकता है (बनर्जी, 2020)।

वैश्वीकरण के युग में भारतीय ज्ञान परंपरा और लोक संस्कृति का संरक्षण

जैसे–जैसे वैश्वीकरण बढ़ रहा है, भारतीय जड़ों का संरक्षण आवश्यक हो गया है। यह न केवल सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करने के लिए आवश्यक है बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए ज्ञान और मूल्यों के सतत प्रवाह को सुनिश्चित करने का माध्यम भी है। भारतीय ज्ञान परंपरा और लोक संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन महत्त्वपूर्ण है ताकि सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हुए समृद्ध समाज का निर्माण किया जा सके (जोशी, 2019)। अंत में, भारत की लोक और जनजातीय कलाएँ, ज्ञान परंपरा और लोक संस्कृति देश की विविधता और विरासत का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कला रूपों और परंपराओं को प्रोत्साहित करके, हम वैश्विक दर्शकों को प्रेरित कर सकते हैं और भारत की सृजनात्मकता और परंपरा की विरासत को एक कालजयी प्रतीक बना सकते हैं (कुमार, 2022)। यह हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है कि हम इन अनमोल पहलुओं को सहेजें और भारतीय संस्कृति का एक जीवंत और स्थायी भविष्य सुनिश्चित करें।

निष्कर्ष

भारत की ज्ञान परंपरा और लोक–संस्कृति एक अत्यंत समृद्ध और विविधतापूर्ण धरोहर है, जो केवल धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण तक सीमित नहीं है, बल्कि विज्ञान, कला, साहित्य, और सामाजिक मूल्यों का भी समावेश करती है। यह परंपरा प्राचीन ग्रंथों जैसे वेद, उपनिषद और पुराणों से प्रेरित होकर विकसित हुई है। इन ग्रंथों में जीवन के सभी पहलुओं पर गहन चिंतन किया गया है, जिसमें ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त में पदार्थों का नामकरण और उनके गुणों की चर्चा और उपनिषदों में आत्मा तथा ब्रह्म के बीच के संबंध की खोज शामिल है। यह ज्ञान परंपरा आध्यात्मिकता और मानवता का एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जो जीवन जीने के नैतिक मूल्य और सामाजिक समरसता को प्रकट करती है। भारत की लोक–संस्कृति भी विविधताओं से भरी हुई है, जो देश की भाषाओं, रीति–रिवाजों और परंपराओं को दर्शाती है। लोककला, जैसे गोंड और वारली चित्रकला, और लोकसंगीत जैसे भांगड़ा और ओडिसी, केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं हैं बल्कि समाज के नैतिक मूल्यों को मजबूती से स्थापित करने और ज्ञान का पीढ़ी दर पीढ़ी संचार करने का माध्यम भी हैं। ये कला रूप और सांस्कृतिक तत्त्व सामाजिक संवाद और सामुदायिक बंधन को मजबूत करते हैं। आज के वैश्वीकरण के युग में, जब बाहरी प्रभाव और सांस्कृतिक आदान–प्रदान बढ़ रहे हैं, हमें अपनी जड़ों और परंपराओं को संरक्षित करने की आवश्यकता है। यह न केवल सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण के लिए आवश्यक है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए ज्ञान और संस्कारों का सतत प्रवाह सुनिश्चित करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। यह सँजोई गई धरोहर न केवल भारतीय संस्कृति की

पहचान को बनाए रखने में सहायक है, बल्कि इसके माध्यम से एक समृद्ध और स्थायी समाज का निर्माण भी होता है। लोककला के संरक्षण और संवर्धन के लिए, विभिन्न शैलियों को आधुनिक मीडिया और तकनीकों के माध्यम से बढ़ावा देना आवश्यक है ताकि यह वैश्विक दर्शकों तक पहुँचे और कलाकारों को आत्मनिर्भर बनाए। ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के तहत प्रोत्साहन और ऋण से कलाकारों को सहायता प्रदान की जा सकती है, जिससे वे उत्कृष्ट उत्पादों का निर्माण कर सकें और अपनी आजीविका सुधार सकें। अंततः भारतीय ज्ञान परंपरा और लोक–संस्कृति की यह विरासत केवल अतीत की कहानी नहीं है, बल्कि भविष्य के निर्माण में सहायक एक अमूल्य स्रोत है। इसे सुरक्षित और जीवंत बनाए रखना हमारी जिम्मेदारी है, ताकि भारतीय संस्कृति का एक उज्ज्वल और स्थायी भविष्य सुनिश्चित हो सके।

संदर्भ सूची

1. बनर्जी, एस. (2020). फोक आट्र्स एंड ट्राइबल क्राफ्ट्स ऑफ इंडिया. नई दिल्लीः कल्चरल हेरिटेज प्रेस।

2. गुप्ता, आर., एंड वर्मा, टी. (2020). इंडियन फोक आर्ट इन द ग्लोबल मार्केटः अपॉर्चुनिटीज़ एंड चैलेंजेज. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ आट्र्स एंड कल्चर, 5(2), 89–102।

3. जोशी, ए. (2019). एनसिएंट नॉलेज सिस्टम्स ऑफ इंडियाः ए फिलॉसॉफिकल पर्सपेक्टिव. इंडियन जर्नल ऑफ फिलॉसफी, 7(4), 15–34।

4. कुमार, एम. (2022). एस्थेटिक एक्सप्रेशंसः एन ओवरव्यू ऑफ इंडियाज़ फोक पेंटिंग ट्रेडिशंस. आर्ट एंड सोसाइटी, 10(1), 45–67।

5. मुखर्जी, पी. (2021). मधुबनी एंड वारलीः द आर्ट ऑफ इंडियाज़ फोक कल्चर. आट्र्स क्वार्टरली, 15(3), 55–73।

6. शर्मा, एल. (2018). द वेदास एंड उपनिषद्सः फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन थॉट. जर्नल ऑफ इंडियन स्टडीज, 3(1), 23–38।

7. सिन्हा, डी. (2021). पैटर्न्स एंड प्रैक्टिसेस इन इंडियन फोक आर्ट. फोकलोर टुडे, 8(2), 101–120।

❑❑❑

संपर्क

डॉ. नम्रता सिंह, सहायक प्राध्यापक हिंदी विभाग विवेकानंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ईमेल– namrata@vivekanand.du.ac.in, मो. 8074764545

डॉ. पी. फणी कृष्णा, सहायक प्राध्यापक, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ईमेल– phanikrishna@linguistics.du.ac.in, मो. 9676033022

यात्रा–वृत्तांत

मेरी महेश्वर यात्रा

कमला नरवरिया*

महेश्वर इस शब्द का जिक्र होते ही मानस पटल पर सर्वप्रथम जो चित्र उभरता है वह है माँ नर्मदा का।

पिछले वर्ष मांडू प्रवास के दौरान समय अभाव के कारण महेश्वर और माँ नर्मदा को देखने की जो साध अधूरी रह गई थी। वह इस बार माँ नर्मदा की कृपा से आज पूरी हो गई। हालाँकि इससे पूर्व अपनी अल्प ओंकारेश्वर यात्रा के समय माँ नर्मदा से भेंट जरूर हुई थी लेकिन वह अत्यंत अल्प थी। उस वक्त ऐसा लगा जैसे मैं नर्मदा माई से ठीक से मिल भी नहीं पाई हूँ। चलते समय माँ नर्मदा से बस इतना ही निवेदन किया था कि हे! माँ नर्मदा अपने दर्शनों के लिए मुझे फिर बुलाना। और वो माँ जो ठहरी, अपनी इस पुत्री को निराश कैसे करती! सो एक बार फिर मुझे बुला लिया अपने दर्शनों के लिए किसी काम के बहाने। और यह बहाना था मध्य प्रदेश जनजातीय बोली विकास अकादमी भोपाल द्वारा आयोजित संगोष्ठी का जिसमें सम्मिलित होने के लिए मुझे यहाँ आना था। सो इस बार चल पड़ी मैं घर से महेश्वर के लिए बड़े उत्साह और उमंग के साथ माँ नर्मदा से मिलने के लिए, मैं घर से महेश्वर के लिए निकली तो अकेली थी भिंड से बस द्वारा ग्वालियर पहुँची और वहाँ से सखी अनुपमा के साथ मालवा एक्सप्रेस से होकर इंदौर तक सफर तय किया। इस सफर में मुझे अनेक अजनबी सहयात्री मिले। इंदौर स्टेशन पर अकादमी से ड्राइवर हमें महेश्वर ले जाने के लिए खड़ा मिला। रेलवे स्टेशन के शोर शराबे से निकल कर कार अब इंदौर की साफ–सुधरी सड़कों पर दौड़ने लगी। इंदौरवासियों का अपने शहर के प्रति प्रेम व जागरूकता के कारण यह शहर सफाई के मामले में देश में प्रथम स्थान बनाएं हुए हैं। मैं सोचने लगी इंदौर वासियों की तरह प्रत्येक शहर का प्रशासन व नागरिक भी इसी तरह अपनी जिम्मेदारी का पालन करें तो देश का हर शहर स्वच्छता में नंबर वन बन सकेगा।

शहर की सीमा से बाहर होते ही कार हवा से बातें करने लगी। और मेरे मन में भी महेश्वर पहुँचने की अधीरता लगातार बढ़ती जा रही थी। अंततः मैं महेश्वर पहुँच

*सहायक प्राध्यापक, एम जे एस शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय भिंड (मध्यप्रदेश)।

गई। जितना प्राचीन यह शहर है उतनी ही प्राचीन है यहाँ की संस्कृति। और इस शहर का सबसे बड़ा आर्कषण का केंद्रबिंदु है स्वयं माँ नर्मदा। मेरी नर्मदा को देखने की इच्छा तबसे थी जब से अमृतलाल वेगड़ की पुस्तक 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' पढ़ी थी। पुस्तक पढ़कर नर्मदा माई से कुछ ऐसा लगाव हो गया कि मन बार – बार नर्मदा के पास आना चाहता है। शायद माँ और पुत्री का संबंध ही कुछ ऐसा है कि वह माँ के आँचल में ही सुकून पाता है। नर्मदा की खासियत भी यह है कि वह सिर्फ मध्य प्रदेश की जीवनदायिनी नदी न होकर यहाँ लोक आस्था का केंद्र बनकर नर्मदा माई हो जाती है और इसका जल, जल न होकर हम सबके लिए पावन पीयूष बन जाता है जिसे वह अपनी मंथर चाल से चलती हुई छलकाती जाती है।

मेरा आज महेश्वर में पहला दिन था। ट्रेन थोड़ी लेट हो जाने के कारण हम इंदौर से महेश्वर देर शाम सात बजे तक पहुँचे थे। किसी आत्मीय ने बताया आज बैकुंठ चतुर्दशी है। इस दिन नर्मदा में स्नान करना बहुत पुण्यदायी होता है। तुम दोनों इस वक्त इतना लंबा सफर तय करके आई हो तो तुम्हारा अभी नर्मदा स्नान करना उचित न होगा, लेकिन आज तुम उनका आचमन जरूर कर लेना।

उन आत्मीय की बात को आत्मसात् करते हुए हमने रिसोर्ट के रूम/कमरे में जाकर शाम का भोजन किया। फिर जिस रिसोर्ट में हम ठहरे थे वह बिल्कुल नर्मदा के तट पर स्थित था और उसका अपना एक प्राइवेट घाट भी था। मैं और मेरी सखी ने नर्मदा तट पर पहुँचकर सर्वप्रथम माँ पुण्य सलिला नर्मदा को नमन करके उनके जल से आचमन किया और बहुत देर तक उनके जल में पैर डालकर स्थिर बैठे रहे। मध्यरात्रि में ऊपर नभ में टिमटिमाते तारे और नीचे नर्मदा की तरल धारा में जगमग–जगमग करते बहते हुए दीप एक अलौकिक सौंदर्य उत्पन्न कर रहे थे। और मेरी आँखें नर्मदा के उस अलौकिक सौंदर्य को देखकर विस्मित हुए जा रही थी। हम दोनों मौन होकर यूँही नर्मदा के किनारे बैठीं उसकी अथाह जलराशि को देखती रहीं। मैं नर्मदा को जितना देखती उतना ही उसके अलौकिक सौंदर्य के आकर्षण में बँधी जाती थी और मेरा मन उस अज्ञात शक्ति के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक होता जाता था।

रात्रि के अंधकार में नर्मदा की मध्य जलधारा में स्थित बाणेश्वर शिव मंदिर अत्यंत मोहक लग रहा था। रात्रि में दूर से एक नाविक आता दिखाई दिया जो पास में ही आकर मछलियाँ पकड़ने के लिए जाल फैलाने का उपक्रम कर रहा था। मैंने उससे पूछा। भैया इस समय मछलियाँ क्यों पकड़ रहे हो तो? उसने बताया रात्रि के समय मछलियाँ जितनी अधिक संख्या में पकड़ में आ जाती हैं उतनी दिन में नहीं आती है। ऐसा क्यों होता है? मेरे यह पूछने पर उसने बताया कि मछलियों की नजर बहुत तेज होती हैं दिन के समय वह जाल को भाँप जाती हैं और इससे वह बचकर निकल जाती हैं। जबकि रात्रि के समय अंधकार होने के कारण वह जाल में जल्दी फँस जाती हैं।

माँ रेवा को अपनी आँखों में भरकर हम वापस अपने रूम में लौट आए, लेकिन अपना मन वहीं छोड़ आए। मेरा मन नर्मदा के बारे में ही सोचता रहा।

अनेकानेक संस्कृतियों की जननी माँ नर्मदा व सोनभद्र की लोककथा मुझे अपनी ओर सदा से आकर्षित करती रही है। माँ नर्मदा का स्वाभिमान भरा निर्णय मुझे सबसे ज्यादा प्रेरित करता है। अमरकंटक से निकली स्वाभिमानी माँ नर्मदा सोनभद्र का दर्प दमन करके एक बार उलटी दिशा में चल पड़ती है तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखती है। जीवन के उतार–चढ़ाव की भाँति वह भी अनेक उतार–चढ़ाव को पार करती हुई महेश्वर में आकर अनेक छोटी–छोटी सहस्त्र धाराओं में विभक्त हो जाती है। यहाँ नर्मदा के सहस्त्र धाराओं में विभक्त हो जाने के विषय में भी एक लोककथा प्रचलित है कि सहस्रबाहु जो यहाँ का राजा था वह बड़ा प्रतापी और बाहुबली राजा था तथा उसके हजार भुजाएँ थीं। इन्हीं हजार भुजाओं से उसने लंकापति रावण को भी परास्त कर दिया था। एक बार सहस्त्रबाहु अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था लेकिन नर्मदा की तेज जलधारा उसकी जलक्रीड़ा में बाधा डाल रही थी इसीलिए उसने अपनी हजार भुजाओं से नर्मदा के जल को रोक दिया। जिससे नर्मदा यहाँ सहस्र धाराओं में बँटकर बहने लगी।

यात्रा के दूसरे दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा थी इसलिए मैं अलसुबह अपने साथियों के साथ चल पड़ी नर्मदा स्नान करने के लिए। नीम अँधेरे में सोती माँ नर्मदा किसी बच्चे की भाँति मासूम लग रही थीं। बचपन से ही मुझे जल से एक अज्ञात भय सा लगता है लेकिन नर्मदा माई के जल में उतरते हुए मुझे ऐसा लगा जैसे कोई बच्चा अपनी माँ की गोद में आ गया हो जैसे माँ अपने बच्चे को सहलाने लगती है वैसे ही माँ नर्मदा का पावन जल मेरी सारी थकान व पीड़ा को मिटा रहा था। स्नान के पश्चात् मैंने अपने पूर्वजों को याद करते हुए उनको जल तर्पण किया। तट पर बैठी कुछ महिलाएँ माँ नर्मदा के कर्णप्रिय गीत गा रही थीं। मैं उन्हें सुनकर वापस अपने रिसोर्ट में आ गई। यहाँ आकर संगोष्ठी के कार्यक्रम में सहभागी बनी। शाम को हम पहुँचे महेश्वर के बाजार में जहाँ से मैंने अपने लिए यहाँ की प्रसिद्ध महेश्वरी साड़ियाँ लीं। हथकरघे पर साड़ियों की बुनाई होते देख मन कौतूहल से भर उठा। रात्रि में माँ नर्मदा के तट पर निमाड़ महोत्सव के आयोजन का शुभारंभ हो रहा था। मैं भी उसे देखने के लिए पहुँच गई। वहाँ से लौटते हुए मैंने नर्मदा में दीपदान किया और माँ नर्मदा से प्रार्थना की मेरे अंतस में भी ज्ञान का एक दीप प्रज्ज्वलित हो। वहाँ से लौटते हुए तट पर वानरों की भाँति उछल–कूद करते बच्चों को देखकर मुझे अपने बच्चों की याद आ गई। वो भी मेरे साथ आए होते तो इसी तरह उछल–कूद मचा रहे होते। मन बच्चों और घर को याद कर दुखी हो उठा।

यात्रा के तीसरे दिन संगोष्ठी के संयोजक ने नाव से बाणेश्वर मंदिर जाने की व्यवस्था कर दी थी। इसलिए हम सबने मुँह अँधेरे उठकर नर्मदा स्नान किया। उसके

उपरांत नाव में बैठकर बाणेश्वर मंदिर दर्शन के लिए चल दिए। मंदिर से सूर्योदय का दृश्य अत्यंत मनोहारी दिखाई दे रहा था। जहाँ आज संगोष्ठी में मैंने अपना शोध पत्र पढ़ा।

शाम को मैं सखी अनुपमा के साथ अहिल्याबाई घाट गई जहाँ स्थित महेश्वर क़िला हमें अपने गरिमापूर्ण वैभव की गाथा सुना रहा था। नर्मदा तट पर बना यह विशाल किला और इस किले में स्थित मंदिरों का समूह जैसे सभी नर्मदा माहात्म्य का बखान कर रहे थे। इन मंदिरों में राजराजेश्वर मंदिर आकर्षण का मुख्य केंद्र है जिसमें स्थित भगवान शिव तथा सहस्रबाहु कार्तिवीर्य अर्जुन की प्रतिमा स्थापित है जिसपर ग्यारह दीप हमेशा जलते रहते हैं। इन मंदिरों के दूसरी दिशा में स्थित है वह स्थान जहाँ लोकमाता अहिल्याबाई होलकर आमजन की समस्याओं को सुनती और सुलझाती थी। उनके लिए राजमाता से लोकमाता बनने का यह सफर इतना आसान नहीं था मनुष्य जब स्व को भूलकर लोकहित में अपनी आहुति देता है तब वह मनुष्यता से ऊपर उठकर महानता की अग्रिम पंक्ति में बैठ पाता है।

घाट से अपने विचारों में मग्न मैं लौटकर रिसोर्ट आ गई। थकान अधिक होने से घाट पर आयोजित निमाड़ महोत्सव को देखने जाने की हिम्मत न हुई। सखी अनुपमा के साथ वहीं हरी घास पर टहलते हुए हम जीवन, रिश्तों इत्यादि विषयों पर बात करते रहे फिर थक–हारकर हम दोनों नर्मदा तट पर जा बैठे।

घाट पर माँ नर्मदा के तट पर बैठी मैं सोचती रही कि किसी शहर को विशिष्ट बनाती है वहाँ की संस्कृति और महेश्वर को अन्य शहरों से विशिष्ट बनाती हैं माँ नर्मदा।

यहाँ नर्मदा के दूर–दूर तक फैले चौड़े घाट और इन घाटों पर बने विशाल मंदिर इसे इतना विशिष्ट बनाते हैं कि एक बार जो यहाँ आया वह बार–बार नर्मदा मैया के दर्शनों के लिए आना चाहता है। यह शहर अपने अंदर एक जीवंत संस्कृति और इतिहास समेटे हुए है। कभी नर्मदा तट पर आदि शंकराचार्य और मंडन मिश्र में शास्त्रार्थ हुआ था और नर्मदा तट से ही आदि शंकराचार्य ने सनातन संस्कृति की धर्म ध्वजा को चारों दिशाओं में फैलाने का संकल्प लिया था। नर्मदा तट पर बसा यह महेश्वर लोकमाता अहिल्याबाई होलकर की राजधानी भी रहा है।

आज महेश्वर में मेरा अंतिम दिवस था और सुबह सभी साथियों के साथ मुझे सहस्र धारा देखने जाने का अवसर मिला। आज संगोष्ठी का समापन सत्र भी था उसके बाद सभी को अपने–अपने गंतव्य की ओर जाना था मगर नर्मदा के मोहपाश में बँधा मेरा मन नर्मदा की जोगिन बन उसके साथ सदा के लिए रह जाना चाहता था। मगर घर की जिम्मेदारियाँ मुझे ऐसा करने की इजाजत नहीं दे रही थीं। फिर भी मन में एक साध है कि मैं जीवन में नर्मदा परिक्रमा अवश्य करूँ। मुझे विश्वास है

कि माँ नर्मदा की कृपा मुझ पर अवश्य होगी और मेरी नर्मदा परिक्रमा की साध भी पूरी होगी। इस इच्छा के साथ भारी मन से मैं माँ नर्मदा से विदा होकर वापस अपने शहर की ओर रवाना हो गई।

❑❑❑

संपर्क

कमला नरवरिया, सहायक प्राध्यापक (हिंदी) जे एस शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भिंड (मध्यप्रदेश), मो. 9617517059 ईमेलः skamla830@gmail.com

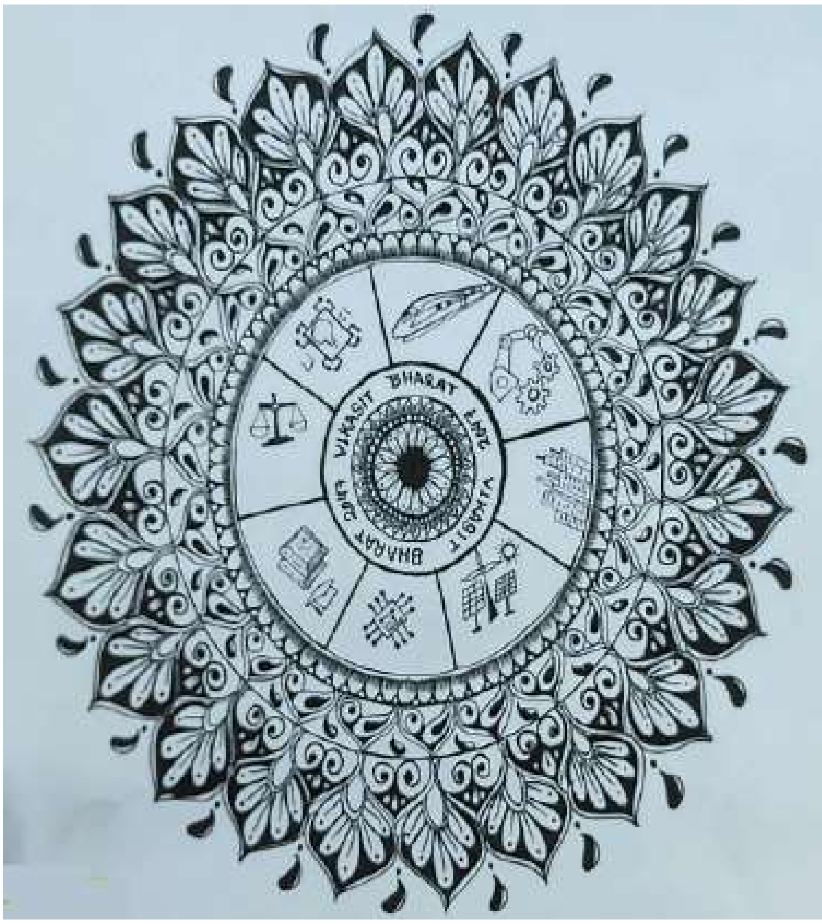

'सौजन्य से'– सोनी कुमारी

हिंदी कहानी

घंटियाँ

रेखा राजवंशी*

जुलाई का महीना था। ऑस्ट्रेलिया की सर्दियाँ वैसे भी हड्डियों में चुभने जैसी होती हैं और इस बार तो ऊपर से लगातार बारिश ने हालत और खराब कर रखी थी। आसमान जैसे हफ्तों से साफ होना भूल गया था। दस दिन से बिना रुके बूँदें गिर रही थीं। आसमान पर हमेशा घने बादल, हवा में हमेशा एक अजीब सी नमी और ठंडक बनी रहती।

मुझे बारिश का मौसम कभी अच्छा नहीं लगा। पैदल चलना मुश्किल, ट्रैफिक रेंगता हुआ, गाड़ियाँ धीरे चलतीं, और हर वक्त यह डर कि भीग गए तो फिर बुखार तय है। मेरा रुटीन ही ऐसा था– घर से बस स्टॉप तक पैदल जाना फिर बस से सिटी पहुँचना और वहाँ से ऑफिस तक फिर पैदल। बारिश में चाहे छाता ले लो, भीगने की पूरी संभावना रहती थी। मुझे सबसे ज्यादा परेशानी अपने बालों पर पानी गिरने से होती थी। बाल भीग जाएँ तो मुझे तुरंत जुकाम हो जाता और ऑफिस के अंदर–बाहर का मौसम–एक तरफ बाहर की ठंडी हवा, दूसरी तरफ़ अंदर की तेज हीटिंग–ये किसी की भी सेहत बिगाड़ने के लिए काफी था।

इस साल की बरसात तो जैसे आफत बनकर आई थी। ऑफिस में हर दूसरे दिन कोई न कोई बीमार पड़ जाता। खाँसी, छींक और नाक बहाते लोगों से सब दूरी बना रहे थे। "कोल्ड एंड लू सीजन" कहकर लोग मजाक भी उड़ाते लेकिन भीतर ही भीतर सब डरे रहते। कई लोग 'वर्क फ्रॉम होम' करने लगे थे। पर मैं सीनियर पोजीशन पर था और मेरे लिए ऑफिस जाना मजबूरी थी।

कभी–कभी सोचता हूँ, कब आया था यहाँ....? तीस साल की उम्र में....। अब सोचता हूँ – पलक झपकते ही तीस साल कैसे बीत गए, पता ही नहीं चला। मैं और श्रेया जब यहाँ आए तो बहुत से प्रश्न थे मन में। नए देश में कैसे सेटल होंगे? नौकरी मिलेगी या नहीं? श्रेया के पास टीचिंग की डिग्री थी और मेरे पास आई. टी. की क्वालीफिकेशंस थीं। कुछ दिन मुझे नौकरी ढूँढ़ने में लगे। उन दिनों जॉब एजेंसीज

*सिडनी, आस्ट्रेलिया में प्रवासी कथाकार और कवयित्री।

काफी सक्रिय थीं, सेंटर लिंक के माध्यम से उनके पास जाया जा सकता था। यहीं आकर मैंने जाना कि ऑस्ट्रेलिया में क्वालिफिकेशंस से ज्यादा जॉब एक्सपीरियंस की जरूरत होती है और यह भी कि हर नौकरी के लिए अलग तरह का रेज़्यूमे बनाना पड़ता है। महीने भर बाद एक जॉब एजेंसी ने कॉल सेंटर में नौकरी दिलाने में मदद कर दी। जब एजेंसी ने बताया कि बीस डॉलर प्रति घंटे के हिसाब से पेमेंट दी जाएगी तो बहुत खुशी हुई। उन दिनों पहली नौकरी मिलना खुल जा सिमसिम यानी सफलता का दरवाजा खुलने जैसा था। इधर श्रेया ने भी शिक्षा विभाग में नौकरी के लिए अर्जी लगा दी थी। इंग्लिश एसेसमेंट के बाद उसे कैजुअल टीचिंग जॉब मिल जाने की उम्मीद थी और उम्मीद ही तो आगे बढ़ने का मार्ग दिखाती है जैसे अँधेरे के बीच एक जलता चिराग या बादलों से घिरे घुप आकाश में चमकता ध्रुव तारा, जो बराबर सबको दिशा दिखता है।

शीघ्र ही श्रेया यहाँ स्कूल में पढ़ाने लगी। दो साल होते न होते मुझे भी अच्छी नौकरी मिल गई। अब हम दोनों ने एक छोटा–सा दो बेडरूम का अपार्टमेंट खरीद लिया। अगले चार साल में जिंदगी और व्यवस्थित हो गई और हमारे घर में दो नन्हें मुन्ने बच्चों की किलकारियाँ गूँजने लगी। पहले बेटा और फिर अब हमारी बेटी, पूरा घर जैसे खिल उठा। अब व्यस्तताएँ और बढ़ गई, मित्र मंडली भी। जल्दी ही बड़े मकान की जरूरत पड़ी। चार बेडरूम का घर खरीदा और बच्चों को भी अपने–अपने कमरे मिले। इस बीच बच्चे बड़े होने लगे, जाने कितने खुशी के पल और उससे अधिक मुश्किल घड़ियाँ। मेरे और श्रेया के माता–पिता भी हमारे घर रहने आए, उनका आशीष मिला और वो दिन भी देखे जब दोनों हम सबको छोड़कर चले गए।

सुख–दुख की सीढ़ियाँ चढ़ते–गिरते बहुत कुछ पाया, बहुत कुछ खोया। बच्चों की पढ़ाई, उनकी डिमांड्स, मकान का मोर्टगेज सब कुछ भरते–भरते साल पर साल बीतते रहे। दोनों बच्चों ने कब यूनिवर्सिटी पूरी की और कब नौकरियाँ लगीं, पता ही नहीं चला। होश तो तब आया जब दोनों ने अपने पार्टनर्स ढूँढ लिए और धूमधाम से दोनों का ब्याह संपन्न हुआ। अब घर जैसे खाली हो गया, हम हो गए एंप्टी नेस्टर। दोनों बच्चे अब अमेरिका में सेटल हो चुके थे। कई बार लगता कि अब रिटायर हो जाना चाहिए। लेकिन रिटायर होकर करेंगे क्या? खालीपन मुझे हमेशा खलता है। श्रेया तो अपने स्कूल और सहेलियों में व्यस्त रहती है, पर मुझे घर में बैठे–बैठे बोरियत घेर लेती है। फिर धीरे–धीरे शरीर ने भी जवाब देना शुरू कर दिया है। चश्मे का नंबर बढ़ता जा रहा है, इम्युनिटी कम होती जा रही है। हमने पूरी योजना बना रखी है कि दो–चार साल और काम कर लें, फिर रिटायर होकर दुनिया घूमेंगे। पूरी जिंदगी ही योजनाबद्ध तरीके से जी थी। शादी, घर मकान, बच्चे, उनकी पढ़ाई, उनकी शादी सब समय पर हो गया था। अब तो दो–चार साल की ही बात है। पलक झपकते निकल जाएँगे।

पर उस दिन सुबह सोकर उठा तो शरीर भारी लग रहा था। मेरा माथा छूकर देखा, हल्का बुखार भी था। श्रेया कह रही थी –

"अपूर्व, आज छुट्टी ले लो। मैं भी आधे दिन की छुट्टी लेकर आ जाऊँगी। फिर डॉक्टर को दिखा देंगे।"

मैंने पैनाडोल ली और सो गया। जब श्रेया घर लौटी तो हम डॉक्टर के पास गए। डॉक्टर ने सामान्य लू बताया और दवाइयाँ लिख दीं। लेकिन अगले दिन से हालत बिगड़ने लगी। छींक और खाँसी ने परेशान कर दिया। सब कहते हैं. लू ठीक होने में तीन दिन लगते ही हैं तो बिस्तर में आराम करो।

तीसरे दिन सुबह आवाजों ने नींद भंग कर दी। ऐसा लगा जैसे घर में कहीं घंटियाँ बज रही हों। ध्यान से सुना तो महसूस हुआ कि ये आवाज झींगुरों जैसी है, जो बरसात में मेटिंग कॉल करते हैं। कान लगाकर सुना तो समझ में आया सिकाडा यानि झींगुरों की आवाज है। भारत के झींगुरों की आवाज और आकार दोनों यहाँ के मुकाबले छोटे होते हैं पर यहाँ के झींगुर बहुत ऊँची आवाज में शोर मचाते हैं। कभी–कभी तो समवेत स्वर में ऐसी आवाजें बनाते हैं कि जैसे मिलकर गान कर रहे हों, मीलों दूर उन्हें सुना जा सकता है।

मैंने श्रेया से कहा,

"देखो, बरसात क्या हुई कि झींगुरों ने शोर मचाना शुरू कर दिया। देखो कितनी तेज आवाज निकाल रहे हैं।"

उसने मुझे घूरकर देखा, "क्या.... ? कौन से झींगुर....? यहाँ तो कुछ भी नहीं है। वो भी इस सीजन में....?"

"अरे, साफ़ सुनाई दे रहा है। तुम बहरी हो गई हो क्या?" मैंने झुँझलाते हुए कहा।

श्रेया चुप रही और किचन में चली गई। शायद वह मुझसे बहस करके मुझे और अपसेट नहीं करना चाहती थी। लेकिन मेरे कान में आती आवाजें स्पष्ट थीं। मैंने ध्यान से सुनने की कोशिश की। टिन.... टिन.... ट्रिन.... ट्रिन.... की धुन लगातार कान में सुनाई देने लगी। ओह... ये छोटी–छोटी घंटियों की आवाजें, ये कहीं से तो आ रही हैं। हर वक्त, हर जगह निरंतर हैं। जैसे ब्रह्मांड में गूँजने वाला ऊँ का अनहद नाद जो सृष्टि की वह मूल ध्वनि है, जिससे ब्रह्मांड का आरंभ हुआ और जो अनंत काल से गूँज रही है। एक अदृश्य ध्वनि कंपन है, जिसे सीधे कानों से नहीं, बल्कि आत्मा से महसूस किया जाता है। ब्रह्मांड का बीज मंत्र और चेतना का माध्यम जो साधक को ब्रह्मांडीय ऊर्जा से जोड़ता है।

जाने क्यों मैं खुद पर झल्लाने लगता हूँ। शायद सच में बूढ़ा हो रहा हूँ, ऊँ की ध्वनि की इन बेकार की घंटियों से क्या तुलना। कितनी अजीब बात है कि ये घंटियाँ

जैसे मेरे वजूद से जुड़ गई हैं। यहाँ तक कि नहाते समय भी। एक दिन, दो दिन पर ये आवाजें मेरा पीछा न छोड़तीं। मैं दिन भर झुँझलाया रहता, किसी काम में मेरा मन न लगता।

अब मेरी दुनिया घंटियों जैसी अनवरत आती इन आवाजों तक सिमट गई थी। सोते–जागते, ऑफिस में बैठते, गाड़ी चलाते। हर पल ...। पहले लगा कि कुछ दिन में सब कुछ ठीक हो जाएगा, लेकिन हालात बिगड़ते गए। बातचीत करना मुश्किल हो गया। किसी से बात करते वक्त भी मेरा ध्यान सिर्फ कान की आवाज पर ही रहता। मैंने संगीत सुनना बंद कर दिया क्योंकि उससे आवाज और तेज हो जाती। धीरे–धीरे मुझे किसी चीज में दिलचस्पी नहीं रही। ऑफिस का काम अधूरा रहने लगा और मैं डिप्रेस्ड रहने लगा। खाने–पीने में भी रुचि न रही। घंटियों की ये आवाजें मुझे जीने नहीं दे रही थीं।

आखिरकार श्रेया मुझे ईएनटी डॉक्टर के पास ले गई। उन्होंने एमआरआई करवाया ताकि ट्यूमर जैसी किसी गंभीर समस्या की पुष्टि हो सके। रिपोर्ट सामान्य आई। फिर मुझे यूनिवर्सिटी मेडिकल सेंटर के विशेषज्ञ डॉक्टर डेविड स्मिथ के पास भेजा गया।

डॉ. स्मिथ ने कई टेस्ट करवाएँ और बताया – "यह टिनिटस है, एक ऐसी स्थिति जिसमें कान में लगातार आवाजें सुनाई देती हैं। कुछ मामलों में ये बीमारी सुनने की क्षमता को भी प्रभावित करती है।"

अब समझ में आया कि आवाज बाहर से नहीं, मेरे कान के भीतर से आ रही थी।

डॉ. स्मिथ ने मुझे "एंडोलिम्फैटिक हाइड्रॉप्स" नाम की स्थिति के बारे में बताया। कान में तरल का असंतुलन इसकी वजह था। और कारण? नमक। मुझे खट्टे अचार का बेहद शौक था और शायद यही मेरे कानों का दुश्मन बन गया था। उन्होंने मुझे कम नमक का डाइट प्लान दिया और कुछ दवाइयाँ लिखीं। साथ ही, उन्होंने सलाह दी कि मैं टिनिटस और हाइपराक्यूसिस प्रोग्राम से जुड़ूँ। वहाँ ऑडियोलॉजिस्ट थे जो ब्रेन ट्रेनिंग और साउंड थेरेपी से इस समस्या को कम करने में मदद करते थे।

टेस्ट से यह भी पता चला कि मेरे दोनों कानों में सुनने की क्षमता घट चुकी है। यह सुनकर मैं टूट गया। पर श्रेया ने हिम्मत दिलाई,

"अपूर्व, बीमारी से डरना नहीं है। इसे मैनेज करना है।"

ऑडियोलॉजिस्ट ने समझाया, – "ये आवाजें रुकेंगी नहीं। पर तुम्हारा दिमाग इन्हें नजरंदाज करना सीख सकता है। इसके लिए हमें तुम्हारी ब्रेन प्लास्टिसिटी पर काम करना होगा।"

उन्होंने दो विकल्प दिए – बैकग्राउंड म्यूजिक वाला उपकरण, नियंत्रित नॉइज जनरेटर।

मैंने नॉइज जनरेटर वाले उपकरण चुने। ये धीरे–धीरे बैकग्राउंड में आवाज पैदा करते, जिससे मेरा दिमाग कान की घंटियों पर फोकस करना छोड़ दे।

पहले हफ्ते में ही थोड़ी राहत मिली। धीरे–धीरे मैं फिर से सुबह उठकर काम करने लगा। संगीत भी सुनना शुरू कर दिया। अब आवाजें थीं, लेकिन उनका असर कम होता जा रहा था।

इन महीनों ने मुझे बहुत कुछ सिखाया। मैंने जाना कि इंसान की असली परीक्षा तब होती है जब उसके भीतर ही शोर मच रहा हो। बाहरी दुनिया से भाग सकते हो लेकिन अपने कान के भीतर बजती घंटियों से कहाँ जाओगे?

श्रेया ने भी मेरा साथ दिया। जब कभी मैं उसकी बात न सुन पाता तो वह मजाक में कह देती –

"लगता है घंटियों का कॉन्सर्ट चल रहा है?" और हम दोनों हँस पड़ते।

कभी सोचता हूँ कि शायद मेरे दादा–परदादा को भी यह समस्या रही हो। लेकिन उन्होंने इसे "मंदिर की घंटियाँ" मानकर भक्ति में बदल दिया होगा।

अब भी जब अकेला होता हूँ तो घंटियाँ बजने लगती हैं। ऑफिस का शोर उन्हें दबा देता है, लेकिन घर की खामोशी में वे फिर उभर आती हैं। मगर फर्क यह है कि अब मैं उनसे डरता नहीं। मैंने उन्हें अपनी जिंदगी का हिस्सा मान लिया है। अब मेरी जिंदगी वही है, पर दृष्टिकोण बदल गया है। बीमारी ने मुझे धैर्य सिखाया है।

आज महीनों बाद मैं यह सब लिख रहा हूँ। मेरे कान अब भी बजते हैं, लेकिन मेरा मन वहाँ अटका नहीं रहता। मैं उनके साथ जीना सीख चुका हूँ। मुझे लगता है कि हर बीमारी हमें कोई न कोई सबक सिखाती है। टिनिटस ने मुझे धैर्य, आत्म–नियंत्रण और जीवन की नश्वरता का बोध कराया।

कभी–कभी सोचता हूँ – जिन्हें हम बीमारी कहते हैं, वे भी शायद जीवन का संगीत ही हैं। बस हमें उसे सुनने का ढंग बदलना होता है। इंसान को हर हाल में जीना होता है – चाहे भीतर कैसी भी घंटियाँ क्यों न बज रही हों!!

❑❑❑

संपर्क

रेखा राजवंशी– ऑस्ट्रेलिया, ईमेलः rekha&rajvanshi@yahoo.com.au

उस रात

आनंदप्रकाश त्रिपाठी*

वह भोर कभी भुलाए नहीं भूलती है। जब आसमान काली घटाओं के आगोश में समा गया था। जैसे सुरमई साँझ भोर की गलबहियाँ पड़ गई हो। बंजारे बादलों ने पूरे इलाके में अपना डेरा डाल दिया था। पर न जाने क्यों ? लोगों का भरोसा डगमगा रहा था कि ये मनचले बादल बरसेंगे भी बरसें बिना ही नौ दो ग्यारह हो जाएँगे ? इनकी फितरत से लोग वाकिफ हैं। क्या भरोसा ? ये कब बिदक जाएँ और नजरों से ओझल हो जाएँ ? बादलों की गड़गड़ाहट जैसे आकाश में नगाड़े बज रहे हों। मानो युद्ध की भेरी बज रही हो। सावन का ऐसा बौराना रूप कई सालों बाद देखा गया है। भिनसार से पानी बरसना शुरू हुआ और शाम तक झड़ी लगी रही। यह देखकर सभी के दिल में खुशियाँ चहक उठी थीं।

धनेश्वर काका अपने घर के बरामदे में अकेले बैठे हुए थे। दूर–दूर तक फैले हुए खेत वर्षाजल से लबालब भर गए थे। मानो कोई छोटा–सा सरोवर लहरा रहा हो। पास खड़े पेड़ों की छवि उस लहराते हुए जल में प्रतिबिंबित होकर हिल–डुल रही थी। ऐसे ही कितने खेत ताल बन गए थे। धूल–धूसरित वृक्षों की देह वर्षा से धुलकर निखर गई थी। यह मनोरम दृश्य देखकर काका मुग्ध हो उठे थे।

किस व्यक्ति से काका अपनी खुशियाँ शेयर करें? यह वाजिब सवाल उन्हें लगातार परेशान किए हुए था। अब तो घर में वे अकेले रह गए हैं और गाँव में उनका कोई हमजोली भी नहीं रह गया है। अपना अकेलापन वे भला कैसे दूर करें ? सालों पहले स्वनिम का दिया हुआ कीपैड मोबाइल धनेश्वर के बहुत काम का नहीं रह गया है। एंड्रायड स्मार्टफोन की बात ही गजब है। पर इसे खरीदने में सर्वथा असमर्थ हैं। अभी साल भर पहले, धनेश्वर काका ने अपना दिमाग दौड़ाया और मनबहलाव का एक रास्ता निकाल लिया। महाभारत, रामायण तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों को पढ़ते और गुनते हुए काका ने अपना अकेलापन दूर करने की तरकीब निकाल ली थी। ज्यादा

*सीनियर प्रोफेसर, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी एवं संस्कृत विभाग।

पढ़े–लिखे न होकर भी उन्होंने अपनी क्षमता के अनुसार धार्मिक ज्ञान के प्रति समझ–बूझ बढ़ाई। उन्हें निपुण कथावाचक तो बनना नहीं था, लेकिन काम की ढेरों बातें सीख ली थीं उन्होंने। उनकी तेज आवाज में मानस की चौपाइयाँ दूर तक लोगों के कानों में पड़ती हैं। धीरे–धीरे उनका रगियाना लोगों को पसंद आने लगा था। इसके बावजूद कभी–कभी उनका मन उमगता है कि कोई अपना मिले तो उससे दिल की हजार बातें बतियाई जा सकें। अपने अनुभवों को लोगों में बाँट देने के लिए काका सदैव व्याकुल रहा करते हैं। काका की खासियत यह है कि वे खुद से भी बतिया लेने में माहिर हैं। काका बोल पड़े – "गजब ढ़ा रहे हो, इंद्रदेव! थोड़ा थमकर बरसो।" भला इंद्रदेव कहाँ सुननेवाले। धनेश्वर काका जैसे पुराने लोग पौराणिक कथाओं में विश्वास करते हैं और वर्षा के लिए इंद्रदेव की कृपा मानते हैं। घाघ– भड्डरी की कहावतों में उनका किसानी जीवन बीत गया है। इन कहावतों तक ही उनका मौसम का ज्ञान सिमटा हुआ था। यह भी मामूली बात नहीं है। आधुनिक मौसम विज्ञान के विषय में उनकी समझ पढ़े–लिखे लोगों जैसी नहीं थी। यदि कोई समझाए तो नए ज़माने की बातें काका समझ लेते हैं। उनके भेजे में थोड़ा–बहुत ज्ञान उतर ही जाता है। धनेश्वर काका चुप बैठने वाले व्यक्ति नहीं हैं। वे फिर बोल पड़े–"लग रहा है कि देव पिछले कई बरसों की कोर–कसर पूरा करके मानेंगे। ऐसी मूसलाधार वर्षा तो सगुन के ब्याह में हुई थी। तब धोबियाघाट के ताल का बांध टूट पड़ा था और पूरा गाँव जलमग्न हो गया। बहुत नुकसान हुआ था। .... ऐसा न करना देव!" 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' कहते हुए काका की दृष्टि आकाश में गरज रहे बादलों की ओर चली गई।

भीगते –भागते धीरज धनेश्वर काका की कुटिया की ओर से निकल रहा था। उसने कुटिया में काका को बैठे हुए देखा। लपककर वह कुटिया में आया और काका से पैलगी की। काका ने आशीर्वाद दिया– "खूब जियो बच्चा, खूब जियो। बैठो बेटा। "धीरज पास में रखी कुर्सी खींचकर बैठ गया। बोला – "अरे काका! अभी किस से बतिया रहे थे आप ?" काका चुप रहे। फिर बोले– "देखो! इंद्रदेव की कृपा बरस रही है।" धीरज– "हाँ काका! ... मौसम का मिजाज कब समझ पाया है इंसान ? यह मौसम–विज्ञान ही बता सकता है।" बरामदे में बैठे हुए दोनों जन बतियाने लगे थे। गाँव और देश की कितनी ही जानी–अनजानी बातें। ठंडी हवा की सनसनाहट उनके कान के परदे भेद रही थी। पेड़ –पौधों को भीगते–झूमते हुए देखकर धीरज ने कहा– "काका! आज हवा अजब तूफानी है।" मौसम की बातें देर तक दोनों के बीच होती रहीं। काका बातूनी आदमी, धीरज से बतियाते हुए उन्हें भरपूर आनंद मिल रहा था।

ताप के ताये हुए दरख़्तों की मद्धिम हुई साँसें उखड़ने से बच गईं। वे भीतर से हरियाने लगे थे। वनस्पति–जगत् की रंगत बदल गई। धरती की जलन शांत हो गई। सबका तन–मन खूब भींग गया। समस्त प्राणियों की आत्मा जुड़ा गई। उस दिन

गाँव में अपने–अपने घरों से बच्चे पानी के रेले में निकल आए थे। हर किसी का मन झूम उठा था। बरसते पानी में 'घुमरी परैया' खेलने के लिए बच्चों का जी मचल उठा था। बच्चों पर कौन लगाम लगाए? "काले मेघा पानी दे... पानी दे गुड़धानी दे, काले मेघा पानी दे।.... "कहते हुए बच्चे हुड़दंग मचाने लगे थे। पुरवाई पेड़–पौधों की देह बेरहमी से झकझोर रही थी। ताल–तलैया के गले तक पानी भर आया था। झींगुरों की झनकार और मेंढकों की टरटराहट से पूरे वातावरण में अजीब रोमांच व्याप्त हो गया था।

इसी बीच शहर से सत्य और स्वनिम का गाँव में आगमन हुआ था। धनेश्वर काका से मिलने और उनका हाल–चाल जानने के लिए वे दोनों भाई बरसते पानी में काका के घर पहुँचे थे। सुबह के ग्यारह बजे थे। दोनों भाइयों को घर आया देखकर काका बहुत प्रसन्न हुए। नमस्कार हुआ। सत्य और स्वनिम गाँव में उनके पड़ोसी हैं, पर रहते शहर में हैं। उनकी खेती–बाड़ी वर्षों से धनेश्वर काका ही देखते आए हैं, बटाई पर। काका और दोनों भाइयों की परस्पर बातचीत हुई। दोनों भाइयों ने काका के साथ भोजन किया। थोड़ा विश्राम करने के बाद पिछली फसल का हिसाब हुआ। यह पूरा भरोसे का सौदा है और अपनत्व भरा भी।

सत्य और स्वनिम को आज ही शहर लौटना था। बरसात थमने का नाम नहीं ले रही थी। उन दिनों गाँव से शहर की ओर इक्का–दुक्का सरकारी बसें चलती थीं। लेकिन आज की झमझमौआ बारिश में बसों के आने–जाने का फिक्स टाइम बता पाना मुश्किल था। सत्य और स्वनिम दोपहर से ही धनेश्वर काका के घर में बैठे हुए थे। इंद्रदेव का कोप तनिक शांत हो जाए तो बस पकड़ने के लिए वे निकलें। वे बारिश की आफत में फँसे हुए थे। शाम हो गई। संझौती का समय आ गया। पानी की झड़ी थोड़ा कमजोर पड़ी और वे दोनों भाई बूँदाबाँदी की परवाह न करके बस स्टॉप पर पहुँच गए।

उस अति पिछड़े हुए दूर–दराज इलाके के छोटे से गाँव के टुटहे बस स्टैंड पर दोपहर से ही यात्रियों की अच्छी खासी भीड़ जमा हो गई थी। सभी का बचा–खुचा धैर्य जवाब देने लगा था। शाम होते–होते बारिश थम गई थी। सरकारी बस आई, बस का गेट खुलते ही सवारियाँ बस की ओर बड़ी तेजी से लपकीं। सत्य और स्वनिम भी भीड़ की ठेलमठेल में धकियाते हुए बस में चढ़ गए, उन्हें बीच की सीट मिल गई। बस में आठ–दस सवारियाँ पहले से बैठी हुई थीं। बस लगभग फुल हो गई थी।

गाँव के बस स्टॉप से बस की रवानगी हुई। कंडक्टर एक–एक कर यात्रियों का टिकट बनाने लगता था। अगले दो–तीन स्टॉप के लिए कुछ सवारियाँ बस में चढ़ी थीं जबकि अधिकांश यात्री अयोध्या के लिए बैठे थे। चार–पाँच महिलाएँ पहले से ही बस में थीं। घंटा भर बाद बसखारी बाजार आ गया। यहाँ से तीन–चार पैसेंजर्स बस

में चढ़े। बस आगे चलने को हुई, एक बंदूकधारी मुच्छड़ और उसका साथी तेजी से आकर बस में चढ़ गए। उसी क्षण एक युवती हाथ उठाकर बस को रोकने का संकेत करती है। तत्काल कंडक्टर ने ड्राइवर को बस रोकने को कहा। बस रुकी और वह युवती बस में चढ़ गई। मुच्छड़ और उसका साथी उस युवती के साइड वाली सीट पर बैठ गए थे। सभी की निगाह उस युवती पर पड़ी। उसकी देहदशा अकेले यात्रा करने की नहीं थी। उसकी जैसी हालत में किसी भी युवती को सख्त आराम करने की जरूरत होती है। सातवाँ–आठवाँ महीना रहा होगा। वेशभूषा से वह अति सामान्य दिखाई दी। एक पुरानी–सी साड़ी पहने हुए थी। किसी गरीब परिवार की लग रही थी पर देखने में सुंदर थी। उसे देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता था कि वह किसी परेशानी में है। किन परिस्थितियों में वह रात में अपने घर से निकली है, यह अनुमान कोई कैसे लगा सकता है? फिलहाल सभी यात्री बस में सुविधाजनक ढंग से बैठ गए थे। कंडक्टर ने नए यात्रियों का टिकट बनाया। बस में बैठे हुए सभी पैसेंजर्स की काउंटिंग की और टिकट के रिकॉर्ड से मिलान किया। सीट और रुपये के हिसाब में एक टिकट का अंतर आ रहा था। कंडक्टर ने पूछा कि किस यात्री का टिकट नहीं बना है? बस में कहीं से कोई आवाज नहीं आई। उसने दुबारा अपनी बात दुहराई। वह युवती अपराधिनी भाव के साथ कंडक्टर की ओर देखने लगी थी। उसने अपनी ओर संकेत किया। युवती के पास कंडक्टर आया जो बंदूकधारी मुच्छड़ व्यक्ति के साइड वाली सीट पर अकेली बैठी थी–डरी –सहमी, सकुचाई हुई गठरी सी।

कंडक्टर ने पूछा– "क्यों टिकट नहीं बनवाया? चुपचाप बैठ गईं तुम।.... गलत बात है।" युवती की स्थिति को देखकर कंडक्टर के स्वर का तीखापन कम हो गया था। उसने सहज भाव से पूछा– "कहाँ जाओगी?"

युवती बोली– "फैजाबाद।" कंडक्टर टिकट काटने ही वाला था कि युवती बोल पड़ी– "भइया! आपकी मदद चाहिए।" एक सेकेंड के लिए कंडक्टर अचकचाया, सोचा कि यह कैसी मदद चाहती है। "कहो ,क्या बात है?" कंडक्टर ने पूछा।

"किराये के लिए रुपये नहीं हैं। ––– मुसीबत में हूँ।" युवती बोली।

कंडक्टर नाराजगी भरे स्वर में– "तो हम क्या करें ? बस का किराया कौन देगा? सरकारी बस है। जब पैसा नहीं था तो बस में चढ़ीं क्यों ? उतरो, उतर जाओ अभी।" झिड़कते हुए कंडक्टर ने अपनी नाराजगी व्यक्त की और ड्राइवर को बस रोकने के लिए कहा। ड्राइवर ने पीछे मुड़कर देखा और यह सुना कि कंडक्टर उस युवती को बस से उतरने के लिए कह रहा है– "न जाने कहाँ–कहाँ से चले आते हैं लोग? पैसा नहीं है फिर भी जबरदस्ती बैठ गई। जैसे धर्मार्थ बिठाने का ठेका लिया है।" बड़बड़ाते हुए कंडक्टर ने ड्राइवर को बस रोकने के लिए जोर देकर कहा। ड्राइवर ने बस की स्पीड स्लो कर दी। कंडक्टर और युवती के बीच हुई सारी बातें सुनकर

यात्रीगण बहुत दहशत में आ गए थे। किसे दोष दें और किसे नहीं। किसी यात्री ने कहा– "अरे कंडक्टर साहब! उतारो इसे। टिकट के बगैर कैसे ले जाओगे?" एक युवक यात्री बोला, "चंदा इकट्ठा कर लो। यह कोई बड़ी समस्या नहीं है।" उसी पल बस में बैठे बंदूकधारी मुच्छड़ के साथी अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने कंडक्टर से कहा– "टिकट का कितना पैसा हुआ?

कंडक्टर– "पचहत्तर रुपये।"

उस व्यक्ति ने अपनी जेब से पर्स निकाला और सौ रुपए का एक कड़क नोट कंडक्टर को थमा दिया। कंडक्टर उसे पहचानता था। उसने सोचा कि "यह युवती अवश्य इस व्यक्ति से परिचित होगी। वरना कौन किसी अपरिचित व्यक्ति की आर्थिक मदद करता है? नेकी का जमाना अभी बचा हुआ है।" यात्रियों ने सोचा कि यह व्यक्ति बहुत नेक इंसान है। सभी उसे ध्यान से देखने लगे थे।

कंडक्टर ने सौ का नोट अपने पर्स में रखा और शेष रुपये उस व्यक्ति को लौटा दिए। टिकट मशीन पर कंडक्टर की उंगलियाँ दबने के पहले ही वह व्यक्ति बोल पड़ा– "टिकट गोशाईंगंज का बनाना।" यह सुनकर युवती हकबका गई।

वह बोली,– "नहीं, नहीं, टिकट फैजाबाद का बनाइए। मुझे फैजाबाद जाना है।"

कंडक्टर ने पूछा, "अयोध्या धाम या अयोध्या कैंट ?" युवती एक पल के लिए सोचने लगी कि उसे तो फैजाबाद जाना है। ज्यादा वक्त गँवाए बिना युवती ने कंडक्टर से कहा, "फैजाबाद।" कंडक्टर ने उसे बताया कि "फैजाबाद ही अब अयोध्या कैंट कहलाता है।" युवती आश्वस्त हो गई कि कंडक्टर टिकट फैजाबाद का ही बनाएगा। इसी चर्चा के बीच टिकट का पैसा चुकाने वाले व्यक्ति ने युवती को अपने खोमचे में लेने की कोशिश की। उसे बरगलाने का प्रयास यह कहकर किया कि "गोशाईंगंज में मेरी गाड़ी खड़ी है। वहीं से मुझे भी फैजाबाद जाना है। तुम्हें घर तक पहुँचा दूँगा। चिंता मत करो।"

युवती बोली – कंडक्टर साहब, टिकट अयोध्या कैंट का ही बनाना।

बस में बैठे हुए सभी यात्री बहुत ध्यान से युवती और उस व्यक्ति की बातचीत सुन रहे थे। अभी तक किसी पैसेंजर ने इस सीन में हीरो की भूमिका में एंट्री नहीं की थी। उनकी वार्ता में हस्तक्षेप नहीं किया था। अकस्मात् सत्य और स्वनिम एक साथ बोल पड़े– "आप जबरदस्ती क्यों कर रहे हैं? जब उसे फैजाबाद जाना है तो आप गोशाईंगंज का टिकट क्यों बनवा रहे हैं ?"

सत्य और स्वनिम का हस्तक्षेप करना उस व्यक्ति को अच्छा नहीं लगा। पीछे से किसी यात्री की आवाज आई– "देखो, हीरो की एंट्री हो गई।" उसका दूसरा साथी बोला – "अब मजा आएगा।" उनके डायलॉग सुनकर भी सत्य और स्वनिम ने कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की।

उस युवती के टिकट का मूल्य चुकाने वाले व्यक्ति ने आक्रोशित स्वर में कहा– "आप दोनों कौन होते हैं ? क्या आपने टिकट का पैसा दिया है ? .... आप चुप रहिए।"

सत्य और स्वनिम ने तेज स्वर में कहा– "क्या मतलब ? आप टिकट का पैसा देकर किसी युवती का अपमान करेंगे ? जोर–जबरदस्ती करेंगे ? वह बार – बार कह रही है कि उसे फैजाबाद जाना है और आप उसका टिकट गोशाईंगज का क्यों बनवाना चाहते हैं?" सत्य के समर्थन में दो–तीन यात्री बोल पड़े थे। एक अन्य यात्री बोला – "इतनी जिद क्यों भाई? क्या चाहते हैं आप?" वह व्यक्ति इसे भी घूरने लगा, जैसे सच बात स्वीकार करना गवारा ही न हो उसे। उसका साथी मुच्छड़ भी उचक उठा – चुप रह, तेरे से क्या मतलब? जानता नहीं है हमें।

उस व्यक्ति ने बड़े अहंकार में अपना परिचय कांट्रैक्टर के रूप में दिया और बोला– "आप मुझे नहीं जानते हैं। इस इलाके में सभी जानते हैं मुझे। कंडक्टर से पूछिए।"

"आप पढ़े–लिखे और पैसे वाले व्यक्ति हैं, फिर भी गैरजिम्मेदाराना व्यवहार कर रहे हैं।"

स्वनिम ने धिक्कारते हुए उस कांट्रैक्टर से कहा। खिसियाहट में उस व्यक्ति की बोलती बंद हो गई।

कंडक्टर ने युवती का टिकट फैजाबाद तक का बना दिया था। टिकट का पैसा देने वाला व्यक्ति निरुत्तर हो चुका था। इतनी फजीहत के बाद भी वह व्यक्ति अपनी हरकतों से बाज नहीं आया। उसे बदमाशी सूझी, वह अपनी सीट से उठा और युवती के पास खाली सीट पर बैठ गया। यात्रियों को बहुत अटपटा लगा। युवती भी ऑकवर्ड फील कर रही थी। किसी ने कुछ नहीं कहा उस व्यक्ति को।

बस आगे बढ़ गई थी। कंडक्टर ने बस के अंदर की लाइट ऑफ कर दी। सभी यात्री आश्वस्त हो चुके थे कि अब मामला शांत हो चुका है।

(मेरे लेखक मन को सूझा कि क्यों न इस कहानी में इन दोनों पात्रों युवक और युवती का इनके गुण–धर्म के आधार पर नामकरण कर दिया जाए। जैसा कि उस व्यक्ति ने अपने परिचय में स्वयं को कांट्रैक्टर बताया है। वह युवती भी सुंदर है। इसलिए इस कहानी में अब आगे व्यक्ति को कांट्रैक्टर और युवती को सुंदरी के नाम से पहचाना जाएगा।)

कांट्रैक्टर जिस अधिकार भाव से उस युवती यानी सुंदरी के पास बैठ गया था, वह सर्वथा अमर्यादित था। यह व्यवहार सुंदरी को बहुत अनुचित लगा था। उसकी मंशा पर शक होना स्वाभाविक था। सुंदरी ने भाँप लिया उसकी घृणित मानसिकता को। उसकी बुरी नीयत को ताड़ लिया था। वह भयभीत हुई।.... परंतु उस व्यक्ति के प्रति सुंदरी एक भी कठोर शब्द नहीं कह पाई। विवश थी वह क्योंकि उस व्यक्ति

ने गाढ़े वक्त में उसकी मदद की थी। टिकट के पैसे अगर वह नहीं देता तो आगे की यात्रा संभव नहीं हो पाती। लेकिन मन ही मन वह सोचने लगी थी– यह मर्द कितनी घटिया सोच रखता है। .... कितना गिरा हुआ है ? चंद रुपये का सहयोग क्या किया कि मनमानी पर उतर आया है। उसके मन में क्या साजिश चल रही है यह कौन जान सकता है? सुंदरी समय की नजाकत को समझ गई थी। लेकिन खुलकर अपना विरोध नहीं जता सकी।

इधर युवती की सुंदरता देखकर कांट्रैक्टर का मन डोल गया था। उसकी नीयत में खोट था। उसने अपने बैग से अखबारी कागज में लिपटी कोई खाद्य–सामग्री निकाली और उस युवती के हाथ में पकड़ाना चाहा। किसी अपरिचित व्यक्ति से कोई खाने की चीज वह क्यों ले ? उसने कहा तो कुछ नहीं, बस थोड़ा और सहम गई। वह व्यक्ति थोड़ा खिसियाया पर बेहयाईपन से बाज़ नहीं आया। उसने वह पैकेट युवती के हाथ में जबरदस्ती पकड़ा दिया और कहा– "लो, भूख लगी होगी, खा लो। संकोच मत करो।" उस व्यक्ति की यह अधिकृत चेष्टा सुंदरी की समझ से परे न थी। सुंदरी ने कोई ज़वाब नहीं दिया और न ही उसकी दी हुई खाद्य–सामग्री खाई।

बस में बैठे हुए लोग कांट्रैक्टर की हरकतों को देखकर मन ही मन आक्रोशित हुए होंगे। परंतु कांट्रैक्टर को टोकने और रोकने की हिम्मत किसी की नहीं हुई। सब कुनमुना कर रह गए। कौन पंगा ले उस व्यक्ति से ? सब शरीफ जो ठहरे ? याकि बुजदिली रेंग रही थी उनकी नसों में। वास्तव में पुरुषों के इस तथाकथित शराफत के ढोंग ने स्त्री के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार में कई गुना इजाफा किया है। स्त्री के प्रति पुरुष का नजरिया आज भी पूरी तरह नहीं बदला है। इस बात का साक्ष्य समाज में आए दिन स्त्री के प्रति होने वाली तमाम घटनाएँ हैं। कोई दिन ऐसा नहीं गुजरता जब समाचार पत्रों में स्त्री की हत्या, बलात्कार, छेड़छाड़ की घटनाएँ न छपती हों। कितनी ही हृदयविदारक घटनाएँ इज्ज़त, मर्यादा के नाम पर छिपी–दबी रह जाती हैं।

बस अपनी रफ़्तार से चली जा रही थी, कंडक्टर ने बस की लाइट पहले से ही ऑफ कर दी थी। ड्राइवर की सीट के पास एक नन्हा बल्ब टिमटिमा रहा था। सामने से आ रही गाड़ियों, बसों की लाइट की रोशनी से बस में जगमगाहट हो जाती थी। आने वाले हर स्टॉप पर बस कंडक्टर अपनी सीट पर बैठा हुआ बस का गेट खोलता, इक्का–दुक्का सवारियाँ बस से उतरतीं और चढ़ती रहीं। खटारा बस की घुर–घुराहट रात के सन्नाटे को भेद रही थी। इस घुर– घुरघुराहट से स्वनिम को परेशानी हो रही थी। इसीलिए मोबाइल में इयर फोन लगाकर वह संगीत का आनंद लेने लगा था। अधिकांश यात्री मोबाइल में व्यस्त दिखाई दिए। रात के दस बज चुके थे। उस बस में कांट्रैक्टर का लंबी मूछों वाला तगड़ा साथी बैठा हुआ था। उसके हाथ में दोनाली बंदूक थी। स्वनिम को तो वह पूरा डाकू लग रहा था। उसे देखकर 'शोले' फिल्म में

गब्बर सिंह के गैंग के एक डाकू की सूरत उसके ध्यान में आई। सत्य की निगाह भी उस मुच्छड़ पर गई। वह मुच्छड़ बहुत डरावना था।

खुली आँखों का क्या कुसूर ? जब दिल बेईमान हो। कांट्रैक्टर की आँखें जैसे सुंदरी के चेहरे से चिपक गई थीं। वह एकटक सविकार सुंदरी को निहारे जा रहा था। बस में अँधेरे का लाभ उठाने की उसकी हरकतें लोगों की समझ में आ रही थी। सुंदरी अपनी तरफ से उन हरकतों से बचने की कोशिश कर रही थीं। यात्रियों को कांट्रैक्टर का हाव–भाव अच्छा नहीं लग रहा था। पर बड़ा सवाल यह था कि कौन बोले ? कौन रोके–टोके? जमाना ही नहीं रह गया है किसी को टोकने–समझाने का। तिस पर रात का समय। झंझट में कोई फँसना नहीं चाहता था। बस में बैठा हुआ प्रायः हर व्यक्ति स्वयं को डर के हवाले कर चुका था। अगले स्टॉप पर बस रुकी। अधिकांश सवारियाँ उतर गईं।

धीरे–धीरे रात गहराने लगी थी। संतुलित रफ्तार से बस रास्ते में बाजार, रोड किनारे के गाँव, जंगल, बाग–बगीचे को पार करती हुई आगे बढ़ रही थी। बस की घुर्घुराती आवाज के अतिरिक्त आने–जाने वाले वाहनों के हॉर्न की कानफोड़ू आवाजें कानों को भेद रही थीं। स्वनिम ने मोबाइल में समय देखा, रात के ग्यारह बज चुके थे। उसने आगे पीछे अपनी गर्दन घुमाकर देखा, बस में बैठे अधिकांश लोगों की आँखें झपने लगी थीं। सत्य को भी नींद दबोचने लगी थी। स्वनिम अभी चैतन्य था। उसने देखा कि कांट्रैक्टर अश्लील हरकतें करने से बाज नहीं आ रहा है। सुंदरी असहज महसूस कर रही है। डरी–सहमी बैठी हुई है। हाँ, वह युवती कभी अपने बदन को, कभी सिर को आँचल से ढक लेती है। कभी उस व्यक्ति के हाथ को झटक देती है। बीच में एक बार सुंदरी पीछे खाली सीट पर बैठने के लिए उठी। लेकिन कांट्रैक्टर की गिरफ्त से छूटना उसके लिए संभव नहीं हुआ। उसने खींचकर सुंदरी को अपने पास बिठाए रखा। अपनी दबी–कुचली मानसिकता के कारण वह कुछ बोलने की हिम्मत न जुटा सकी। मौन साधे रही। कांट्रैक्टर की यह अभद्रता सभी को बुरी लग रही थी। लेकिन अब तक सबकी जुबान बंद थी। कोई आवाज नहीं उठी। .... स्वनिम सोच रहा था कि "कैसा समय है कि गलत का विरोध करने से लोग डरते हैं ? हर आदमी भयभीत है, भीतर से खोखला है। बड़ी–बड़ी बातें तो वह कर लेता है पर ऐन मौके पर चुप रहता है। यह चुप्पी कितनी खतरनाक है, बेमानी है, किसी गुनाह से कम नहीं है। समाज में स्त्री के साथ घटने वाली घटनाओं में इजाफा होने को लेकर प्रायः स्वनिम जैसे कुछ सभ्य लोग वाद–विवाद और संवाद में अपनी भागीदारी तय करते हैं। कहते हैं न जब तक अपने ऊपर नहीं बीतती है तब तक आदमी को दूसरे की पीड़ा का अहसास नहीं होता है।

स्वनिम को बर्दाश्त नहीं हुआ कि कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ खुलेआम इस तरह छेड़छाड़ करे। उसने कंडक्टर को आवाज दी और बस के अंदर की लाइट

जलाने को कहा। कंडक्टर ने लाइट ऑन कर दी। कुछ यात्री स्वनिम की ओर देखने लगे कि बात क्या है ? लाइट क्यों जलवाई? लाइट जलाने का विरोध कांट्रैक्टर ने सबसे पहले किया। कांट्रैक्टर की ओर मुखातिब होकर स्वनित ने कहा, "उठो, उठो यहाँ से.... अलग सीट पर बैठो। यहाँ से तत्काल उठो?.... अलग सीट पर जाकर बैठो।" स्वनिम से हॉट–टॉक शुरू होने के कारण सत्य की कच्ची नींद टूट गई। कुछ और यात्री भी विरोध में बोल पड़े– "यह अच्छी बात नहीं है। बहुत सारी सीटें खाली हैं। आप कहीं भी बैठ लो।" कांट्रैक्टर का रोबीलापन तनिक झरा–बरा। बस में कुछ लोग जिन्होंने उस युवती के प्रति कांट्रैक्टर के हाव–भाव और छेड़छाड़ को देखा, अपनी सीट से उठ खड़े हुए। वे एक स्वर में बोल पड़े – "उठाओ इस आदमी को यहाँ से। अलग सीट पर बैठे।.... अब बर्दाश्त नहीं होगा। पिटने का काम कर रहा है।" कोई अप्रिय घटना न घटे, कंडक्टर सजग हो गया था। उसने अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए कांट्रैक्टर से कहा – "अलग सीट पर बैठिए। उठिए यहाँ से।" सामूहिक विरोध के चलते कांट्रैक्टर अपनी सीट से उठकर पास की खाली सीट पर जाकर बैठ गया। तैश में आकर उसने कहा कि "गलत कह रहे हो तुम लोग। युवती की ओर देखकर– "इसे तो कोई समस्या नहीं है। शांत बैठी है।" सत्य ने हस्तक्षेप किया–" हम लोग देख रहे हैं तुम्हारी हरकतें।.... जरा सी शर्म नहीं है तुम्हारे भीतर। उसे परेशान कर रहे हो। घटिया आदमी हो।"

बस अपनी गति से आगे बढ़ रही थी। आने वाले दो–तीन स्टॉप पर कुछ और सवारियाँ उतर गईं। अगला स्टॉप गोशाईंगंज आने में अभी देर थी। मुच्छड़ और उसके साथी को यहीं उतरना था। कांट्रैक्टर की वहशी नज़रें लगातार सुंदरी को देखे जा रही थीं। न चाहते हुए भी सुंदरी की निगाह उसकी आँखों से टकरा गई। झट से सुंदरी ने अपना मुँह खिड़की की ओर फेर लिया। मानो उसने कुछ देखा ही नहीं।

अगला स्टॉप गोशाईंगंज आने का संकेत कंडक्टर ने यात्रियों को दिया। वे अपना–अपना सामान सहेजने लगे थे। कांट्रैक्टर को यहीं उतरना था। उसकी नीयत में खोट था। उसके भीतर था वहशीपन जाग चुका था। वह सुंदरी की ओर लगातार घूरे जा रहा था। बस रुकी और एक झटके में कांट्रैक्टर ने सुंदरी की कलाई पकड़ ली और उसे सीट से खींचकर अपने साथ ले जाने लगा। उसका दुस्साहस देखकर बस के यात्री सहम गए। किसी बड़ी वारदात की आशंका को भाँपकर सभी यात्री घबरा गए। सत्य और स्वनिम आँखें मूँद नहीं सकते थे। दोनों कॉलेज में अध्यापक हैं। नैतकिता का तकाजा यह था कि लोग आगे बढ़कर उस गुंडे का विरोध करने का साहस दिखाए। सत्य और स्वनिम ने हिम्मत दिखाई। इस अप्रिय एवं अप्रत्याशित सिचुएशन को देखकर बस में बैठे कुछ और यात्री विरोध में खड़े हो गए। पहले तो कंडक्टर भी डरा–सहमा हुआ बैठा था। उसकी बोलती बंद हो गई थी। यात्रियों को

लगातार विरोध करते देखकर सुंदरी ने भी कुछ कहने की हिम्मत जुटाई। वह बोली– "यह ठीक नहीं है। मेरा हाथ छोड़ो। छोड़ मेरा हाथ। निकृष्ट! पतित!!" और उसकी हथेली की सख्त पकड़ से सुंदरी अपनी कलाई छुड़ाने का प्रयास करने लगी थी।

माहौल गरमाता देखकर बस चालक भी बोल उठा – "यह ठीक नहीं कर रहे हो। उस स्त्री की हालत पर तरस नहीं आता है। .... आगे पुलिस थाने पर बस रोकता हूँ।" और ड्राइवर ने बस आगे बढ़ा दी। पुलिस थाना पाँच–सात किलोमीटर दूर था। स्थिति की गंभीरता को भाँपकर बंदूकधारी मुच्छड़ ने अपने साथी को समझाने की कोशिश की। उसे लगा कि मारपीट की स्थिति बन सकती है। मुच्छड़ ने अपने साथी का हाथ पकड़ा और बस के गेट की ओर खींचकर ले जाने लगा। यह सारा घटनाक्रम देखकर बस में बैठा गाँव का एक नवयुवक मुच्छड़ के सामने आ डटा। "छोड़, छोड़ हाथ, छोड़ता है कि नहीं।" मुच्छड़ ने बंदूक की नली उसके सीने पर तान दी थी, इस जोखिम भरी स्थिति को देखकर कुछ यात्री पीछे हट गए थे। सत्य और स्वनिम ने मुच्छड़ के दोनों हाथ पीछे से कसकर जकड़ लिया। यात्री एक स्वर में चिल्ला उठे– "मारो, मारो, मारो।... पकड़ लो, पकड़ लो।" स्वनिम और सत्य को सभी का साथ मिल गया। सामूहिक विरोध बढ़ता देखकर कांट्रैक्टर डर गया। वह सारी हेकड़ी भूल गया। उसे अंदाजा नहीं था कि इन मरियल से दिख रहे लोगों में इतना जोश होगा कि उनके ज़िगर में उबाल आ जाएगा। उनमें एकजुटता हो जाएगी। यहीं पर वह धोखा खा गया। जिंदगी किसे प्रिय नहीं होती। यात्रियों की सामूहिक आक्रामकता देखकर उसने सुंदरी की कलाई छोड़ दी।

अपनी कलाई सहलाती हुई सुंदरी अपनी सीट के पास आकर खड़ी हो गई। वह बहुत घबरा गई थी। डर और सहम गई थी। अपने पक्ष में खड़े लोगों के साहस को देखकर उसके मन का ढाँढ़स बँधा। अपनी इज्जत बचने का भरोसा जाग गया था। उसके दिल की धड़कनें बढ़ गई थीं। उसे लगा कि उससे गलती हुई जो वह अकेली घर से निकल आई और वह भी रात के वक्त। ... पर यह कदम उठाने के लिए विवश हुई थी। सुंदरी के पास मोबाइल भी नहीं था कि वह अपने परिवार या किसी परिचित व्यक्ति को फोन कर देती।

अचानक सुंदरी के भीतर दबा–सहमा क्रोध का लावा फूट पड़ा– "नीच, कमीने, तेरे घर में बहू–बेटी नहीं है। एक अकेली, बेबस और लाचार औरत को क्या समझ लिया है? ... कायर।" ड्राइवर ने बस रोक दी। मुच्छड़ और उसके साथी को बस से लगभग धकेलकर उतार दिया गया। ड्राइवर ने बस आगे बढ़ा दी।

इस अप्रत्याशित घटना को लेकर सभी यात्री क्षुब्ध और चिंतित थे। रात्रि में एक युवती का अकेले सफर करने को लेकर चिंतित होना स्वाभाविक था। बस में बहुत देर तक यात्री इस घटना पर बतियाते रहे। सत्य ने सुंदरी से पूछा "फैजाबाद के किस मुहल्ले में जाना है?"

"सोहावल के पास गाँव है। मेरा मायका।" सुंदरी ने बताया।

स्वनिम और सत्य का माथा ठनका कि बात गंभीर है। उस युवती का अकेले यात्रा करने का कारण क्या हो सकता है? यह जानने के लिए वे दोनों बहुत उत्सुक नजर आए।

"इतनी रात में? और अकेले? ऐसी हालत में। एक स्त्री का अकेले घर से बाहर निकलना खतरों से खाली नहीं है। ... फिर भी तुम ...?" स्वनिम ने चिंता भरे लहजे में कहा था।

सत्य ने पूछा – "डर नहीं लगा अकेले यात्रा करने में।" वह चुप हो गई थी। कई बार पूछने पर भी उसने उत्तर नहीं दिया।

"ससुराल कहाँ है तुम्हारी? अभी कहाँ से आ रही हो तुम?" स्वनिम ने पूछा। सुंदरी ने बताया– "आजमगढ़, पास के गाँव में मेरी ससुराल है।

स्वनिम और सत्य को लगा कि हमें उस अपरिचित युवती से उसकी निजी जिंदगी के बारे में पूछताछ करने का क्या नैतिक अधिकार है ? ... किसी स्त्री को विषम परिस्थिति में देखकर उसके प्रति अतिरिक्त सहानुभूति होना पुरुष का फ़र्ज़ है। मानवीयता भी यही है। पीछे की सीट पर बैठा हुआ एक अधेड़ व्यक्ति सारी बातें गौर से सुन रहा था। उसने इस प्रकरण में हस्तक्षेप किया और सुंदरी से पूछा, "बेटी! बरसात की इस रात में तुम अकेले सोहावल कैसे जाओगी? शहर से 30–35 किलोमीटर दूर है सोहावल। यह बस तो फैजाबाद बस स्टैंड तक ही जाएगी।" उस बूढ़े की बातें सुनकर सुंदरी तनिक घबराई। उसके चेहरे और पूछने के अंदाज़ से उसकी परेशानी स्पष्ट झलक रही थी।

स्वनिम ने पूछा, "ऐसी क्या मजबूरी थी कि तुमको रात में निकलना पड़ा? "सुंदरी को काटो खून नहीं। वह कुछ नहीं कह पाई। उसने अपने भीतर साहस बटोरा और दुखी मन से अपने साथ हुई घटना सुनाई। "वह एक गरीब परिवार की बहू है, जाति से निम्नवर्ग की है। उसका मर्द मुंबई कमाने के लिए गया है। हर माह अपनी माँ को रुपये भेजता है। घर में सासु है, ननद और देवर हैं। ससुर कोरोना में मर गए। शादी के कुछ ही महीने हुए थे। उसे कलंकिनी कहा गया। अपशकुन माना गया। धीरे–धीरे उसकी उपेक्षा होने लगी, वह सताइ जाने लगी, हाड़तोड़ काम लिया जाने लगा।... आज बरसते पानी में सासु और देवर ने घर से निकाल दिया।.... गाँव में पड़ोस के किसी परिवार ने सहारा नहीं दिया। अपनी यह व्यथा–कथा कहते हुए उसकी आँखें डबडबा गई थीं। स्वनिम और सत्य भी दुखी हुए। उन्होंने सुंदरी को धैर्य बँधाया। कोर्ट कचहरी की बातें उसके पल्ले नहीं पड़तीं, इसलिए वे चुप रह गए।

सत्य और स्वनिम के आगे–पीछे बैठे हुए यात्रियों ने सुंदरी से हुई बातें ध्यान से सुनीं। उनका मन बहुत उद्विग्न हो उठा था। कोई मशविरा देने की स्थिति में नहीं थे वे दोनों।

बस रात के सन्नाटे को भेदती हुई आगे बढ़ रही थी। बस के भीतर ही नहीं, आदमियों के मन के भीतर भी गहन सन्नाटा पसर गया था। सामने से आ रही बसों व ट्रकों की तीखी रौशनी और उसकी आवाजें यात्रियों के मन को उचाट कर रही थीं। अमूमन हर यात्री के मन में सिर्फ एक ही प्रश्न गूँज रहा था–

"आखिर इस युवती को घर क्यों छोड़ना पड़ा है ? जबकि वह माँ बनने वाली है। कुछ बुरा हो जाए तो जीवन भर का दुख और अपमान। एक स्त्री के लिए आबरू से बढ़कर क्या है?"

बस में सुंदरी के पीछे वाली सीट पर बैठे एक अधेड़ वय के सज्जन व्यक्ति ने कहा– "देखो बेटी! तुम्हारी समस्या बड़ी है। कोई हल हमारे पास नहीं है। इस वक्त हम लोग तुम्हारे साथ हैं। फ़िक्र मत करो।.... आगे अपने माता–पिता से समझना। उचित उपाय वे अवश्य बताएँगे।... हाँ, मेरी एक सलाह पर विचार कर लेना कि तुम पति को अपने विश्वास में जरूर ले लेना, आँखें मूंदकर नहीं, सजगतापूर्वक।"

सत्य ने कहा– "यह वक्त बहुत नाज़ुक है तुम्हारे लिए। मायके पहुँचना बहुत जरूरी है। फिलहाल चिंता मत करो। एक बड़ा संकट टल गया है।.... भरोसा करो हम सभी पर। तुम्हें घर पहुँचा दिया जाएगा।।"

कंडक्टर ने फैजाबाद आने का संकेत किया। बस रुकी। सभी यात्री बस से उतरकर अपने गंतव्य की ओर चले गए।

सत्य और स्वनिम बस से उतरकर सड़क के किनारे फ़ुटपाथ पर खड़े होकर बतियाने लगे थे। वे इस बात को लेकर विचार करने लगे थे कि आधी रात इस युवती को अकेले इस शहर में छोड़ा नहीं जा सकता? उन्होंने उस अधेड़ व्यक्ति को रोका जो बस से उनके साथ वहीं उतरा था। बातचीत में पुलिस थाने की मदद लेने की बात भी सामने आई। सत्य और स्वनिम ने पुलिस विभाग के मुद्दे पर अपनी असहमति व्यक्त की और कहा – "पुलिस में जाने से हम लोगों को भी इनवॉल्व होना पड़ेगा। पुलिस का क्या भरोसा? ... अकेली औरत ... "सुंदरी को उस अधेड़ व्यक्ति के घर में रात बितानी होगी, यही निर्णय हुआ। बातचीत में वह एक जिम्मेदार नागरिक ठहरा और इसी शहर का रहने वाला सेठ है।... तय हुआ कि सुंदरी आज की रात सेठ जी के घर में रुकेगी और सुबह सोहावल जाने वाली सरकारी बस पर उसे बिठा दिया जाएगा। सत्य और स्वनिम सेठ के घर तक गए और पूरी तरह आश्वस्त होकर अपने घर लौट आए।

रात के एक बज चुके थे। स्वनिम की नींद उचट गई थी। तमाम तरह के विचारों ने उसके मन की बाड़ेबंदी कर ली थी। अंतिम विचार यह कि "सुबह होते ही सुंदरी को उसके मायके जाने वाली बस पर बिठा देना है।" इसी उधेड़बुन के चलते स्वनिम को नींद नहीं आई। वह यह भी सोचने लगा था कि आखिर इस समाज में सुंदरी जैसी

कितनी स्त्रियाँ होंगी, जिनकी इज्जत– आबरू लुटने से बच जाती है। हर मोड़ पर औरत के लिए खतरा मौजूद है। समाज कितना भी पढ़ा –लिखा क्यों न हो जाए, स्त्री के प्रति कहीं न कहीं उसकी सोच आदिमयुगीन है। देह की भूख? पुरुष के भीतर का जानवर कब जाग जाएगा, कहा नहीं जा सकता। स्वनिम को कामवाली रामबाई की कही हुई बातें आज भी याद हैं– *कितने ही घरों में काम किया है और आज भी नए–नए घरों में काम के लिए जाना होता है। हर घर में एक घूरने वाला पुरुष अवश्य मिलता है। वह सारे दाँव–पेंच आजमाने का प्रयास करता है। जो किसी प्रलोभन में नहीं आया वह बच गया। राम जाने पुरुष कब सुधरेगा।* अपवाद को छोड़ दें तो औरत की इज्जत हर वक्त दाँव पर होती है। यही सोचते–विचारते हुए स्वनिम को कब नींद लग गई, पता ही नहीं चला।

❑❑❑

संपर्क

आनंदप्रकाश त्रिपाठी– सीनियर प्रोफेसर, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी एवं संस्कृत विभाग, डाक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर – 470003 (मध्यप्रदेश) मो : 9425656284

'सौजन्य से'– गोपाल कृष्ण यादव

तमिल कहानी

बोनी

कहानीकार : शिवशंकरी*

अनुवाद : जमुना कृष्णराज**

मिट्टी का तेल खत्म हुए चार दिन हो गए। गैस का सिलेंडर भी डरा रहा था कि अभी खाली हो जाएगा। केरोसिन भी नहीं खरीदा, गैस भी खत्म हो जाए और मेहमान भी आ जाए तो कुछ पूछना मत—कल रविवार भी है।

वैसे तो वह हर रोज माली को साइकिल से बाजार भेज आवश्यक चीजें मँगवाती। पर उसने तो अपने जीजाजी की तबीयत खराब बताकर दो दिन की छुट्टी ले ली पर अब एक हफ्ते के बाद भी उसका कोई नामो—निशान नहीं! ड्राइवर को बुलाया और टीन सहित कार में खुद निकल पड़ी। वैसे बाजार की उन गलियारों में घुसना उसका उतना पसंदीदा विषय नहीं था।

उफ! कैसे लोग हैं ये!सौ—सौ और हज़ारों की तादाद में! हर जगह भीड़ ही भीड़! कतार ही कतार! प्रत्येक दुकान के सामने मानो मानव की भीड़ का उफान! कुछ लोग अपने काम में व्यस्त और कुछ बेकार ही अपनी फुर्सत का समय गपशप में बिताते हुए! कार से उस गली में घुसना हमेशा बहुत ही मुश्किल काम रहा है। तरकारी, नारियल आदि उतारती लॉरियाँ, ठेले, साइकिल रिक्शे, साइकिल, पदयात्री, कुली—सब दिन—रात ऊपर—नीचे आते—जाते इस गली को भर देते हैं। वास्तव में यह गली इकतरफा यानि वन वे ट्रैफिक वाली गली है। उस गली में मछली बाजार और तरकारी बाजार आस—पास ही हैं। सब्जी या फल खरीदने आते शाकाहारी अपनी नाक बंद कर के ही अंदर प्रवेश कर सकते हैं। प्लेटफॉर्म न के बराबर है और उस गली के दोनों ओर दुकानों की कतार है।

चना, मूँगफली, चावल के ढेर वाली दुकानें, नारियल की मंडी, तंबाकू, सुपारी की दुकान, गुड़ की मंडी—जैसी अनेक दुकानों के बीच एक कॉफी क्लब भी है।

---

* तमिल साहित्य की प्रतिष्ठित लेखिका एवं सामाजिक कार्यकर्ता, आत्मकथा—'सूर्यवंशम'।

** लेखिका एवं अनुवादक। प्रमुख कृतियाँ— 'शब्द संगम', मानव की खोज, 'मन की झंकार' आदि प्रकाशित।

सब्जी मंडी को पार कर किसी तरह खाली जगह ढूँढ चालक ने कार पार्क की। ''टीन ले जाना और उस दुकान से एक टीन मिट्‌टी का तेल खरीद लाना'' उसने अपने ड्राइवर को हिदायत दी।

वह निकल पड़ा।

मिट्‌टी के तेल की दुकान में उसने देखा कि भीड़ जमी हुई है। ड्राइवर के लौट आने में कम से कम पंद्रह मिनट तो लगेंगे ही। सुबह की धूप पिछले शीशे से बड़ी तीव्रता से उसकी पीठ पर आ लगी। कटहल का मौसम शुरू हो चुका था इसलिए मक्खियाँ खूब जम गई थीं और वह उनसे तंग आ चुकी थी। पिछली सीट पर आराम करते हुए उसने अपनी आँखें दौड़ाईं। उसके बिल्कुल सामने केले की मंडी थी जिसमें हरे–भरे केलों के गुच्छे कतार में सजे हुए थे। पके फलों को एक ओर सजा रहे थे। अधिक पके फलों को या सड़े फलों को खरीदने के इरादे से एक टोकरी वाली आकर सौदेबाजी कर रही थी। सड़े हुए फलों पर मक्खियों की भरमार थी।

इतने सड़े फलों को ले जाकर कैसे बेचेगी यह बुढ़िया?

पास वाली चने की दुकान से चना खरीदकर खाते लोगों द्वारा फेंके गए खराब चनों को नीचे से उठाकर खाते नंगे और नाक से बलगम बहनेवाले बच्चे।

एक बैलगाड़ी सामने सड़क पर आ रुकी। कतार में साइकिलों के खड़े होने की वजह से वह आगे न बढ़ सकी।

''हाइ,हाइ,ट्रू ट्रू'' कहता हुआ वह चालक हर आगंतुक से विनती करने लगा,''जरा साइकिलों को हटा दो न!' 'पर उन सबने अनसुनी कर दी तो वह खुद उतर आया और एक–एक कर साइकिल को रास्ते से हटाने लगा।

इस ओर सामान उतारकर निकलते लॉरी ड्राइवर को इस बीच खूब जल्दी–बाजी थी। वह लगातार हॉर्न बजाने लगा, पॉम, पॉम। 'अरे गाड़ी निकाल भई!' की उसकी चिल्लाहट से उसे सिरदर्द होने लगा।

''अरे गाड़ीवाले! बीच सड़क पर गाड़ी रोके हो? निकालो इसे!'' खिड़की से बाहर झाँककर वह फिर चिल्लाने और शोर मचाने लगा।

''क्या सिर्फ तुझे जल्दी–बाजी है? मुझे भी तो है! बीच रास्ते पर कमीनों ने अपनी साइकिल खड़ी कर रखी है!''गंदी गाली देते हुए बैलगाड़ीवाले ने रास्ता बनाकर अपनी गाड़ी आगे चलाई। लॉरी भी निकल पड़ी।

''धत् कैसी भीड़! कैसी हलचल!'' वह पसीने से तर थी और इस कसमसाहट से उसकी बेचैनी और बढ़ गई।

क्या कर रहा है ड्राइवर? उसने मुड़कर देखा। दुकान में वह बड़े चाव से बातें कर रहा था। उसने जोर से कार का हॉर्न बजाया।

ड्राइवर आया।

''क्यों भई इतनी देर कर दी?''

''कल का स्टॉक खत्म हो गया। आज नया आया है। निकालकर दे रहे हैं... भीड़ जमी है..''

''अच्छा,. ठीक है..जल्दी आना, यहाँ मेरा दम घुट रहा है!''

वह दुबारा गया।

उसने अपनी बाईं तरफ नजर दौड़ाई।

कॉफी क्लब, तंबाकू मंडी, गुड़ की मंडी। गुड़ की मंडी के बाहर काले गुड़ के खंडों का भंडार।

इस ओर सफेद लहसुन को नीचे डाल हिस्सों में बाँधकर बेच रहे थे दो लोग। चूँकि पुरुष व्यापार सँभाल रहा था, महिला लहसुन को छान—साफकर हिस्सों में बाँध रही थी। हवा के झोंके से लहसुन के छिलके उड़ते हुए खिड़की से उसकी गोदी में आ गिरे। तंबाकू की बदबू भी साथ आई!

उसने खिड़की बंद की।

उसी समय वह महिला अपनी टोकरी सहित उसकी गाड़ी के समीप आ बैठी। दरवाजा खोला तो उस पर जरूर टकराएगा। उतने करीब आ बैठी हुई थी। गोबर से लेपन की हुई अपनी टोकरी को उसने बोरी से बंद करके रखा हुआ था।

कुछ बड़बड़ाती हुई उस बोरी को फर्श पर बिछाने लगी। अपनी टोकरी से अमरूद के फलों को उस पर उड़ेलकर बड़े और छोटे फलों को छाँटने लगी।

देसी फल कुछ लंबे और हरे थे। वे अब तक पके नहीं थे।

उस औरत की उम्र क्या होगी? वह भाँप न सकी। मैला और दुबला शरीर। बेरंग साड़ी। चोली पहने हुए बदन। समेट कर बाँधे हुए भूरे रंग के बाल। नाक में लाल पत्थर वाला पीतल का नथुना। गले में पीले से काला बन चुका मंगलसूत्र। मुँह में पान।

''सुबह से तंग करता यह शनीचर! उठकर जल्द ही काम पर निकलता तो बेहतर...न खुद निकलेगा न मुझे ही जाने देगा। फलों को जल्दी खरीद लाकर दुकान खोलते तो बिकते। अब धूप लगने लगी है... शायद ही इनकी बिक्री हो!'' अब अमरूद वाली की बातें उसे स्पष्ट सुनाई दीं।

''क्या आंडालू, आज अमरूद लाई हो ? तुम तो कच्चे नारियल ले आने की बात बता रही थीं! क्या हुआ?''

तंबाकू मंडी से एक लड़के ने उससे बातें करने की चेष्टा की।

''हाय! मैं कच्चे नारियल की बिक्री खाक करूँगी! कल उसने मेरे सारे पैसे छीन लिए और पी आया। सुबह खूब झगड़ा हुआ। मैं कैसे कच्चे नारियल खरीदती! पैसे नहीं चाहिए क्या?''

''तो इसका मतलब तुम मेरे पैसे आज भी नहीं लौटानेवाली?''

अमरूदवाली चुप रही।

तो इसने उससे उधार लिए हैं क्या?

''अच्छा, अच्छा.. दो फल दे दो, मुझे जाना है!''

''अब तक बोनी नहीं हुई है! तुम अपनी दुकान जाओ। मैं वहाँ ला देती हूँ....।''

"अरे क्यों टाल–मटोल करती हो? मेरे पैसे लौटा दो, मैं चलता हूँ..''

अपने अटक जाने की स्थिति समझते ही फलवाली ने दो फल उठाकर उसके हाथ में डाले।

अपने नाखून से वह फल तोड़कर चखने लगा। अंदर लाल रंग का था।

''ये पकड़ तंबाकू....''उठ निकलने के पहले उसने एक तिनका–सा तंबाकू उसकी गोदी में गिराया और चल पड़ा।

उसके निकल जाने के बाद वह बड़बड़ाई।

"बड़ा आया तंबाकू देनेवाला! एक दमड़ी के दाम का भी नहीं पर बीस पैसे के अमरूद खा गया! थू ! धिक्कार है! अब तक बोनी भी नहीं हुई पर इसकी हो गई! इसको दस्त लगे!'' उसने जोर से थूका।

ड्राइवर आ गया। डिक्की में टीन रख वह आगे चढ़ने लगा।

तब अचानक उसकी उत्सुकता बढ़ी और वह जानना चाहती थी कि वह अमरूदवाली बोनी किसको कर रही है।

''घर में अंडे नहीं हैं। जरा छह अंडे ले आना....'' उसने ड्राइवर को दुबारा भेजा।

तब तक अमरूदवाली ने अपनी दुकान को सही ढँग से सजाकर रख लिया था।

एक बूढ़ा आया। साथ ही.. पोता? ''दादा जी...अमरूद!'' वह विनती करने लगा तो वह बूढ़ा बैठकर फलवाली से सौदा करने लगा।

''ताड़ के पत्ते में बँधे फल..रुपए के छह! एक ही दाम!'' उसने बड़ी सख्ती से बताया।

''हर जगह दस दे रहे हैं और तुम क्यों..?''

''तब तुम वहीं जाकर खरीद लो! यहाँ तो बस एक ही दाम..सात आएँगे!''

उस बूढ़े ने नौ फल उठाकर अपनी थैली में डाल लिए और एक रुपया थमाया।

फलवाली को बहुत गुस्सा आया। मैं सात बता रही हूँ और तुम नौ क्यों उठा रहे हो? डाल दो वापस! उसने उसकी थैली पकड़ी।

''अरे जा..जा..! तुम्हारे फल नहीं तो क्या हमें और कहीं नहीं मिलेंगे? चल बेटा!''गुस्से में उसने सारे फल पटक दिए और निकल गया।

बोनी होने के पहले ही ऐसे अपशकुन–वाली बातों फलवाली के मन में चिड़चिड़ाहट पैदा कर दी।

तभी अंडों के साथ ड्राइवर आ पहुँचा।

''बोनी करने की हैसियत न रखनेवाले सब मेरी दुकान पर आकर मुझे ही अपमानित कर रहे हैं!'' वह पूरे आक्रोश में चिल्ला रही थी तो एक युवक उसके पास आ खड़ा हुआ।

तो बोनी होने वाली है? ड्राइवर को किस बहाने रोके रखूँ?

''बताया था कि हरी मिर्च और अदरक नहीं है। बीस पैसे के ले आना!''

कुछ न कुछ याद करते हुए उसके इस तरह बार–बार भेजने पर ड्राइवर के मन में खीज उत्पन्न हुई और उसने खोले दरवाजे को बड़े जोर से बंद किया और चल पड़ा।

''माँजी! फल के दाम कैसे?''

फलवाली का गुस्सा तब तक नहीं उतरा था। ''रुपए के छह! चाहिए तो छूना!''

''क्या आठ आएँगे?''पूछते–पूछते वह जब उन फलों को छूने लगा तो वह चिल्लाने लगी।

''छूना मत! दाम पूछते हैं, फिर फलों को पलटने लगते हैं और अंत में बिना खरीदे निकल जाते हैं। पहले पैसा देना फिर फल छूना! अब तक बोनी भी नहीं हुई है। जब मैं कहती हूँ मत छूना तब तुम्हें यह बात समझ में नहीं आती?''

बड़े शौक से ड्रेस कर शिक्षित–से लग रहे उस युवक को ऐसा लगा जैसे किसी ने उसके मुँह पर चपत मार दी हो। "जरा सँभल के बोलो। क्या मैं बिना पैसे दिए फल उठानेवाला हूँ? अमर्यादित शब्द मुझसे न बोलना! हाँ!'' हाथ झोंककर वह उठा और चल पड़ा।

यह सौदा भी हाथ से निकल गया। यह कब बोनी करेगी और कब तक सब फल बेच सकेगी?

उसे उस फलवाली पर दया आई।

हरी मिर्च खरीद कर लोने के बाद ड्राइवर ने उससे कोई बात नहीं की और अपनी सीट पर बैठते हुए पूछा,''घर ही जाना है न?'' और उसने गाड़ी स्टार्ट कर दी।

टोकरीवाली किसी को गाली दे रही थी, ''बेइमान! रास्कल!'' और ये शब्द उसके कानों में पड़ रहे थे।

किसे गाली दे रही है?

अपने पियक्कड़ पति को?

पैसे उधार दिए उस तंबाकूवाले को?

बोनी न कर निकल जानेवाले लोगों को?

उस टोकरीवाली की बोनी कब होगी–यह चिंता उसके मन को सताने लगी।

❑❑❑

संपर्क

शिवशंकरी– V. Rani Meyyammai Tower Sathyadev Avenue Raja Annamalaipuram, Chennai-600028 Email- jibuchandra@gmail.com

जमुना कृष्णराज– कृष्ण कृपा, प्लॉट नं. 74, टेलिफोन नगर मेइन रोड पेरुगुंडी, चेन्नई– 600096, ईमेलः jamunakrishnaraj@gmail.com मो.– 9444400820

ओडिया कहानी

अद्र्धांगिनी

कहानीकार– सदानन्द त्रिपाठी, *
अनुवाद– भगवान त्रिपाठी**

अगस्त बाईस तारीख को पत्नी दमयंती का पहला वार्षिक श्राद्ध–दिन था। दो महीने पहले से ही योजना और आयोजन में गजानन लगे हुए थे। प्राणों से भी ज्यादा प्रिय थीं पतिव्रता दमयंती। वे कहती थीं, गजानन उनके आराध्य देवता हैं। गजानन को बराबर लग रहा था कि सारा जीवन ढेर सारी अवहेलनाओं का सामना करते हुए भी इस तरह सोचनेवाली दमयंती ही महान हैं। ऐसा कहना उनका बड़प्पन है।

मृत्यु के बाद पत्नी के देवीपन के कई उदाहरण उनकी स्मृति में झिलमिलाने लगते हैं। उनके फोटो के पास वे रोज धूप देते हैं। फोटो को फूलों से सजाते हैं। जब वे जीवित थीं, तब उनकी ओर इतना ध्यान कभी भी दे नहीं पाए थे। पति के हिसाब से अपने धर्म पालन में भी उन्होंने काफी अवहेलना की है। एक विख्यात शिक्षक और एक अच्छे वक्ता के रूप में समाज, शहर और संसार में अपनी कीर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें गहरे अध्ययन की आवश्यकता थी; नशा भी। दोनों बेटों को अच्छे इनसान के रूप में तैयार करना उनका उद्देश्य था। ज्ञानी और बड़ा आदमी बनाना भी। बेटी को चरित्रवान बनाना और ऊँची शिक्षा दिलवाना और एक सुयोग्य व्यक्ति के साथ विवाह करना भी उनका उद्देश्य था।

सारी इच्छाएँ जब पूरी हुईं, तब तक सेवा–निवृत्त होने का समय नजदीक आ गया। विवाह के बाद दो साल हो गए, बेटी अपने डॉक्टर पति के साथ है। आई. आई. टी से पास होने वाले दोनों इंजीनियर बेटे अमेरिका में हैं। बड़े को चार साल हो गए और छोटा अभी साल भर पहले ही गया है। बड़ा विवाहित है और छोटे का विवाह नहीं हुआ है।

घर में सिर्फ गजानन और दमयंती हैं। इतने बड़े मकान में सिर्फ दो आदमी। छोटे बेटे के अमेरिका जाने से साल भर पहले कंपनी के क्वार्टर्स को छोड़कर वे अपने

*ओडिया के प्रसिद्ध कहानीकार। 17 कहानी–संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित।
**चार कविता–संग्रह, सात कहानी संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित।

घर चले आए थे। दो हजार चार सौ वर्गफुट की जमीन पर बना हुआ बारह सौ बत्तीस वर्गफुट का चार कमरे वाला मकान, बेटे के चले जाने के बाद सूना–सूना लगने लगा। फिर उसके अमेरिका जाने के एक साल पहले ही दमयंती की अचानक मृत्यु हो गई है।

दमयंती जब उन्हें अकेला छोड़कर चली गई, तब उनकी नौकरी थी। दमयंती के पहले वार्षिक श्राद्ध–दिन के चार महीने इक्कीस दिन पहले वे सेवा–निवृत्त हुए। गजानन इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड द्वारा परिचालित उच्च अंगरेजी विद्यालय में प्रधान शिक्षक थे। शहर में उस तरह के पाँच हाईस्कूल थे और कुछ माध्यमिक अंगरेजी विद्यालय भी थे। माध्यमिक अंगरेजी विद्यालय में एक शिक्षक के रूप में उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। बाद में हाईस्कूल के शिक्षक, मध्य अंगरेजी विद्यालय के प्रधान शिक्षक के रूप में उन्होंने विद्यालयों में निष्ठा के साथ अपनी जिम्मेदारी निभाई। उनका पांडित्य था अगाध और अनुशासन था कठोर। तेजवंत प्राज्ञ पुरुष थे। किसी की त्रुटि अज्ञानता या कर्त्तव्य में अवहेलना देखते ही वे आगबबूला हो उठते थे। सहायक शिक्षक उनके ज्ञान की अत्यधिक प्रशंसा करते थे और सामने जाने से डरते भी थे।

गजानन को आशा नहीं थी कि उनकी पत्नी के निधन की खबर पाकर इतनी संख्या में शिक्षक उनके घर पर उपस्थित होंगे। ओड़िया माध्यम के विद्यालयों में शिक्षा का मान जिस तरह घट रहा था, उससे हमेशा चिंतित रहने वाले गजानन बाबू ने शिक्षा के स्तर में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए जिस प्रकार की कठोर नीति अपनाई थी, उससे सकते में आए हुए शिक्षक उनके दुर्दिन में आकर साथ खड़े होंगे, इसका विश्वास उन्हें नहीं था। उन्होंने मन–ही–मन स्वीकार किया था कि वास्तव में शिक्षक सुसभ्य और शिक्षित हैं। अपनी आजीविका को ध्यान में रखते हुए समुचित ज्ञान आहरण करने के आग्रह से धीरे–धीरे दूर चले जाते हुए भी, किसी अलंघनीय कारण से पवित्र दायित्व में कभी–कभी अवहेलना करने के बाद भी, वे मूर्ख नहीं हैं। तलवार के नीचे बैठे हुए डेमोक्लिस के समान प्रधान शिक्षक और हतभाग्य गजानन के बीच के अंतर को इसीलिए समझ गए हैं।

दमयंती के शरीर के शांत हो जाने के फौरन बाद गजानन ने फोन से दोनों बेटों और बेटी को खबर दी थी। बड़ा बेटा सातवें दिन पहुँचा। नौवें दिन बेटी। छोटा बेटा आ ही नहीं पाया। कइयों ने गजानन से पूछा था कि वह कैसे नहीं आया, कैसे रुक गया। यह कहते हुए कुछ लोगों ने खेद प्रकट किया कि बेटी और दामाद आए, लेकिन बेटा नहीं आ सका। गजानन ने कहा था– नया–नया गया है न। साल भर भी हुआ नहीं, कोई कहेगा कि घर जाने के लिए बेचैन है, या फिर नौकरी की शर्तों में वैसी व्यवस्था शायद न हो। उतनी दिक्कत नहीं होती तो क्या वह बिना आए रुक पाता!

गजानन के इस भयंकर दुख में भी पंडित दिवाकर शर्मा ने उनके घाव पर नमक छिड़क दिया– विश्वास करने के लायक कैफियत आपने दी है प्रधान शिक्षक महोदय!

लेकिन आपको क्या नहीं लगता कि आजकल के बच्चे माँ—बाप के लिए भी समय देने को उत्सुक नहीं है। हमारी पीढ़ी का दायित्व—बोध अलग था। हम समय दे रहे थे। उनका सारा काम करते थे, हर तरह की देखभाल करते थे। अब तो जिसे देखो, अमेरिका चला जाता है। आजीविका में सीढ़ी चढ़ने का नशा, ज्यादा डॉलर कमाने का मोह ही उनके लिए चिंता का विषय है। दौड़ ही उनके लिए सत्य है तथा जगत और संसार मिथ्या।

गजानन तनिक आहत हुए थे। पंडित महाशय के आक्षेप का स्रोत कहाँ है, उसे वे समझ नहीं पा रहे थे। इसलिए बात का खंडन नहीं किया। असंतोष भी व्यक्त नहीं किया। लेकिन हाल ही में पत्नी से बिछुड़े हुए एक बेचारे को उसी के घर में प्रधान शिक्षक कहकर आडंबर के साथ संबोधन करने की मानसिकता को वे पचा नहीं सके।

पत्नी के पहले वार्षिक श्राद्ध तक एक भी दिन नहीं बीता था जब उन्होंने दमयंती को याद नहीं किया हो और पंडित दिवाकर शर्मा के संबोधन और आक्षेप उन्हें याद न आए हों।

छह महीने पहले ही गजानन ने फोन से दोनों बेटों और दामाद को सूचित कर दिया था। बाईस अगस्त के दिन माँ का पहला वार्षिक—श्राद्ध है। सभी को आना होगा। अबकी बार आने के बाद, अगले साल से आने वाली श्राद्ध—तिथियों में आ सके तो अच्छा है, न आ सके तो भी चलेगा। सिर्फ माँ के श्राद्ध के दिन, बाहर कहीं कुछ न खाकर; माँस, मछली, प्याज, लहसुन बिना खाए यदि तनिक निष्ठा से रह गए तो पर्याप्त है।

उनके बेटे अवज्ञाकारी नहीं हैं। सभी आने के लिए राजी हो गए। गजानन आश्वस्त हुए। पर छोटे बेटे ने पूछा— यहाँ हमें पंचांग या कैलेंडर कहाँ से मिलेगा, जिससे जान पाएँगे कि हर साल श्रावण शुक्ल सप्तमी किस तारीख को पड़ती है? तारीख के अनुसार श्राद्ध—दिन मनाया जाता, तो सुविधा होती!

गजानन ने समझाया था— अरे मूर्ख! तिथि के अनुसार तारीख है या तारीख के अनुसार तिथि? फिर भारत और अमेरिका के बीच तारीख की कौन—सी समानता है? हमारे यहाँ दिन होता है तो तुम्हारे वहाँ रात। हम अपने हिसाब से चलेंगे। दोनों देशों के बीच इतनी सारी चीजों का आयात और निर्यात चल रहा है, एक कैलेंडर पहुँच नहीं पाएगा? मैं भिजवा दूँगा, ठीक है? फिर तिथि की तारीख के बारे में पहले से ही खबर करता रहूँगा। तुम लोगों को सिर्फ पालन करना है। बेटा बनकर पैदा हुआ है न!

बड़े बेटे ने भी तारीख वाला प्रसंग उठाया। उसने एक नई बात भी कही। अमेरिका में कोई भी अपने माँ—बाप का श्राद्ध—दिन नहीं मनाता है। काफी लोगों को वह तारीख भी याद नहीं रहती। तेज गति से बदलने वाली इस पृथ्वी में, व्यस्ततापूर्ण जीवन में, इतने संस्कारों को क्या माना जा सकता है। जो जितने दिनों के लिए इस

संसार में आया था, उतनी उम्र खत्म हो गई, वह चला गया। उसके लिए हृदय में अटूट श्रद्धा और सम्मान होना चाहिए। इस तरह, जीवन भर, झमेले में पड़ने की क्या जरूरत है? इंडिया में भी तो लोग एक बार गया में पिंडदान करके झमेले से निबट जाते हैं! फिर हर साल श्राद्ध के आयोजन की जरूरत नहीं पड़ती है।

बेटे ने बहुत ही नम्रता के साथ, समझाने की तरह कहा था। लेकिन उन्हें ऐसी पीड़ा हुई मानो किसी ने उनके हृदय पर तीर चला दिया हो। उन्हें ज्यादा पीड़ा हुई थी झमेला और इंडिया जैसे शब्दों से। माँ–बाप के श्राद्ध का पालन करना क्या एक झमेला है? फिर एक भारतीय के लिए? भारत नहीं इंडिया। इंडिया दैट इज भारत ? बड़े बेटे और बहू का तो अपनी माँ के श्राद्ध–दिन में शुद्ध–पूत होकर निष्ठा के साथ पिंडदान करना दायित्व है। मैं जब तक जीवित हूँ, महालया, पितृ–पक्ष के श्राद्ध और तर्पण के साथ तेरी माँ का श्राद्ध भी करता रहूँगा। मेरे जाने के बाद तुझे कुछ तो करना पड़ेगा। अमेरिका में रहते हो, इसलिए अपने संस्कार और परंपराओं को ठुकराने से अपना निजत्व रहेगा क्या? उस देश के अधिवासियों की बात अलग है। यहाँ तक कि वहाँ पैदा होने वाले बच्चों की बात भी अलग हो सकती है। लेकिन तुम कैसे अपनी सारी प्रथाओं की उपेक्षा कर सकते हो?

पत्नी के वार्षिक–श्राद्ध के लिए दो महीने पहले से ही योजना और आयोजन में गजानन लग गए थे। अकेले आदमी। सहायता पहुँचाने के लिए अंतरंग मित्र हैं। लेकिन काम भी कितना है?

श्राद्ध की तिथि आने में दो दिन बाकी थे। घर–घर जाकर उन्होंने आत्मीय–स्वजनों को आमंत्रित किया। उनकी कुटिया को उस दिन अपनी पद–रज से पावन बनाने का अनुरोध किया। निमंत्रित लोगों में से ज्यादातर शिक्षक थे।

श्राद्ध की तिथि के एक दिन पहले शाम को बेटी और दामाद पहुँच गए। दोनों बेटे नहीं आ सके। गजानन की छाती विदीर्ण हो उठी। उन्हें लगा जैसे उनकी सारी मेहनत पर पानी फिर गया हो। पहली बार उन्हें अनुभव हुआ कि किसी दूसरे की जिम्मेदारी सिर पर लेकर खामख्वाह परेशान हो रहे हैं। कोई भी कृतज्ञ नहीं है। वास्तव में, माया और मोह से भरा यह संसार झूठा है। दोनों बेटे कम–से–कम फोन तो कर सकते थे। और कुछ नहीं हुआ तो हतभाग बाप को, अकेले छोड़कर चले जाने वाली उनके सुख–दुख की संगिनी की पुण्यतिथि में, संवेदना तो जता सकते थे! जीने के लिए धैर्य और मनोबल दे सकते थे!

श्राद्ध के दिन सुबह के समय गजानन रो पड़े। बेटी आकर नजदीक बैठी। ढांढस बँधाया–धीरज रखिए, धीरज रखिए। इस तरह धीरज खोने से जीवन कैसे गुजारेंगे?

रसोइया सही समय पर आ पहुँचा। रसोई के लिए बड़े गैस सिलिंडर का इंतजाम हो चुका था। मकान का पूरा एक कमरा गजानन ने खाली कर दिया था।

उसी कमरे में रसोई का काम शुरू हुआ। बेटी ने रसोइए को सहायता पहुँचाई। गजानन भी सभी चीजों को समय पर दे रहे थे।

ज्यादा लोगों की रसोई के लिए वह कमरा पर्याप्त नहीं था। साठ लोगों के लिए रसोई बनेगी। फिर विभिन्न पकवान। बेटी ने प्रस्ताव दिया था और गजानन ने भी सोचा था कि पिछवाड़े में जो खाली जगह है, वहाँ रसोई बनती तो सहूलियत होती। लेकिन सावन का महीना है। लगातार बरसने वाला सावन। ऊपर तिरपाल जितना भी डाला जाए, पर मूसलाधार बरसात हुई, तो तमाम आयोजन पर पानी फिर जाएगा।

सावन का मल मास चल रहा था। उसमें से पहले के पूरे एक महीने और दूसरे महीने के पहले पखवाड़े के एक सप्ताह तक बरसात का नामोनिशान नहीं था। चारों तरफ अकाल पड़ने की बात फैलने लगी थी। सहसा शनिवार के दिन बरसात शुरू हो गई। अगले शनिवार तक, लगातार आठ दिन, रोज घनघोर वर्षा हुई। लगा कि जैसे बरसात थमेगी ही नहीं। सभी नदियों का जलस्तर बढ़ने लगा। खतरे के निशान के ऊपर जलस्तर आ गया। कहीं–कहीं बाढ़ भी आ गई। लेकिन आठ दिन के बाद थम गई। थम तो गई पर पूरी तरह खत्म नहीं हुई थी। दोपहर के बाद काले–काले बादल घमड़ने लगते थे। कुछ देर तक झमाझम बरसात होने के बाद बादल छँट जाते थे। फिर उमड़ने लगते थे। डर लगता था, मूसलाधार न बरसें। पर दूसरी दिशा में बह जाते थे। कभी धूप फैलने लगती थी, तो कभी छाँह। बादलों को धीरे–धीरे दूर ले जा रहा था मृदु पवन।

गजानन काफी याद कर रहे थे, दमयंती घर में किस तरह चलती–फिरती रहती थीं इधर से उधर। सिर्फ दो आदमियों के लिए काम भी कितना? लेकिन वे पलभर के लिए भी स्थिर होकर बैठती नहीं थीं। कर्म के प्रति उनकी तत्परता एक मधुमक्खी की तरह थी। कोई दूसरा काम नहीं होता, तो घर में कौन–सी–चीज कहाँ सजी हुई नहीं है, घूमते हुए देखतीं और उन्हें सजाकर रखतीं। या फिर मकान के सामने लगाए गए मकई के पौधों को निरातीं और गोड़ाई करतीं। परखतीं कि कौन–सी मकई खाने लायक हो गई है। उन्हें तोड़ लातीं। शाम को गजानन जब स्कूल से लौटते, तो उन्हें हीटर पर सावधानी से भूनकर खाने के लिए देतीं।

गजानन का मकई से काफी लगाव है। अपने घर आने से पहले कंपनी के क्वार्टर्स में खाली जगह पर मकई लगाते थे। यहाँ भी लगा रहे हैं। इस मकान में आने के बाद और दो साल जीवित रहीं दमयंती। पिछले साल मकई जब पकने लगीं, तो वे थीं। इस साल नहीं रहीं। पौधों में लगी ढेर सारी मकई पककर सख्त हो गई है। गजानन तोड़ नहीं पा रहे हैं। खुद मकई भूनकर खा नहीं पाते हैं। सुबह नींद से जागकर बाहर आते हैं, तो मकई के पौधों को देखकर उनकी आँखें छलछला उठती हैं। पौधों में लगी हुई मकइयों को वे हाथ से सहलाते। ढाड़ मारते हुए रोने की उनकी

इच्छा होती। पकी हुई मकइयों को तोड़ने के लिए उनके हाथ जाते ही नहीं। उन सबको वे दमयंती पर न्योछावर कर देते। क्या फिर कभी दमयंती आकर खड़ी होंगी? मकई की बगीची में, पौधों के झुरमुट में, क्या फिर कभी दिखाई पड़ेगा उनका दीप्ति से भरा चेहरा? यहाँ तक कि धुँधला–सा भी! कितनी जल्दी समाप्त हो जाता है जीवन। अभी हाल ही में तो सारी जिम्मेदारी समाप्त हुई थी। बेटी और बेटों ने अपनी–अपनी जीवन–यात्रा शुरू की थी अपनी–अपनी जगह। सिर्फ नौकरी से सेवा–निवृत्त होना ही तो बाकी था। फिर तो ढेर सारा समय था केवल गपशप के लिए। स्मृतियों में जीने के लिए। सफलता और विफलता के हिसाब–किताब के लिए। पास–पास बैठकर सुख–दुख को बाँटने के लिए इस समय ज्यादा जरूरत थी मित्रता की, साथ रहने की। गजानन पीड़ा से भर उठते। उम्र भी कितनी हुई थी दमयंती की। पचपन भी पूरा नहीं हुआ था। बच्चों की जिम्मेदारी खत्म हो गई, क्या इसीलिए वह इस तरह अचानक चली गईं?

क्या यह ठीक हुआ? सेवा– निवृत्ति के बाद के जीवन को लेकर गजानन ने कुछ योजनाएँ बनाई थीं। पति–पत्नी खूब गपशप करते। सारे शहर में खूब घूमते। सिनेमा देखते। पार्क में बैठते। रेस्तराँ में घंटों बैठकर किस्म–किस्म का खाना खाते। अलग–अलग प्रकार की साड़ियाँ दमयंती के लिए खरीदते। भारत के विभिन्न तीर्थ स्थान और ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण करते। एक बार जरूर विदेश जाते, बेटी और बेटों के पास। हवाई जहाज में दमयंती के साथ बैठते। दमयंती घूमते हुए देखतीं, चकाचौंध से घिरे अमेरिका का रूप।

–और सिर्फ पाँच साल नहीं जी सकती थीं तेरी माँ? मेरे पास न रहतीं, तो न सही। तू उसे लंदन लेकर चली जाती। वहाँ से वह चली जाती अमेरिका। मेरे पास न रहती तो क्या हुआ; होती तो! श्राद्ध के लिए पिंड परोसते समय गजानन ने बेटी से कहा।

उनकी आँखें छलछला उठीं। गला रुँध आया।

बेटी ने हाथ धोकर अपने आँचल से गजानन की आँखें पोंछ दीं। उन्हें अपनी बाँहों के सहारे ले जाकर चारपाई पर बिठा दिया। अपनी हूक को दबाते हुए कहा – पिताजी, आज जैसे दिन में आपको खुद तनिक नियंत्रण रखना निहायत जरूरी है। देखिए, सारा काम अभी बाकी है। श्राद्ध के मंत्र–पाठ के लिए पुरोहित आने वाले हैं। फिर धीरे–धीरे अतिथि भी आ जाएँगे।

गजानन ने टीस भरी आवाज में कहा– बिटिया, तू न आई होती, तो मैं किससे अपना दुख कहता? देख, तेरे दोनों भाई नहीं आए। इस पावन कार्य को उन्हें ही तो करना चाहिए था।

पुरोहित आ गए थे। उनके पीछे–पीछे जीतू आ पहुँचा। गजानन के छोटे बेटे का सहपाठी था जीतू। गजानन जब प्रधान शिक्षक थे, हाईस्कूल में उसने कंप्यूटर के

शिक्षक के रूप में कार्य आरंभ किया था। कहीं किसी सहायता की जरूरत पड़ जाए, इसलिए गजानन ने उसे सुबह दस बजे तक चले आने के लिए कहा था। फिर भी वह देर से आया था। पर दूसरे अतिथियों को अभी आने में देर थी। संयोग से उस दिन रविवार था। गजानन ने कुल मिलाकर इक्यावन लोगों को निमंत्रित किया था। उन्हें इसका पूर्ण विश्वास था कि सभी लोग आएँगे।

बेटी ने प्रस्ताव दिया जीतू से– तुम्हारे लिए थोड़ी–सी चाय बनाती हूँ।

जीतू ने आपत्ति किया – आज जैसे दिन पर ऐसी औपचारिकता क्यों? मैं तो घर का आदमी हूँ। काम करने के लिए आया हूँ। काम क्या–क्या हैं, मुझे बताओ।

बेटी ने कहा – नहीं भई, पहले जरा चाय पी लो। वे भी पीना चाह रहे थे। पिताजी को भी एक प्याली चाय की जरूरत है। क्यों पिताजी?

– हाँ, हाँ, जरा चाय बनाओ। काफी देर से थोड़ी–सी चाय पीने की इच्छा हो रही थी। गजानन ने सहमति प्रकट की।

दामाद सोने के कमरे में चारपाई पर बैठे हुए थे। बैठकखाने में जीतू और गजानन। बेटी चाय बनाने गई। गजानन ने जीतू से कहा। वैसे कोई खास काम नहीं है। बाहर का सारा काम तो कर दिया है। कहीं अचानक यदि किसी चीज की जरूरत पड़ी, तो दुकान जाना पड़ सकता है। यहाँ परोसने का इंतजाम करना है। तुम जरा परोसने में सहायता पहुँचाना।

चाय आ गई। चाय पीते समय जीतू ने सवाल किया – माँ की श्राद्ध–तिथि इतने दिनों के अंतर में, बाईस तारीख को कैसे पड़ रही है सर? पिछले साल अगस्त के महीने की चार तारीख को उनका स्वर्गवास हुआ था। मुझे इसलिए याद है, क्योंकि उस दिन शाम को उसी अस्पताल में मेरी बेटी पैदा हुई थी। मैं वहाँ उपस्थित था, सुबह आठ बजे माँ गुजर गईं। मुझे तो लगता है सर कि माँ की आत्मा मेरी बेटी के रूप में पैदा हुई है।

गजानन गद्गद हो उठे। उनके हाथ की प्याली और तश्तरी काँप उठी। उन्होंने उस प्याली और तश्तरी को हड़बड़ी में टीपॉट पर रख दिया। उत्सुकता भरी आवाज में जीतू से कहा – तुम्हें यदि ऐसा अनुभव हो रहा है, तो अवश्य ऐसा ही हुआ होगा। मेरा एक अनुरोध रखोगे जीतू बेटे! तुम अपनी बेटी का नाम दमयंती क्यों नहीं रखते? हालाँकि आजकल के बच्चों को यह नाम काफी पुराने जमाने का लगेगा। फिर भी, तुम रखोगे न? तुम्हारी बेटी तो मेरी नातिन है। मुझे एक बार बेटी को दिखाना। मैं बता सकता हूँ कि वह दयमंती है या नहीं।

जीतू ने वचन दिया– दिखाऊँगा सर, जरूर लाऊँगा आपके पास। उसका नाम भी दमयंती रखूँगा।

गजानन का मुँह खुला रह गया। वे इस तरह खाँसने लगे जैसे सीने में जमी हुई भाप को मुँह से छोड़ रहे हों। फिर भी न रुकने वाले आँसू को दिखाने से बचने

के लिए वे मुँह को ऊपर उठाकर छत की ओर देखने लगे और दोनों हाथों से मुँह को, माथे को सहलाने लगे।

आँचल से आँसू पोंछते हुए गजानन की बेटी सिर झुकाकर अंदर के कमरे की ओर चली गई।

फिर कुछ देर बाद, प्रकृतिस्थ होकर गजानन ने फिर जीतू से कहा– तुमने पूछा था कि दमयंती की श्राद्ध–तिथि इतनी देर से कैसे पड़ी। हमारे हिसाब से साल के तीन सौ साठ दिन हैं। अंग्रेजों के मतानुसार तीन सौ पैंसठ दिन। इसलिए तिथि को बल्कि पाँच दिन पहले पड़ना चाहिए था। पर इस साल सावन का मल मास है। मल मास की गिनती की पद्धति के बारे में तुम्हारी कुछ धारणा है?

जीतू ने अचकचाते हुए उत्तर दिया– नहीं सर! उस गहन विद्या में कौन घुसना चाहेगा? हमने अपनी बिटिया का जन्मदिन पिछली चार तारीख को मनाया। कुछ भी कहिए सर, सबसे आसान तारीख है।

तारीख आसान है! जीतू भी, भारत में रहकर, इस बात को कहता है? मल मास में बेटी का पहला वार्षिक जन्मदिन मना लिया! मल मास की शुक्ल सप्तमी में उन्होंने यदि दमयंती का श्राद्धोत्सव मनाया होता, तो क्या उन्हें पिंड प्राप्त होता? कदापि नहीं। आजकल के बच्चे इन रीति और संस्कारों को जानने की इच्छा क्यों नहीं रखते हैं? क्या इतना जानना इतनी गहरी बात है? अपनी सभी विशेषताओं को जलांजलि देकर पाश्चात्य रीति–नीति में विलीन हो जाने के लिए सभी हमेशा क्यों तत्पर हैं? गजानन का मन फीका पड़ गया। कुछ पल पहले दमयंती को याद करके वे जिस तरह छलछलाते आवेग के निर्मल–पवित्र जल में डुबकी लगा रहे थे, उस विरल प्रशांति से वंचित होने के क्षोभ ने उन्हें उदास कर डाला। ड्राइंग रूम से, जीतू के सामने से, उठकर वे चले गए मकई की बगीची में।

लगभग चार सौ वर्गफुट की खाली जगह में सिर्फ मकई के पौधे लगे हैं। ज्यादातर मकई कब से पककर सख्त हो गई हैं। वे मकइयों को छू–छूकर जा रहे थे। आकाश में धीरे–धीरे मेघ घनीभूत हो रहा था।

बेटी ने बाहर आकर बुलाया – पिताजी! आइए। पुरोहित बुला रहे हैं। श्राद्ध आरंभ करना है न!

उन्होंने बेटी से कहा – मुझे हमेशा ऐसा लगता है कि इसी मकई की बगीची में ही तेरी माँ हमेशा घूमती रहती है। मुझे देखते ही छिप जाती है। मैं जान पाता हूँ कि वह किस पौधे के पीछे छुप गई। लेकिन ढूँढ़ नहीं पाता हूँ। मैं फिर देखता हूँ। फिर खो बैठता हूँ।

बेटी ने उनके हाथ को थामा। घर के अंदर लाते समय विनती की – पिताजी, आप एक छोटे बच्चे की तरह बातचीत कर रहे हैं। यह आपके मन का भ्रम है। माँ

क्या अब लौटकर आ सकती है? उसे तो इस कठोर संसार से मुक्ति मिल गई है। अब आपको उसे भूल जाने की कोशिश करनी चाहिए।

बेटी, इस शरीर के रहते क्या उसे भुलाया जा सकता है? गजानन ने संदेह व्यक्त किया। बेटी की आँखों में आँखें डालते हुए कहा – मैं तो हर समय अपने आस–पास उसकी उपस्थिति को अनुभव कर रहा हूँ।

सबसे नजदीक का आदमी गुजर जाता है, तो वैसा ही लगता है। फिर भी वास्तविकता को स्वीकार करना होगा। यहाँ रहने से माँ की यादें हमेशा आपको विचलित करती रहेंगी। बल्कि मैं भैया से कहूँगी कि वह आपको अपने पास कुछ दिनों के लिए ले जाएगा।– बेटी ने अपना विचार व्यक्त किया।

गजानन व्याकुल हो उठे – ना, ना, मैं यहाँ से कहीं नहीं जाऊँगा। मैं भले ही उसे देख नहीं पा रहा हूँ, पर वह मुझे देख पा रही होगी। कहीं मैं डर न जाऊँ, इसलिए मेरे सामने आती नहीं है। भले ही न आए, जिससे उसे शांति मिलती है, वैसा ही करे। मैं यहाँ से चला जाऊँगा, तो वह बिलकुल अकेली नहीं हो जाएगी?

सोने के कमरे में आकर गजानन चारपाई पर बैठ गए। आशंका व्यक्त की – बादल उमड़ने लगे हैं। यदि अचानक बरसात हो जाती है, तो अतिथि आ पाएँगे न?

बरसात शुरू होने से पहले श्राद्ध और पिंडदान का काम खत्म हो गया था। सभी अतिथि भी पहुँच गए थे। परोसने का काम आरंभ होने से पहले पंडित दिवाकर शर्मा ने गजानन से पूछ लिया – बेटी और दामाद तो आए हैं। इस बार बेटों में से कोई एक भी नहीं आ सका सर?

उनके सवाल से गजानन को ठेस पहुँची। फिर भी चेहरे पर सूखी मुस्कान की एक हल्की–सी रेखा उभारते हुए उन्होंने उत्तर दिया क्या किया जा सकता है? इतने दूर हैं। वीजा, ऐयर टिकट की समस्या रहती है। सुविधा नहीं हो सकी, आ नहीं सके।

पंडित महाशय ने टिप्पणी की : फिर भी, आप जो भी कहिए सर, पत्नी ही आदमी की टाँग के समान है। हमेशा साथ–साथ चलेगी। इसलिए उसका नाम सहचारिणी, अर्द्धांगिनी है। उसे छोड़ दें, बेटे–बेटियों समेत, बाकी सभी अपना मतलब पहले देखते हैं। इस दृष्टि से लड़कियाँ आस्था के लायक हैं।

दमयंती की स्मृति और बेटों के न आने की घटना से गजानन मृतप्राय हो गए थे। पंडित महोदय के धारदार कड़वे बोल से उनका कलेजा भले ही छलनी हो रहा था, किंतु उन्होंने किसी प्रकार का अप्रिय उत्तर देना उचित नहीं समझा।

एक साथ सभी बैठकर खाना खाएँ, इसके लिए घर में पर्याप्त जगह नहीं थी। पर आधे से ज्यादा अतिथियों के खाना खा चुकने के बाद गजानन, उनके दामाद, बेटी और जीतू को छोड़कर बाकी सभी बैठ गए। बाहर फेंकी गई पत्तलों के आसपास आवारा कुत्तों का झगड़ा, शोर–शराबा शुरू हो गया था। कुछ कुत्ते फाटक के फासले

से होकर मकई की बगीची में घुस चुके थे। बरसात शुरू हो गई थी। ऐसा मूसलाधार मेह बरस रहा था कि जैसे प्रलय हो जाएगी।

गजानन एक लाठी लेकर बाहर आए। जिस मकई की बगीची में दमयंती घूमती रहती थीं, वहाँ कुत्तों का तांडव उन्हें असह्य लग रहा था। दमयंती की पुण्य तिथि कुत्तों को पीटना उन्हें बिलकुल उचित नहीं लग रहा था। सिर्फ उन्हें भय दिखाकर भगाना उनका उद्देश्य था।

बाहर आकर गजानन ने देखा कि अतिथियों के जूते, चप्पल सब बिखरे पड़े हैं। कुत्तों ने इधर–उधर दौड़ते हुए उन्हें फैला दिया है। कौन कह सकता है कि चमड़े के जूतों को नोचने के लिए मुँह में दबा कर नहीं ले जाएँगे? कुछ जूते चप्पल बरामदे में और कुछ मकई की बगीची में बिखरे पड़े थे। बरसात में भीग रहे थे।

अतिथि भगवान् के समान है। उन्हें तनिक भी असुविधा नहीं होनी चाहिए। ज्यादातर अतिथि उनके अधीन नौकरी करने वाले शिक्षक थे। फिर भी अब वे उनके अतिथि हैं।

मकई की बगीची में छतरी लेकर चप्पलों को बटोरना आसान नहीं था। गजानन बिना छतरी लिए नीचे उतरे। झमाझम बरसात में भीगते हुए चप्पलें बटोरने लगे। उन सबको लाकर बरामदे में रखे हुए जूतों के पास इकट्ठा किया।

उसके बाद वाला काम और जटिल भी था। एक ही पत्रकार के दो जूतों को ढूँढकर बरामदे में कतार में रखना पड़ा।

जीतू बाहर आकर झुँझला उठा – सर, बरसात में भीगते हुए जूतों को समेटने की क्या जरूरत थी? काफी भीग गए हैं। आपकी तबीयत बिगड़ जाएगी।

नहीं, मेरा कुछ नहीं होगा। ये कुत्ते कहीं ले न जाएँ, इसलिए मैं इन सबको बरामदे में ले आया। उन्होंने उत्तर दिया।

ठीक है, ले तो आए, अब छोड़ दीजिए। फिर इन्हें सजाकर रख क्यों रहे हैं? जिनकी चप्पल हैं, वे स्वयं ढूँढ़कर पहन नहीं लेंगे? आप आइए। सभी का खाना खत्म होने को है। हाथ–मुँह धो लीजिए, बैठेंगे। जीतू ने कहा।

तुम जाओ। और दो–चार हैं, मैं सजाकर आता हूँ। गजानन ने अनुरोध करने की तरह कहा।

जितु को पता है कि गजानन जिस काम में लगे होंगे, उसे पूरा न करने तक छोड़ेंगे नहीं। वह अंदर चला गया।

कुछ देर बाद, फिर से, बेटी ने आकर कहा – आइए न पिताजी! आपके भोजन करने से पहले परोसे गए पिंडों को माँ कभी भी नहीं छुएगी!

गजानन ने मन–ही–मन स्वीकार किया – सही बात है, वे तो परम पतिव्रता हैं। पति के खुद भोजन करने से पहले, उन्हें अर्पित किए पिंडों को क्या वे ग्रहण करेंगी?

फिर भी उन्होंने कहा– ठीक है, तू चल, मैं आ रहा हूँ।

काफी समय गुजर आने के बाद भी गजानन घर में नहीं आए, इसलिए जीतू एक बार बाहर फिर आया। उसके पीछे–पीछे कुछ और लोग भी आकर दरवाजे के पास खड़े हो गए।

जीतू ने देखा कि गजानन मकई की बगीची में झुक–झुककर घूम रहे हैं। नीचे पड़े कूड़े–करकट को हटाकर कुछ ढूँढ़ रहे है। उनके बायें हाथ में एक जूता है।

जीतू को वैसी परिस्थिति में भी हँसी आ गई। वह ठहाका लगाते हुए हँस पड़ा। गजानन चौंक कर खड़े हो गए और बरामदे की ओर निहारने लगे।

जीतू ने पूछा – सर, उस तरह का एक और जूता ढूँढ़ रहे हैं क्या?

गजानन भौंचक होकर निहारने लगे।

कुछ और अतिथियों ने भी हँसना शुरू कर दिया। लेकिन जीतू ने उसका समाधान किया–वह पंडित दिवाकर शर्मा का जूता है। वे एक ही जूता पहनते हैं। उनका तो एक ही पैर है।

गजानन मकई के बाग में भौंचक खड़े रह गए थे। हमेशा दिखाई देते रहने वाला सच उन्हें याद कैसे नहीं रहता है!

❑❑❑

संपर्क

सदानन्द त्रिपाठी– सी–33, शरधाबालि चौथी गली एक्सटेंशन, पो. इंजीनियरिंग स्कूल, खोड़ासिंगी, ब्रह्मपुर, जिला – गंजाम (ओड़िशा)– 769010, मो : 9437037485, ईमेलः bhagaban35@gmail.com

भगवान त्रिपाठी– चैतन्य ब्राह्मणी भवन, प्लॉट क्र.–2408, मंचेश्वर विलेज, भुवनेश्वर, ओड़िशा–769010 मो. 9437037485, ईमेलः bhagaban35@gmail.com

hिंदी कविता

भय

प्रदीप मिश्र*

जिसको आप
समर्पण कह रहे हैं,
वह विवशता है।
जिसको आप
निष्ठा और ईमानदारी कह रहे हैं,
वह मजबूरी है।
जिसको आप
विनम्रता कह रहे हैं,
वह घुटी हुई आवाज है।
जिसको आप
श्वसन कह रहे हैं,
वह बदहवासी है।
जिस धड़कन को आप
जिंदा होने का सबूत मानते है,
वह भय है।
आजकल दिल की जगह
भय धड़क रहा है।

मैं कौन हूँ

पहले मैं पढ़ता था
पढ़ते–पढ़ते सो जाता था
अब सोते–सोते पढ़ता हूँ,
और मेरी नींद उड़ गई है।

*कविता संग्रह 'फिर कभी', उम्मीद–धूप की अलगनी अन्तरिक्षनगर–वैज्ञानिक उपन्यास, तथा बाल उपन्यास, मुठ्ठी में किस्मत प्रकाशित।

पहले मैं देखता था,
देखते–देखते सोचता था,
अब सोचते–सोचते अंधेरे में गुम हो जाता हूँ।
साथ ही गुम होती जा रही है मेरी
सोचने की आदत।

पहले मैं सुनता था,
सुनते–सुनते गुनता था,
अब सुनते–सुनते किसी स्कैम में फँस जाता हूँ।
जीवनभर की जमापूँजी उड़ जाती है,
छोड़ देना चाहता हूँ,
अपनी सुनने और गुनने की प्रवृत्ति।

पहले मैं बोलता था,
बोलते–बोलते शोर करने लगता था,
अब शोर करते हुए पिट जाता हूँ।
जेल में बैठकर न बोलने की कसमें खाता हूँ,
इस तरह से
मैं अपने आपको बचा रहा हूँ।
अपने समय के ताप में
पिघलने से।

और मैं जो बच रहा हूँ
वह मैं नहीं हूँ।
फिर मैं कौन हूँ?
मैं एक मरे हुए आदमी की आत्मा हूँ,
मरने की प्रक्रिया से गुजर रहा हूँ!!!

❑❑❑

संपर्क

प्रदीप मिश्र– दिव्यांश 72ए, सुदर्शन नगर, अन्नपूर्णा रोड, डाक : सुदामानगर, इंदौर – 452009, मध्यप्रदेश, ईमेल- mishra508@gmail.com, मो. न. : 9425314126

कितने हिस्सों में बँटी हूँ मैं

पारमिता षडंगी*

कितने हिस्सों में बँटी हूँ मैं
कभी उस नदी की तरह
जो आँचल की तरह
लिपटी हुई है पहाड़ से
कभी उस नक्शे की तरह जिसमें
जहाँ भी हाथ रखो
मेरी गुमशुदगी ज़ाहिर है
खुद को खुद के लिए
ढूँढ नहीं पा रही हूँ मैं
कहाँ देखूँ अपने आप को
कुछ जिम्मेदारियों के भीतर से
झाँकते हुए स्वप्नों के बीच
या उन पत्थरों में जो
इस शहर को किनारे से अलग करते हैं
या किसी डायरी के फटे हुए
पन्नों के आधे दिखते
आधे मिटते अक्षरों में
कह दो डायरी के पन्नों को
लिखें अपने आप मेरी कहानी
अपने आप पन्नों को पलटें
इंतजार न करें हवा का
या उँगलियों का

*कवयित्री तथा अनुवादक। ओडिआ और हिंदी में कहानी, कविताएँ समीक्षा और अनुवाद प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

नहीं तो लोग समझेंगे
तुम भी एक स्त्री हो
मेरी तरह।

आँसुओं का चेहरे को चूमना
गवारा नहीं
कितना आसान था
मुझे पृथ्वी, घोषित कर देना
हर जख्म एक दरवाज़ा,
जहाँ से गुजरता है
आत्म सम्मान का संस्कार करता हुआ संघर्ष
हर एक साक्ष्यों को लिपिबद्ध
करने के लिए तत्पर है मेरी कविता
मगर छत और भात बन जाते है समाचार
अत्याचार छुपने लगे है संरक्षण में
थोड़े से उजास के लिए
ढूंढते हैं एक दो स्वप्न
सूनी आँखों से,
खुद को कसकर थाम लो
मत बदलो अपनी कहानी को
अपने शब्दों को आवाज देने की प्रक्रिया में
मैं लिखूंगी एक कविता
तुम्हारी कहानी को एक
शाश्वत नाम देने के लिए,
क्योंकि कितनी भी तपस्या कर ले
अहिल्या की गली में हमेशा
अँधेरा रहता है।

❑❑❑

संपर्क
पारमिता षड़ंगी– सेकड 'डी'–204, सनसिटी फेस–1, ठाकुर विलेज, कांदिवली ईस्ट, मुंबई–400101, ईमेलः paramitasarangi1972@gmail.com, मो. 9867113113

मलयालम कविता

जयिल मुट्टत्ते पूक्कल

ए अय्यप्पन*

किएन्ने जयिलवासत्तीनु विधिच्चु
जीवपर्यंतम विधिक्कप्पेट्टा
नालुपेरायिरुन्नु सेल्लिल
अरुतात्ता कूट्टुकेट्टिनुम
करवियुडे लहरि कुडिच्चतिनुम
ताषवरयिल पोराडुन्नवरे
मलमुकलिल निन्नु कन्डतिनुम
सहजरे नल्लपातयिलेक्कु
नयिच्चतिनुमायिरुन्नु
एनिक्कु शिक्षा।
सेल्लिल अल्पनालुकल मात्रम्
वासमनुभविक्केन्डा एन्ने
अवर अवज्ञयोडे नोक्कि
दंष्ट्रकलाल अलराते चिरिच्चु।
जयिल वासमनुभविक्कान
वन्निरिक्कुन्नु ओरुत्तन एन्नायिरुन्नु
पुच्छ्भावत्तिन्टे अर्थम्।
सेल्लिल सुखवासमाक्कामेन्ना
एन्टे अज्ञतयिल करुत्तमतिलुकलुम
काक्किक्कुपायङ्गळुम
एन्ने विड्डियायि कण्डु
इंडियये कण्डेत्तलुम
अच्छन मकळक्केषुतिया कत्तुकलुम

* मलयालम भाषा के प्रसिद्ध कवि, प्रमुख रचनाएँ– करुप्प, वेंयिल तिन्नुन्ना पक्षी, ग्रीष्मवुम् कण्णीरुम् आदि।

जयिलिल वेच्चेषुतिय डायरिकुरिप्पुकलुम
एन्ने अन्गने धरिप्पिच्चिरुन्नु
तिन्नुन्न गोतम्बिनु पुल्लिकल
पणियेडुक्कणम।
क्षुरकनु क्षुरकन्डे जोलि
तुन्नल्क्कारनु तुन्नल
एनिक्कु एषुतानुम वायिक्कानुमुल्ला
पणि तरुमेन्नु करुति
किट्टियतु चेडिकल्क्कु वेल्लम
तेकानुल्ला कल्पना
कस्तूरियुडे गन्धम तरुन्ना जमन्तिक्कु
कत्तुन्ना चेत्तिक्कु, चेम्बरत्तिक्कु,
कनकाम्बरत्तिनु, करुकय्क्कु
आरुम काणाते, नुल्लाते
रोसिनु ओरुम्मा कोडुत्तु
अषिकलिलूडे नोक्कियाल
निलावत्त चिरिक्कुम वेलुत्ता मूसांडा
एल्ला चेडिकल्क्कुम वेल्लम तेकि।
सूर्यकांतियिलनिन्नु आरुम काणाते
ओरु वित्तेडुत्तु विळयेंडिडत्तिट्टु
अथिनुम वेळ्ळम तेकि
वित्तुप्पोट्टियो एन्नु एन्नुम नोक्कि
मोचितनाकेन्डा नाल वन्नु
एन्डे पेर विलिक्कपेट्टु
चेडिकल कट्टत्ताडि
एल्ला पूक्कलुम एन्ने नोक्कि
हा! एन्डे सूर्यकांतियुडे वित्तुप्पोट्टि।

❑❑❑

जेल आँगन के फूल

अनुवादः अनुपमा सी. वी.*

मुझे कारावास की सज़ा सुनाई गई।
आजीवन कारावास की सज़ा पाए
चार लोग थे कारागार में।
गलत संगत के लिए
और कड़वी मदिरा का नशा पीने के लिए
घाटी में संघर्ष करने वालों को
पहाड़ की चोटी से देखने के लिए
तथा साथियों को सही रास्ते पर
ले जाने के लिए थी
मेरी सज़ा।
कारागार में बस कुछ दिन के
निवासी होने से
उन्होंने मुझे घृणा से देखा।
दाँत किटकिटाए बिना मुस्कुराए।
"कारावास भुगतने आया है कोई"
यह था उनकी घृणा का अर्थ।
कारागार को आरामगाह बनाया सकता है
यह मेरी अज्ञता थी,
काली दीवारें और खाकी वर्दियाँ
मुझे मूर्ख समझ रही थीं।
'भारत की खोज' (Discovery of India)
और 'पिता के पुत्री के नाम पत्र' (Letters from a Father to His Daughter)

* विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में शोध आलेख प्रकाशित। संप्रति–अमृता विश्वविद्यापीठम् के कोच्चि के सांस्कृतिक शिक्षा एवं भारत अध्ययन विभाग में सहायक आचार्य।

तथा जेल में लिखी गई डायरी की टिप्पणियों ने
मुझे ऐसा ही समझाया था।
जितना अन्न खाते हैं,
कारावासी को उसके लिए श्रम करना पड़ता है।
नाई को नाई का काम,
दर्जी को सिलाई,
मुझे लिखने और पढ़ने का
काम मिलेगा, ऐसा मैंने सोचा,
मिला तो पौधों को
पानी से सींचने का आदेश।
कस्तूरी की महक वाले गेंदे को,
जलती रंगवाली चमेली को, गुड़हल को,
कनकांबर को, दूब को
किसी के देखे बिना, तोड़े बिना
गुलाब को एक चुंबन दिया।
सलाखों से दिखाई देती
चाँदनी में हँसने वाली सफ़ेद मुसंडा
सभी पौधों को पानी से सींचा।
सूरजमुखी से किसी के देखे बिना
एक बीज लेकर, जहाँ उगना चाहिए वहाँ डाला।
उस पर भी पानी डाला।
उसमें अंकुर आया या नहीं, रोज़ देखता रहा।
मुक्त होने का दिन आ गया।
मेरा नाम पुकारा गया।
पौधे हवा में झूल उठे।
सारे फूल मेरी ओर देखने लगे।
हाँ! मेरे सूरजमुखी का बीज फूट गया था।

❑❑❑

संपर्क
डॉ. अनुपमा– सी. वी., सहायक आचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं भारत अध्ययन विभाग, अमृता विश्वविद्यापीठम, कोच्चि कैम्पस मो. 9496725277 ईमेल : anupamacv @kh.amrita.edu

कन्नड कविता

रिल्के

सुमतींद्र नाडिग*

कनसिनल्लि दारिगळिगे हेसरिरुवदे इल्ल
नन्न मुंदे यारो ओब्ब नडेदु होगुत्तिद्द।
नलवत्तर बिळि मनुष्य, कत्तरिसिद्द गड़दवनु
एत्तरवागिद्द व्यक्ति, ननगे गोत्तु अनिसित्तु।
बेग–बेग बळिगे नडेदे, हलो एंदु चाचि कैय
'नीवु रिल्के अल्लवे, नन्न हेसरु नाडिग'
अंदरे अव हागे निंत, दुरुगुट्टुत नोडिद
'नानु निम्म बल्लेने?' अंतवनु केळिद।
'नानु निमगे गोत्तिल्ल, नीवु गोत्तु' एंदे
'ड्यूनो एलिजी' ओदिदेने' अंत नानु हेळिदे।
बिगिदुकोंडे इद्द रिल्के, अवनिगेनो संशय
अल्लिवरेगु इरते इल्ल नन्न अवन परिचय।
'नानु बरेयुत्तिद्देने, ओंदु दीर्घ काव्य'
अंत नानु हेळिदाग बदलायितु चर्य।
अवन काव्य, अवन हेसरु हेळि गुरुतिसिद्दे
नानू कवि एंदु केळि मूडितोंदु किरुनगे।
आदरू युरोपिनवरु बहल बुद्धिवंतरेंदु
नानु कीळु एन्नुवंथ मनोभाव कंडितु।
अवरे मर्गदर्शकरु, नावु हिंदे होगुववरु
अन्नुवंते अवन धाटि, आ धोरणे कंडितु।
नन्न 'ड्योनो एलिजी (Duino Elegiesn~èk यंते नीवु बरेतुतिविरा?'
अंत केळिदाग अवनु एला एला बिळियर।

* कवि और आलोचक। प्रमुख रचनाएँ– 'दाम्पत्य गीत,' 'पंचभूत' तथा 'श्रीवत्स स्मृति' प्रकाशित।

अंदुकोंडु ना हेळिदे, 'ड्योनो एलिजी' ओदिदे
अदाद मेले बेरे रीति बरेयु बेकु अनिसिदे।
'एनु निम्म काव्यवस्तु' अंत अवनु केळिद
'नन्न दीर्घ कविते हेसरु 'पंचमहाभूत'।
"ऐंदु भूत एल्लिवे, नाल्कल्लवे इरुवुदु?"
"अल्ले नोडि नानु नीवु बेरेयागि बिडुवुदु।
जैन, बुद्ध, चार्वाकरु नाल्के अंदुकोंडरु
मिति हाकिकोंड जनरु मितिय ओपिकोंडरु।
निमगे तर्कवस्टे मुख्य, परम सत्यवल्ल
नानु एन्नुवुदर आचे निमगे एनू इल्ल।
डेकार्तन गोत्रदवरु, बेकन, रसेल सूत्रदवरु
नाल्कराचे इन्नोंदनु नीवु काणदवरु।
ईग नोडि एंजेलगळु निमगे मात्रकंडिवे
नन्न ऊहेगू कूड आवु निलुकदे होगिवे।
हागे निम्म ऊहेगू निलकदु आकाश
इरलि बिडि, निम्म भेटी आकस्मिक अवकाश।
अष्टक्के निम्म ऋण नन्नल्लिदे अनिसितु
कृतज्ञतेय हेळलिक्के संदर्भवु सिक्कितु।
निमगे काणलिल्ल नोडि नीवेडविद वस्तु
नीवु एडाविद्दरिंद ननगेनो सिक्कितु।
बहुशः उद्दवाइतु मातु, रिल्के दारि हिडिदिद्द
'शुभवागलि' नानेंदे, केळलिल्ल, नडेदिद्द।

❑❑❑

दुनिया ने तजखात ओ हमादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूँ मैं

—साहिर लुधियानवी

रिल्के

अनुवादः टी. आर. भट्ट*

सपने में रास्तों के नाम नहीं होते
मेरे सामने कोई एक चलता जा रहा था।
चालीस साल का, सफेद रंग का, कटी हुई दाढ़ीवाला
लंबे कद का आदमी, लगा कि मैं इसे जानता हूँ।
जल्दी–जल्दी नजदीक गया, 'हलो' कहते हुए हाथ मिलाया
'क्या आप रिल्के नहीं? मेरा नाम है नाडिग।'
वह ठिठक कर खड़ा हो गया, घूर–घूर कर देखने लगा
उसने पूछा– "क्या मैं आपको जानता हूँ?"
मैंने कहा– "आप मुझे जानते नहीं, मैं आपको जानता हूँ"
मैंने कहा– "ड्यूनो एलिजी" पढ़ी है।
तनकर रह गया रिल्के, उसे कोई शंका,
अब तक उसका मेरा परिचय नहीं था।
मैं एक दीर्घकाव्य लिख रहा हूँ
सुनते ही वह चकित हो गया।
पहचाना था उसे, उसका काव्य, नाम कहकर
"मैं भी एक कवि हूँ" सुनकर हल्की हँसी खिली।
लगा कि यूरोप के लोग बुद्धिमान हैं
चुभ रहा था कि मैं निचला हूँ।
वे ही मार्गदर्शक हैं, हम तो उनका पीछा करने वाले हैं
यह है उनका सोचना, मैं समझ गया।
"मेरे 'ड्यूनो एलिजी' के जैसा काव्य लिखेंगे आप भी?
सुनते ही लगा मुझे ये तो गोरे हैं।
सोचते–सोचते मैंने कहा– "पढ़ी है ड्यूनो एलिजी"

---

* तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद में विशेषज्ञता। भारतीय भाषाओं में रामकथाः कन्नड भाषा 'आलोचनात्मक प्रकाशित। संप्रति– हिंदी–कन्नड अध्येता कोश के संयोजक के रूप में कार्यरत।

पढ़ने के बाद लगा कि मुझे अलग ढंग से लिखना है।
पूछा उसने "आपके काव्य की क्या वस्तु है?"
'मेरा है दीर्घकाव्य, नाम है 'पंचमहाभूत'।
देखिए, यहीं पर हम और आप अलग होंगे।
जैन, बुद्ध, चार्वाक आदि ने चार ही कह दिया
प्रतिबंध लगाने वालों ने प्रतिबंध को स्वीकार किया।
आपके लिए तो तर्क ही मुख्य है, परम सत्य नहीं
'मैं' के उस पार आपको तो कुछ नहीं।
डेकार्त के गोत्र वाले, बेकन, रसेल के सूत्रवाले
चार के उस पार और एक को न देखनेवाले हैं आप।
देखें एंजेल सिर्फ आपको ही दीख रहे हैं
वे तो मेरी समझ से बहुत दूर हो गए।
ऐसे ही आपकी समझ के परे है आकाश
जाने दीजिए आपकी भेंट है अचंभा।
लगा कि इतने भर के लिए आपका ऋण मुझ पर है
कृतज्ञता देने के लिए मिल गया है एक आकाश।
आपकी नजर से छूटी वस्तु आप न देख पाए
आपकी नजर से छूटी वस्तु मुझे तो मिल गई।
लगा कि बातें लंबी हो गई, रिल्के वापस जा रहा था
'शुभ हो' कहा मैंने, सुना नहीं उसने, चल दिया था।

❑❑❑

संपर्क

प्रो. टी. आर. भट्ट– 'प्रज्ञाश्री, छठा क्रॉस, कल्याण नगर, धारवाड, कर्नाटक–580007,
ईमेलः trbhatdwd@gmail.com, मो.– 9449634716

परख

'गालिब–ओ–मीर को सीने से लगाए घूमे'

हीरालाल नागर

'आसान' को आसान कहना इतना आसान नहीं है। पुस्तक के पन्ने पलटते ही मुश्किलात खड़ी हो जाती है कि कवि/शायर आलोक श्रीवास्तव को क्यों न ग़ज़ल की उस परंपरा में रखा जाए, जिसका जावेद साहब जिक्र करते हैं और खुद शायर/कवि आलोक भी यही कहते हैं। मसला ग़ज़ल के रदीफ–काफिये का नहीं और न ही बहर आदि की सलाहियत का है। सवाल सिर्फ आलोक श्रीवास्तव की काव्य युक्ति का है जिसमें वे रहकर शायरी की बुलंदियाँ हासिल करते हैं।

जावेद साहब अपनी भूमिका 'मुश्किल है आसान' में लिखते हैं, 'आलोक उर्दू के निहायती ब–सलाहियत शायर हैं और जब आप इनकी हिंदी की शायरी सुनेंगे तो लगेगा कि ये तो सिर्फ हिंदी का ही कवि हो सकता है।'

गौर करें कि जावेद साहब आलोक श्रीवास्तव की 'हिंदी शायरी' की तारीफ करते हैं। 'उर्दू शायरी'का नाम नहीं लेते। आलोक श्रीवास्तव हिंदी–उर्दू की शायरी को समझते हैं, लेकिन हिंदी में कविताएँ लिखते हैं। यह सभी जानते हैं कि हिंदी के नामी कवि हमेशा उर्दू–हिंदी में ग़ज़लें लिखते आए हैं। उर्दू–फारसी जाने बगैर कोई पायेदार ग़ज़ल नहीं लिख सकता। उर्दू समझे बगैर शायरी नहीं हो सकती। यह बात तो तय है। उदाहरण के लिए निराला, शमशेर बहादुर सिंह और त्रिलोचन आदि ने भी ग़ज़लें लिखीं तो हम कह सकते हैं कि आलोक श्रीवास्तव कबीर, मीर, नजीर, शमशेर और दुष्यंत की परंपरा के ही कवि और शायर हैं। वे खुद एक शेर के मार्फत कहते हैं– *'कहीं कबीर, सूर की, कहीं नजीर की परंपरा से धन्य ये ग़ज़ल का छात्र है।'* आलोक श्रीवास्तव की शायरी में वही सूफियाना अंदाज और मस्ती का अजब रंग है जो आलोक को एक मुकम्मिल शायर/कवि बनाती है। आलोक श्रीवास्तव की सृजनात्मकता के साथ यह सुविधा है कि उन्हें शायर भी कह सकते हैं और कवि भी।

आसान (गज़ल संग्रह): आलोक श्रीवास्तव, पेंगुइन स्वेदश, संस्करण 2025, मूल्य–350/: पृ. 138।

दरअसल, इस द्वाभा की गवाह यह किताब है। एक तरफ ग़ज़लें हैं तो दूसरी तरफ दोहे, नज़्में, गीत और उनका भावानुवाद है।

यहाँ देखने की बात है कि ग़ज़लें हमेशा अलग से चिह्नित कर ली जाती हैं, लेकिन नज़्में और गीत को विलगाना मुश्किल होता है। यह निशानदेही कहीं नहीं की गई है कि यह गीत है और यह नज़्म है। दोहे तो अलग से पहचान में आ ही जाते हैं। बहरहाल, यह बहस का मुद्दा नहीं है, मुद्दा यह है कि आलोक श्रीवास्तव कितनी काव्य विधाओं में एक साथ शिरकत करते हैं कि उनके कहन में भिन्नता हो और उनका कलात्मक सौष्ठव भी दिखाई देता रहे, वो भी बड़ी सावधानी के साथ।

पहले आलोक श्रीवास्तव की ग़ज़लों की बात करते हैं जिनमें मानवीय रिश्तों की खुमारी हैं और गहरी आत्मीयता भी। प्रेम, स्नेह, दुआ और दुनियादारी की हक़ीकत में थोड़ी अंदर तक धँसी हुई। *'हमन है इश्क मस्ताना, हमन की होशियारी क्या।'* कबीर का यह पद लेकर अपने लिए एक ताबीर खड़ी करते हैं आलोक श्रीवास्तव। *'हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या, गुजारी होशियारी से, जवानी फिर गुजारी क्या?' 'धुएं की उम्र कितनी है, घुमड़ना और खो जाना, यही सच्चाई है प्यारे, हमारी क्या, तुम्हारी क्या?'*

आलोक श्रीवास्तव की शायरी का यह खेल देखिए कि आप खुद ताज्जुब में आ जाएँगे– जब वह कहते हैं। *'हमन कबिरा की जूती हैं, उन्हीं के कर्जदारी हैं। चुकाए से जो चुक जाए, वो कर्जा क्या उधारी क्या?'*

जिस ईमानदारी की जरूरत है उसे शायर खुद कुबूल करता है। *'तुम्हारे अज़्म की खुशबू लहू के साथ बहती है, अना ये खानदानी है, उतर जाए खुमारी क्या।'*

रिश्तों का भरा–पूरा संसार है– आलोक की शायरी में कि उन्हें अपने जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। एक ग़ज़ल के दो शेर देखिए। *तुम्हारे पास आते हैं तो साँसें भीग जाती हैं, मुहब्बत इतनी मिलती है कि आँखें भीग जाती हैं।*

आलोक के पास नजाकत भरी एक ऐसी ग़ज़ल है, जिसको पढ़कर रोमांचित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। उर्दू की नफासत से कौन वाकिफ नहीं है। उसके आने से हिंदी लफ़्ज़ों की खूबसूरती बढ़ जाती है। सच तो यह है कि यह उर्दू के पक्ष में कवि/शायर का मुकम्मल बयान है। जावेद साहब के इस बयान को भी आप यहाँ देख सकते हैं, 'मेरा ख्याल है कि एक अच्छे हिंदी शायर या एक अच्छे उर्दू के कवि के लिए जरूरी है, कि वो दोनों जबानें बहुत अच्छी तरह जानें। और ये खूबी हमारे इस नौजवान दोस्त में पूरी तरह मौजूद है।'(पृष्ठ 10, भूमिका)

नॉस्टेल्जिया में जीते हुए शायर आलोक श्रीवास्तव के पास घर, पिता, माँ, भाई–बहन, दोस्त और संगी–साथी आदि पर कुछ मुकम्मिल ग़ज़लें हैं। एक समय अतीत की स्मृतियों में डूबकर कवि और शायर इस भावभूमि की ग़ज़लें लिखने को हमेशा उतावले रहते थे। आलोक श्रीवास्तव की ग़ज़लों में उतावलापन नहीं, एक ठहराव है। वे तसल्ली के साथ अपनी बात रखते हैं। *तुम्हारी याद से दिल में उजाला होने लगता है, तुम्हें जब गुनगुनाता हूँ तो रातें भीग जाती हैं।* (पृष्ठ 42)

अम्मा और बाबू जी पर आलोक श्रीवास्तव ने ऐतिहासिक ग़ज़लें लिखी हैं। एक समय इन ग़ज़लों का बहुत शोर था। घर की स्मृतियों पर आलोक की ये ग़ज़लें अंतरंग रिश्तों का खनखनाता हुआ बाजार ही खोल देती हैं– *वही आँगन, वही खिड़की, वही दर याद आता है, अकेला जब भी होता हूँ, मुझे घर याद आता है।*

आलोक श्रीवास्तव में ग़ज़ल कहने का जज्बा है, आत्मविश्वास का राग है और जीवन की लयात्मकता है कि उनकी ग़ज़लें पाठकों के बीच बड़े शौक से पढ़ी जाती हैं। यहाँ पेश हैं– अम्मा और बाबू जी पर लिखी ग़ज़ल का शेर–

'घर में झीने रिश्ते मैंने, लाखों बार उघड़ते देखा, चुपके–चुपके कर देती हैं, जाने कब तुरपाई अम्मा।'

पिता जी पर ग़ज़ल के शेर देखें – *'भीतर से खालिस जज़्बाती और ऊपर से ठेठ पिता, अलग अनूठा अनबूझा–सा इक तेवर थे बाबू जी।'*

इन ग़ज़लों के माध्यम से पिता और माँ के व्यक्तित्त्व का जो चरित्र–चित्रण किया है वह सचमुच अप्रतिम है।

बहरहाल, 'आसान' की कुछ और भी ग़ज़लें हैं जो अपने रूदाद में, आचरण और व्यवहार में बड़ी ही शानदार लगती है। इनमें फन है, कलाकारी है, चित्रकारी और वह कलात्मक अदायगी है कि ये ग़ज़लें खास बन जाती हैं। ये ग़ज़लें अपनी कहन में भिन्न और पारदर्शी हैं। इनमें जो नफासत है, तराश है, अर्थ गांभीर्य है उसे नकार नहीं सकते। कुछ अशआर देखें–

हमें मालूम है इक दिन भरोसा टूट जाएगा
मगर फिर भी सराबों में नदी को जीते रहते हैं।

मेरे साथ लग गया था कोई नूर का खजाना
अभी तक उसी से रोशन है मेरा गरीबखाना।

मेरा फन समझ सकेगा, जरा देर से ज़माना

मैं ग़ज़ल का मुसाफिर हूँ, मेरी बात शायराना।

आलोक ने हिंदी ग़ज़ल का ट्रीटमेंट उर्दू ग़ज़लों की तरह ही किया है। वे किसी साँचे में बेशक ढाली न गई हों, लेकिन उनका अपना खाँचा सुनिश्चित है। इस हिंदी ग़ज़ल के साथ आलोक का व्यवहार कितना सटीक है– *'साम दाम दंड भेद का नया चलन, कि जो यहाँ कुपात्र है, वही सुपात्र है।' 'कहीं कबीर सूर की कहीं नज़ीर की परंपरा से धन्य ये ग़ज़ल का छात्र है।'*

आलोक श्रीवास्तव अपने को ग़ज़ल का स्टूडेंट कहते हैं, ग़ज़ल के विद्यार्थी को जैसे आगे अभी बहुत कुछ सीखना हैं। आलोक श्रीवास्तव ऐसा ही विनम्र व्यवहार करते हैं।

एक ग़ज़ल का उदाहरण देखें जैसे ग़ज़ल खुद अपना हस्ताक्षर करने को उद्यत है–

वो मानता ही नहीं हम सफर, तो क्या कीजै

हर एक दुआ है अगर बे–असर तो क्या कीजै।

हमारे पास भी पलकें तो हैं मगर आंसू

भटक रहे हैं अगर दर–ब–दर तो क्या कीजै।

ग़ज़ल कहने, लिखने और उसे बरतने की सलाहियत सबको यूँ तो नहीं मिल जाती। लंबी रियाज, धीरज के पहाड़ और नद–नालों का गंभीर उच्छ्वास सब तो चाहिए– लेकिन इसी के साथ एक संवेदनशील मन, साहसी और उद्यमी हृदय तो चाहिए ही। आलोक के पास खिलंदड़ी भाषा है और उसका अहसास बहुत गहरा है। यह ग़ज़ल इस अहसास की बानगी है–

अंबर से धरती पर उतरो, धूप बनो खिल जाओ फिर

तस्वीरों से बाहरनिकलो घर में धूम मचाओ फिर (पृष्ठ 47)

आलोक ने अपना पुराना फ्रेम तोड़कर एक नया फ्रेम गढ़ा है अपने रचना संसार के लिए जिसमें अकेले ग़ज़ल ही नहीं हैं.नज्में हैं, गीत हैं, दोहे और भावानुवाद हैं।

आलोक टी.वी. पत्रकार है, लघु फिल्मों का निर्माण करते हैं। इसलिए, कुछ अपने लिए और कुछ इस बाजार के लिए भी काम करते हैं। साहित्यिक लेखन से टी.वी. लेखन, टी.वी. लेखन से सीरियल लेखन, यह आवाजाही बनी रहती है। इसलिए इन सबसे बचते–बचाते अपनी ग़ज़ल यात्रा को जारी रखे हुए हैं।

हिंदी ग़ज़ल और उर्दू की शेरो–शायरी से निकलकर आलोक श्रीवास्तव ने बड़ी ही मौजू नज्में लिखी हैं। कुछ खास सामाजिक घटनाओं पर नज़्म लिखना साहस भरा काम है। निर्भया कांड देश को दहला देने वाली वीभत्स घटना थी– पहले रेप, फिर गाड़ी के पहियों के नीचे कुचला जाना। दुर्दांत। निर्भया के पक्ष में दो पंक्तियाँ देखें– *दिल से निकली हूँ रौशन दुआ की तरह/खुल के बहने दो मुझको हवा की तरह।* बेटी जिसने जन्म ही नहीं लिया– उसकी पीड़ा को अंतस में महसूस करते हुए आलोक अपनी कविता में लिखते हैं– *'नजर आता है डर ही डर तेरे हर बार में अम्मा, नहीं आना मुझे इतने बुरे संसार में अम्मा।'* (पृष्ठ – 70)

हर साल पहाड़ों पर बादल टूटते, जिसमें आसपास का इलाका तबाह हो जाता है। पिछले दिनों धराली पर पहाड़ टूट पड़ा और पूरा धराली गाँव ही जमींदोज़ हो गया। इस पर आलोक की कविता की दो पंक्तियाँ देखें–

न जीवन बचा न घरों की निशानी

पहाड़ों पे टूटा पहाड़ों का पानी।

इसी तरह आलोक श्रीवास्तव ने सामयिक घटनाओं पर एवं जागरूक नागरिक और जिम्मेदार साहित्यकार होने के नाते कश्मीर पर होने वाले कहर पर बहुत प्यारी नज्में लिखी हैं।

लगता है इस संग्रह की स्थिति को दुरुस्त करने के लिए ही आलोक श्रीवास्तव ने महात्मा गांधी, मुंबई, अम्मा, माँ, बेटियों, गंगा, एक परिंदा, धूप, डेस्टिनी, समझा तो क्या, हम सफर, देशगीत–1, 2 और हिंदुस्तान जैसी कविताएँ भी प्रकाशित की हैं। इन कविताओं ने यह परिचय तो दिया कि आलोक श्रीवास्तव केवल ग़ज़ल नहीं लिखते, वे हिंदी कविता में देशगान, जयगान और प्रशस्ति गान भी लिख सकते हैं। कुछ कविताओं में आलोक श्रीवास्तव ने अपनी उत्कृष्ट काव्य–क्षमता का परिचय दिया है। भावानुवाद में किया गद्य इनके इसी कार्य का द्योतक है। खूबसूरत गेटअप, अंदर बाहर अंतरंग रेखाचित्रों और अशोक भौमिक के आवरण से किताब खूबसूरत बन पड़ी है। 'आसान पेंगुइन' का एक किफायती संस्करण है।

❑❑❑

परिचय

आलोक श्रीवास्तवः – प्रतिष्ठित कवि–गीतकार और टीवी पत्रकार। कई पुस्तकें प्रकाशित। चर्चित सोलो शो 'आलोकनामा।

हीरालाल नागरः – 'कवि तथा कथाकार। जंगल के खिलाफ, अधूरी हसरतों का अंत, 'बची हुई रात' तथा 'डेक पर अंधेरा' प्रकाशित।

संपर्क

लेखकः आलोक श्रीवास्तव– डी दो/ दस, ग्राउंड फ्लोर गाडेनिया गेटवे, प्लॉट नं.–9 सेक्टर–75 नोएडा–201301, मो. 9899033337 ईमेलः weriteralokofficial@gmail.com

समीक्षकः हीरालाल नागर– बी–147/41 सी, गली नं. 2, जीवन ज्योति स्कूल के पास, (करावल नगर रोड), दिल्ली–110090, मो. 9968551414
ईमेलः hiralalnagar51@gmail.com

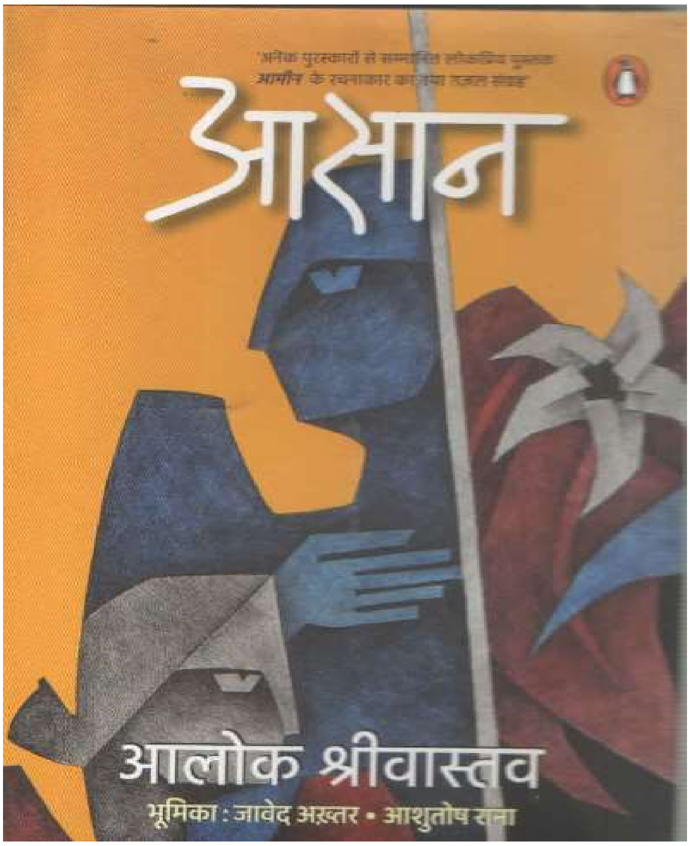

विहंगमः समस्या से समाधान की यात्रा

गौरव गौतम

'विहंगम गंगापथ के भगीरथ आख्यान' अभय मिश्र द्वारा लिखित कृति है जिसमें गंगा नदी के बहाव, रुकाव के साथ–साथ उसके परिवेश के प्रति लोगों के जुड़ाव, आस्था और स्वार्थपरकता को व्यक्त किया गया है। कथेतर विधा की इस कृति में गंगापथ का यात्रा वृत्तांत, वहाँ के रहवासियों के संस्मरण एवं उनके आत्मकथ्य मौजूद हैं। लेखक ने इस कृति में न केवल वर्तमान परिस्थितियों को प्रस्तुत किया है और न ही केवल इतिहास की बीती हुई बातों को दर्ज किया है बल्कि अपने शब्दों से लेखक ने उस सूत्र को भी प्रस्तुत किया है जो इतिहास और समकालीनता को जोड़ता है। इस सूत्र के माध्यम से ही लेखक ने गंगा तट से जुड़ी लोकमान्यताओं व उनमें आ रहे बदलावों का भी वर्णन किया है। गोमुख से लेकर गंगासागर तक गंगा नदी द्वारा विकसित सांस्कृतिक परिदृश्य को लेखक ने इस कृति में शब्दबद्ध किया है। गंगा द्वारा निर्मित पारिस्थितिकी में शामिल हो रही विकृतियों व उनके पीछे के कारण भी इसमें दर्शाए गए हैं।

गंगापथ का प्रसार और फैलाव पाँच राज्यों में प्रत्यक्ष रूप से है जिसमें उत्तराखंड, उत्तरप्रदेश, बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल शामिल हैं। मध्यप्रदेश की ज्यादातर नदियों का जुड़ाव भी गंगा अपवाह तंत्र से है। इन प्रदेशों के लोगों की न सिर्फ नदियों से आस्था जुड़ी है वरन् इनका रहन–सहन, रीति–रिवाज और अन्य सामाजिक और आर्थिक गतिविधियाँ भी नदियों से ही संपृक्त हैं। गंगा इन राज्यों के भूगोल को ही नहीं वरन् इनके अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को भी प्रभावित करते हुए इस क्षेत्र की मानवीय गतिविधियों से प्रभावित होती है। इन प्रदेशों में गंगा एक समान नहीं रहती बल्कि मौसम के अनुसार उसका पाट विस्तृत और संकुचित होता है। उसी तरह यहाँ के लोगों के स्वार्थ और सरकारी नीतियाँ भी नदी के बहाव के मार्ग को बदलने के साथ–साथ उसे बदहाल भी करती हैं।

विहंगमः गंगापथ के भगीरथ आख्यान, अभय मिश्र, पेंगुइन स्वदेश, संस्करण–2025, मूल्य–399, पृष्ठ–295।

नदियों का बहाव अपने में अकेली परिघटना न होकर पारिस्थितिकी तंत्र का हिस्सा है। पूरा तंत्र आपस में जुड़ा रहता है जिस कारण किसी भी हिस्से में होने वाला विघटन पूरे तंत्र को प्रभावित करता है। परिवेश में बदलाव प्राकृतिक कारणों से भी होता है किंतु प्रकृति के पास इतनी क्षमता होती है कि वह स्वयं को परिमार्जित करके पुनर्नवा हो सके। ये मानवीय बदलाव जहाँ प्राकृतिक क्षरण की गति को बढ़ाते है वहीं वे प्रकृति को इतना विकृत और विरूपित कर देते हैं कि सुधार के द्वारा पुनः वापसी संभव ही नहीं हो सकती।

अभय जी ने भागीरथी के उद्‌गम, उसके गंगा बनने एवं मानवीय गतिविधियों और व्यावहारिकता के कारण इसके स्वरूप में आने वाले बदलाव को स्पष्ट किया है। 'गंगावतरण' वाले अध्याय में लेखक ने गंगा के आगमन की कथा को पर्यावरणीय स्वरूप में अभिव्यक्त किया है और 'गंगावतरण' को 'दुनिया का सबसे बड़ा और संगठित मानवश्रम' कहा है। गंगा ने सहायक नदियों को साथ लेकर अविरल बहते हुए भारतीय सभ्यता को संस्कारित किया किंतु अधकचरी भौतिक आधुनिकता का अनुसरण कर मानव लालच के वशीभूत हो गया और नदी उसके लिए सिर्फ एक संसाधन हो गई जिसके दोहन के लिए उसने हर तरीके को आजमाया। मानव द्वारा कुचले जाने से वह अब सिर्फ अपना अस्तित्त्व बचाने के लिए साँस बस ले रही है।

इस कृति में लेखक ने नदियों पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए होने वाली दबंगई को भी चित्रित किया है जिससे नदियों का दोहन करने की होड़ लगी हुई है। *"रेत को नग़दी फसल मानने वाले ठेकेदार बड़ी–बड़ी जेसीबी मशीन से चुगान करते हैं और नदी में विशाल गड्ढ़े बना देते हैं, नतीजतन नदी की इकोलॉजी बिगड़ती है और बाढ़ की विभीषिका भी बढ़ती है।"* ठेकेदारों द्वारा यह सब लाखों– करोड़ों रुपये कमाने के लिए किया जाता हैं। गंगा और उसके किनारे के तीर्थ अब आस्था– पूजा की जगह धन कमाने का जरिया हो गए हैं। वणिकप्रधान संस्कृति अब सिर्फ लूटने की होड़ में है बिना यह सोचे कि इससे धर्म का स्वरूप बदल रहा है या अपने स्वार्थ के लिए वह पर्यावरण की किस स्तर तक बलि चढ़ा रहा है।

गंगा को भारतीय परंपरा में पुण्यदायिनी और मोक्षप्रदाता माना गया है। गंगा के लिए भारतीय मानस में पावनता का भाव रहा है जिसमें औपनिवेशिक शासन और स्वतंत्र भारत की सरकारी नीतियों के कारण समाज की सोच, उनके भावबोध और व्यवहार में परिवर्तन आया। इस कृति में अभय जी ने विल्सन जैसे अंग्रेज अधिकारियों की चर्चा की है जिसने 'गंगा अवतरण की भूमि को राजस्व के नजरिए से देखा।' भारत के कच्चे माल को बंदरगाह तक पहुँचाने के लिए रेलवे का विकास किया गया। 'गंगा ने उस दौर के सबसे बड़े प्रोजेक्ट के लिए परिवहन का कार्य किया।' अंग्रेजों द्वारा

की गई लूट को लेखक ने निम्न शब्दों में रूपायित किया है कि *शुरुआती दौर में भारत में जितनी रेल लाइन बिछी थी, वह सभी विल्सन द्वारा भेजी गई देवदार की लकड़ियों से बनी थी।* अभय मिश्र ने अंग्रेजों की चतुराई के साथ–साथ भारतीय राजाओं की अदूरदर्शिता को भी गढ़वाल के राजा के माध्यम से बताया है कि *सुदर्शन शाह विद्वान थे। उन्होंने ग्रंथ रचे लेकिन लोक से हमेशा ही दूर रहे। वे जीवनपर्यंत अंग्रेजों के सहयोगी भी बने रहे। उनका रचनाकर्म और रास रंग दोनों ही चलता रहा।* भारतीय राजाओं की उदासीनता के कारण अंग्रेज निरंतर प्रकृति का शोषण करते रहे। पहाड़ों को दरकाते रहे और नदियों को चूसते रहे। उसके पथ से नहरें आदि बनाकर छेड़खानी करते रहे। स्वतंत्र भारत में भी विकास के लिए औपनिवेशिक नीतियों को ही दोहराने की परंपरा रही है जिसके अवशेष अब भी मौजूद हैं।

'पहला नदी आंदोलन' अध्याय में लेखक ने विस्तार से बताया है कि जब गंगा की अविरल धारा को बाधित कर उसमें बाँध बनाने का प्रयास किया गया तब हरिद्वार के पंडों का पत्र पाकर पंडित मदन मोहन मालवीय ने अंग्रेजों की नीतियों का विरोध किया जिसमें अनेक राजाओं और बड़ी संख्या में जनता ने उनका साथ दिया फलस्वरूप 1916 में यह समझौता हुआ कि *गंगा की अविरल और अविच्छिन्न धारा कभी रोकी नहीं जाएगी।* साथ ही यह भी तय हुआ कि *गंगा की धारा के विपरीत कोई भी कदम हिंदू समाज से पूर्व परामर्श के बिना नहीं उठाया जाएगा।* औपनिवेशिक सरकार ने तो समझौते का पालन किया किंतु भारत की निर्वाचित सरकारों ने जनभावनाओं के विपरीत बांध का निर्माण कर इनको आधुनिक भारत के मंदिर की संज्ञा देकर नदियों के प्रवाह को रोका जिसके संदर्भ में अभय मिश्र जी ने लिखा है कि *इतिहास गवाह है जब तक अंग्रेज़ भारत में रहे, उन्होंने इस समझौते का पूरा पालन किया और गंगा की धारा को कभी नहीं छेड़ा। गंगा के साथ छेड़छाड़ आज़ाद भारत में शुरू हुई। गंगा की धारा पर नेहरू के सपनों का आधुनिक मंदिर बनाने की जो होड़ शुरू हुई तो रुक ही नहीं रही। भारत की आज़ादी के दीवानों ने ही गंगा की गुलामी तय कर दी।* भारत की भावी सरकारों ने विकास के लिए नदियों को बाँधने की नीति कायम रखी जिससे नदियों के बहाव क्षेत्र के साथ निरंतर छेड़छाड़ की गईं। रेत खनन आदि से लाभ प्राप्त करने के लिए माफ़ियाओं ने नदियों के पथ से हस्तक्षेप किया जिसका परिणाम बताते हुए लेखक ने हरिद्वार में आँखों देखे दृश्य को शब्दों के द्वारा व्यक्त करते हुए लिखा है कि *यहाँ कि गंगा माफ़िया के कहे अनुसार बहती है।*

औपनिवेशिक शासन ने विद्रोह के डर से जनभावनाओं की अवहेलना नहीं की किंतु स्वतंत्र भारत में व्यापार और सरकार साँठ–गाँठ ने गंगा के पथ को मलिन कर दिया। भारतीय समाज के शिक्षित वर्ग की आस्था और व्यवहार में फाँक आ गई है।

वह तीर्थ तो जाता है किंतु भाव और गतिविधि उसकी पर्यटक की रहती है। गंगा का किनारा तप, संयम के आचरण की जगह भोग—विलास का स्थल बन गया है। बाजार गंगा के किनारे लोगों की मानसिकता तक में अपना स्थान बना चुका है। आस्था, अंधविश्वास के भीतर सिमटती जा रही है जिसे इस कृति के 'श्री पाँच का गणित', 'लोक देवताओं का घाट', 'कमजोर कंधों की काँवड़' जैसे अध्यायों में विस्तार से बताया गया है। अंधविश्वास धार्मिक भाव को दूषित करने के साथ—साथ पारिस्थितिकी के लिए भी खतरा बना हुआ है। लेखक के अनुसार, *हर कोई बिना मेहनत, धन और चाहत को साधना चाहता है, भोजपत्र के टोटके से किसी को मनचाही चीज़ मिली या नहीं, पता नहीं, लेकिन भोजवासा का जंगल पूरी तरह ख़त्म हो गया।* अंधविश्वास कानून पालन की राह में अड़ंगा बनता है। देवदारु के वृक्ष को काटना गैर—कानूनी है लेकिन इसकी अंधाधुंध कटाई से 'देवदारु के वृक्ष जंगल से लगभग खत्म हो गए और अब उत्तराखंड का जंगल चीड़ का जंगल कहलाता है। देवदारु की कटाई में माफ़ियाओं की भी मिली—भगत होती है जो भ्रष्ट अधिकारियों को अपनी ओर मिला करके बड़े पैमाने पर लकड़ी की सप्लाई करते हैं जिसमें स्थानीय पुरुषों की भी सहभागिता होती है इस संदर्भ में लेखक का कहना है कि *पुरुष तो मानो देवदार कटने को हिमालय की नियति मान बैठे हैं।* इस कृति में 'मंगल दल' जैसे नारी संगठनों का भी जिक्र है जिन्होंने कुल्हाड़ी की मार से देवदार को बचाकर प्रकृति को संरक्षित किया और कुल्हड़ तोड़ने वाले शराबियों से शराब छुड़वाकर भावी पीढ़ी के भविष्य को संरक्षित किया।

भारत में अध्यात्म मूल तत्त्व है जो देशवासियों को ऊर्जान्वित करके धर्म के द्वारा देश को एकीकृत रखता है जिसका व्यावहारिक रूप शंकराचार्य जैसे मनीषियों में दिखाई देता है। किंतु वर्तमान में सांप्रदायिकता भी धर्म का चोला ओढ़कर आती है जिसका वर्णन लेखक ने 'कमजोर कंधों की काँवड़' वाले अध्याय में विशेष रूप से किया है। अनुष्ठान का मर्म समझे बिना ज्यादातर लोगों द्वारा केवल प्रदर्शन के लिए उसे किया जाता हैं। काँवड़ इस देश में नागरिकों में भक्ति भाव को उद्दीप्त करता है, स्थानीयता को अखिल भारतीय सूत्र से जोड़ता है किंतु लेखक ने इसमें आई विकृतियों को भी उजागर किया है जिससे यह अपने मूल स्वरूप से तो दिग्भ्रमित है ही, पर्यावरण पर भी इसका हानिकारक प्रभाव पड़ रहा है। अभय मिश्र ने उल्लेख किया है कि *गंगोत्री में जबसे काँवड़ यात्रा ने जोर पकड़ा है तब से प्लास्टिक का एक नया ही बाजार खड़ा हो गया है।* लेखक ने 'कमजोर कंधों की काँवड़ 2' शीर्षक अध्याय में प्लास्टिक निर्मित पूरी वस्तुओं की सूची दी है जिनको बाजार द्वारा सुविधा के नाम पर बढ़ावा दिया जाता है जिससे आस्था का स्वरूप बदल गया है। यहाँ आडंबर का स्थान ज्यादा है और प्रपंच को ही प्रचारित किया जाता है। पहाड़

पिकनिक स्थल में बदल गए है। वह मैगी का पहाड़ हो गया है जो नदी किनारे सुखद दृश्य के साथ क्षणभर के लिए पर्यटकों के स्वाद को तृप्ति देता है, बादल फटने या पहाड़ों में भूस्खलन की दुर्घटनाओं के दौरान फँसे लोगों के लिए यही खाद्य एकमात्र सहारा होता है।

पहाड़ों में जहाँ कुछ लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर *गंगा को माई नहीं मालगाड़ी की तरह देखते हैं।* वहीं मैदानी भागों में नदियों का प्रयोग कचरा निस्तारण के लिए किया जाता है। रामगंगा और यमुना जैसी नदियों में बिना कचरे को फिल्टर किए गंदला पानी छोड़ा जा रहा है जिससे नदियाँ रुग्ण हो रही हैं जिसका असर गंगा की सेहत पर भी पड़ता है। 'निंजा वायरस' शीर्षक अध्याय में लेखक ने लिखा है कि *गंगा के मैदानी भाग ने धीरे–धीरे ही सही पर अपनी नदी के गंगत्व को मारने में अहम भूमिका निभायी है।* इस कृति में अभय मिश्रा ने संन्यासी विद्रोह जैसे अध्याय में उन तपस्वियों का जिक्र भी किया है जो गंगा की अविरलता को बचाने के लिए प्रतिबद्ध रहे। अपने प्राण को भी गंगा के अस्तित्त्व की रक्षा के लिए अर्पित कर दिया जिसमें प्रो. जी.डी. अग्रवाल का नाम अहम है किंतु गंगा के हित समर्पित लोगों को समाज और सरकार का सहयोग न के बराबर मिलता है। अपनी निराशा को प्रो. जी.डी. अग्रवाल ने निम्न शब्दों में लेखक से 11 अक्तूबर 2013 को बयां किया था कि *अभय, मुझे निराशा होती है, हमारे चारों ओर कांपिटेंट(सक्षम) लोग है लेकिन उनमें कमिटमेंट(प्रतिबद्धता) नहीं है।*

अपनी कृति में लेखक ने गंगा पथ का आँखों देखा विवरण दिया है। जहाँ वास्तविकता सीधे तौर पर नहीं बताई जा सकती थी, वहाँ लेखक ने कहानी का सहारा लिया है और पात्रों के माध्यम से यथार्थ को गहराई में अभिव्यक्त किया है। अपनी कृति में लेखक ने उस कल्पना के साकार होने का आह्वान किया है जिसमें गंगा के अविरल प्रवाह को समाज और सरकार अपने निजी और तत्कालीन सुखों को त्याग कर नदियों की स्वच्छता के लिए समर्पित हो सकेत तथा धर्म की वास्तविकता को पहचान कर आचरण के लिए दृढ़ संकल्पित हो सकें।

❑❑❑

परिचय

अभय मिश्र– पर्यावरण पत्रकारिता में विशेष लेखन, 'दर–दर गंगे' सहित 'माटी मानुष चून' और, 'चुलु भर कहानी के लेखक।

गौरव गौतम– 'आनंद काव्य जिज्ञासा' नामक आलोचनात्मक कृति प्रकाशित। संप्रति– सहायक, हिंदी शासकीय महाविद्यालय, रतलाम, मध्यप्रदेश।

संपर्क

लेखकः अभय मिश्र– जनपद–सम्पदा डिविजन, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, जनपद रोड, नई दिल्ली–110001, ईमेलः findabhay@gmail.com, मो. 9871765552

समीक्षकः गौरव गौतम– वार्ड क्रमांक 43, उत्तम नगर, रीवा, मध्यप्रदेश–486001, ईमेलः gaurav7222919271@gmail.com, मो. 6263610187

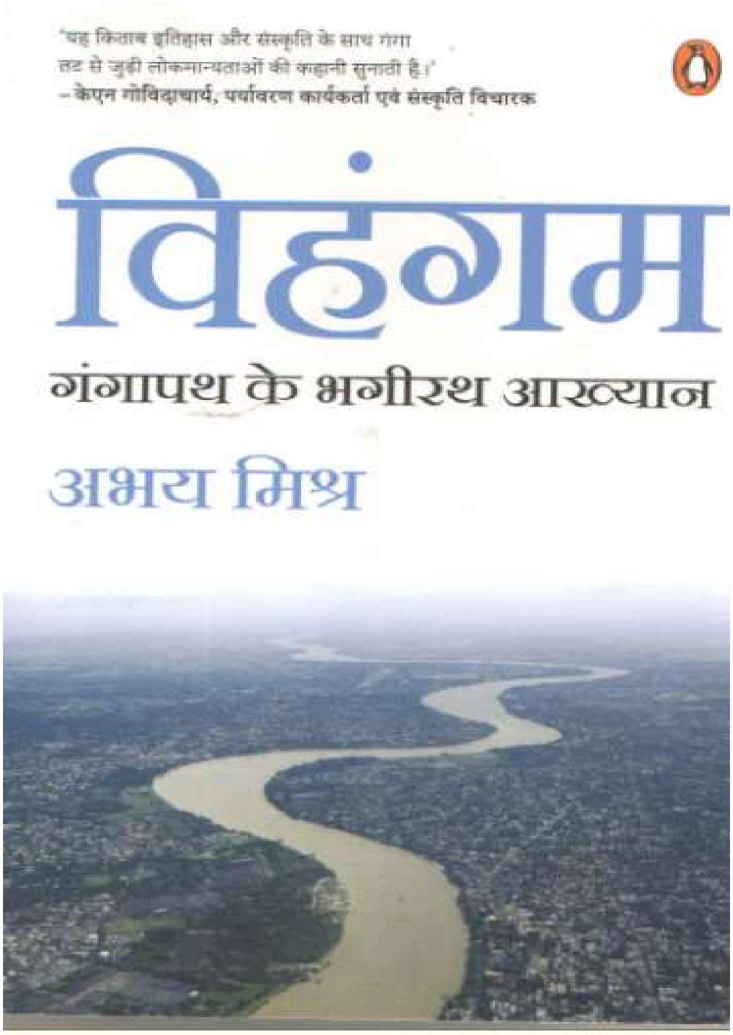

प्रकारांतर से

हेमचन्द्र पांडे

'प्रकारांतर' से पुस्तक के लेखक कुबेर कुमावत जी अमलनेर, जिला जलगाँव (महाराष्ट्र) के प्रताप कॉलेज में हिंदी के प्राध्यापक हैं। आपकी मातृभाषा मराठी है। अपनी इस रचना को कुमावत जी ने 'डायरी' की विधा में रखा है जो, वास्तव में, 'डायरी' के प्रचलित अर्थ से पर्याप्त भिन्न है क्योंकि इसमें दी गई सामग्री सामान्य डायरी की तरह किसी कालक्रम से बँधी हुई नहीं है। लेखक ने मुक्त रूप से पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं जो इस 'डायरी' की प्रमुख विशेषता है।

अपने डायरी–लेखन को कुमावत जी ने इस पुस्तक में ही परोक्ष रूप से स्पष्ट कर दिया है – *साहित्य के क्षेत्र में विधिवत 'साहित्य के अध्यापक' के रूप में प्रवेश कर मुझे लगभग 22 वर्ष बीत चुके हैं। इस लंबे कालखंड में मैं अभी–अभी कुछ लिखने लगा हूँ। यह लिखना पूरी तरह से अंतः स्फुरित है। जब कुछ विचार स्फुरित होने लगते हैं या कुछ अनुभव जब शब्दों में आकार ग्रहण करने लगते हैं, तो एक अजीब–सी बेचैनी होने लगती है। मैं किसी भी तरह से अपने आपको कथात्मक स्तर पर कुछ भी लिखने में असमर्थ एवं अक्षम अनुभव करता हूँ। दूसरी ओर वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक लिखने की प्रतिभा भी मुझमें नहीं है।... मैं कुछ कथेतर किस्म का एवं अकलात्मक गद्य लिखने में ही अपने आपको सहज पाता हूँ। मेरे इस तरह लिखने की आधारभूमि भी यथार्थ एवं वास्तविकता से जुड़े प्रसंग एवं अनुभव ही होंगे।* (पृ. 38)

इस स्पष्टीकरण के बाद यह समझ में आने लगता है कि यह लेखन–कार्य छोटे–छोटे विषयों को लेकर समय–समय पर चलता रहता है। किसी एक विषय को पढ़ लेने के बाद पाठक के मन में एक प्रकार की सहज उत्सुकता जगा देता है कि लेखक ने अगला विषय कौन–सा चुना होगा। इसीलिए यह 'डायरी' सामान्य डायरियों से पर्याप्त भिन्न तो अवश्य है, परंतु यह भी अपने आप में डायरी–लेखन ही है जिससे 'डायरी' की विधा का विस्तार हुआ है।

प्रकारांतर से (डायरी)– कुबेर कुमावत, इंक पब्लिकेशन प्रथम राज संस्करण–2024, मूल्य– 360/– पृष्ठ संख्या–300।

डायरी के रूप में देखें तो इसका रचना–काल 28 अक्तूबर 2020 से लेकर 21 अप्रैल 2023 के बीच का है। इसी बीच कोविड (कोरोना) भी आया था, इसलिए इस विषय को इस डायरी में शामिल किया जाना स्वाभाविक ही है। स्वयं लेखक भी कोरोनाग्रस्त हो गए थे। 15.04.2021 तथा 19.04.2021 की प्रविष्टियाँ (भय, वेदना, चिंता और धैर्यः कोरोना से मेरा युद्ध, पृ. 52–57; तथा कोरोना का मृत्यु तांडवः यह मैंने क्या खोया, प्रभु, पृ. 58–61) इसी विषय पर हैं। इनमें से पहली प्रविष्टि में लेखक ने अस्पताल के अपने अनुभवों का वर्णन किया है जो कोरोना–काल में लगभग सभी मरीजों को हुए होंगे। इसमें लेखक ने यह भी लिखा है कि उन्हें अपनी दवाइयाँ जलगाँव के किसी मेडिकल स्टोर से मुफ्त में प्राप्त हो गई थीं जिसके कारण अस्पताल के मेडिकल स्टोर के विक्रेता उनसे नाराज हो गए थे जिन्होंने अस्पताल में भर्ती करवाने में लेखक की मदद की थीं (पृ.54–55)!

किसी विषय–विशेष में न बँधे होने के बावजूद इस डायरी की बहुत–सी प्रविष्टियाँ शिक्षा और अध्यापन से संबंध रखती हैं। अनेक प्रविष्टियों में व्यक्तिगत अनुभवों और घटनाओं का भी प्रभावशाली वर्णन हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों को लेकर भी लेखक ने जगह–जगह अपने विचार व्यक्त किए हैं।

शिक्षा, अध्यापन और शोध की बात करें तो कुमावत जी इन सब क्षेत्रों में गिरते स्तर को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। परंतु उनका यह भी मानना है कि पहले विद्यार्थियों में रुचि जागृत करनी चाहिए, भले ही वे गुलशन नंदा, सुरेंद्र शर्मा या कांत जैसे लेखकों को ही क्यों न पढ़ें। ऐसा उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिखा है (पृ. 14)। एक अन्य रोचक बात; उनके एक विद्यार्थी का यह कथन था कि खेती करने से पढ़ाई करना कई गुना आसान है। खेती में काम करना वह ज्यादा जरूरी समझता है। पढ़ाई–लिखाई करने को उसने सरल काम बताया (पृ. 194)। इस तरह के विषयों के साथ ही लेखक ने कालेजों में प्राध्यापकों की नियुक्ति जैसे विषय को भी बिना किसी संकोच के अपनी इस डायरी में सम्मिलित किया है (पृ. 71)।

इस डायरी में कई व्यक्तिगत अनुभव और घटनाएँ भी पढ़ने को मिलती हैं जिनमें एक घटना अपनी असाधारणता के लिए हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है, यद्यपि जिस परिवेश में वह घटना घटित हुई थी उसमें कोई असाधारणता संभवतः नहीं थी। लेखक के ही शब्दों में आगे पढ़िए–

आज मैं शाम के समय बस से धुले गया था। लगभग साढ़े आठ बजे घर लौटा। धुले शहर में प्रवेश करने से पूर्व राष्ट्रीय मार्ग के ओवरब्रिज के नीचे से होते हुए ही आगे बढ़ने के बाद कुछ मटन की दुकानें हैं। कुछ चीजें या दृश्य ऐसे होते हैं कि जब

आप देख रहे होते हैं तो वे बीच में ही आ जाते हैं और एकदम से आप उन्हें अनदेखा नहीं कर सकते। आप ऐसे दृश्यों को देखने के लिए तैयार भी नहीं होते। पर कुछ तो देखना ही पड़ता है। मैं तो मेरी बस की खिड़की से बायोस्कोप की तरह बाहरी दृश्यों को देख रहा था और यह दृश्य एकदम से बीच में आ गया। मैं तो पहले समझा ही नहीं कि यह मैंने क्या देखा? उस दुकान के बाहर और लगभग रास्ते के निकट ही एक 13–14 वर्ष का लड़का बकरे की अधकटी गर्दन को अपने दोनों हाथों से मरोड़ रहा था। लगभग जैसे किसी पेड़ की टहनी को मरोड़कर तोड़ने का प्रयत्न किया जाए, वैसे ही। उस बकरे की गर्दन चाकू से पूरी कटी नहीं थी और उसके शरीर में कुछ चेतना भी थी। पर ऐसी हालत में अत्यंत क्रूरता से उसकी गर्दन को मरोड़ने जैसे दृश्य को एक या दो सेकंड के लिए देखना भी मेरे लिए अत्यंत भारी और असह्य हो गया और मैंने ईश्वर से कहा कि तुमने मुझे यह सब क्यों दिखाया? ... लेकिन कसाई या उसके 13–14 वर्ष के बेटे का तो यह रोज का काम हो चुका है। (पृ. 252–253)

अपनी इस पुस्तक में कुमावत जी ने डायरी विधा की तीन पुस्तकों का भी उल्लेख किया हैं। उनमें से एक है दिनकर की डायरी जो 2 जनवरी 1961 से 31 दिसंबर 1972 के बीच लिखी गई थी (189–192)। दूसरी है बलराज पांडेय की पुस्तक "डायरी में साहित्य" जिसमें अक्तूबर 2001 से लेकर मार्च 2013 तक के हिंदी के साहित्यिक परिवेश, अकादमिक और साहित्यिक गतिविधियों का लेखा–जोखा मिलता है (पृ. 262)। तीसरी है कश्मीर के लोकप्रिय कवि निदा नवाज की "सिसकियाँ लेता स्वर्ग" जो कश्मीर की तत्कालीन स्थिति, सामाजिक और धार्मिक परिवेश तथा समस्याओं को समझने में सहायक तो है ही, पर इसमें वह भी है जो प्रायः लोगों को दिखाया नहीं जाता (पृ. 261–262)।

लेखक की भाषा–शैली में कहीं–कहीं मराठी की छाया भी हिंदी के साथ चलती दिखाई देती है और इस तरह आया स्थानीयता का पुट पुस्तक की भाषा को विशिष्टता प्रदान करता है।

पुस्तक को पढ़ते–पढ़ते क्रमशः लेखक का ऐसा व्यक्तित्त्व उभरकर सामने आता है जिसमें निष्ठा, अध्यवसाय, कर्तव्यपरायणता, भाषा–प्रेम के साथ–साथ संवेदनशीलता भी झलकती है। इस तरह की अपने में विशिष्ट 'डायरी' हिंदी की डायरी विधा को निश्चय ही समृद्ध करती है।

❑❑❑

परिचय

कुबेर कुमावत– विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में कविताएँ लेखः पुस्तक–समीक्षा निबंध डायरी प्रकाशित, लोग जिनकी जड़े होती है कविता–संग्रह प्रकाशित।

हेमचन्द्र पांडे– भाषाविज्ञान अनुवाद, कोश रचना आदि के क्षेत्र में सक्रिय। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख इत्यादि प्रकाशित। भारतीय अनुवाद परिषद के 'नातालि अनुवाद पुरस्कार' से सम्मानित।

संपर्क

लेखकः कुबेर कुमावत, 'युधिका', प्लाट नं.–38, 1762/3, केलेनगर, ढेकू रोड अमलनेर, जलगाँव, महाराष्ट्र–425401, ईमेल : kuberkumawat72@gmail. com, मो. – 9823660903,

समीक्षकः हेमचन्द्र पांडे– वाई–81, हौज खास, नई दिल्ली–110016, ईमेल : hcpande1@rediffmail. com, मो. – 8527605336

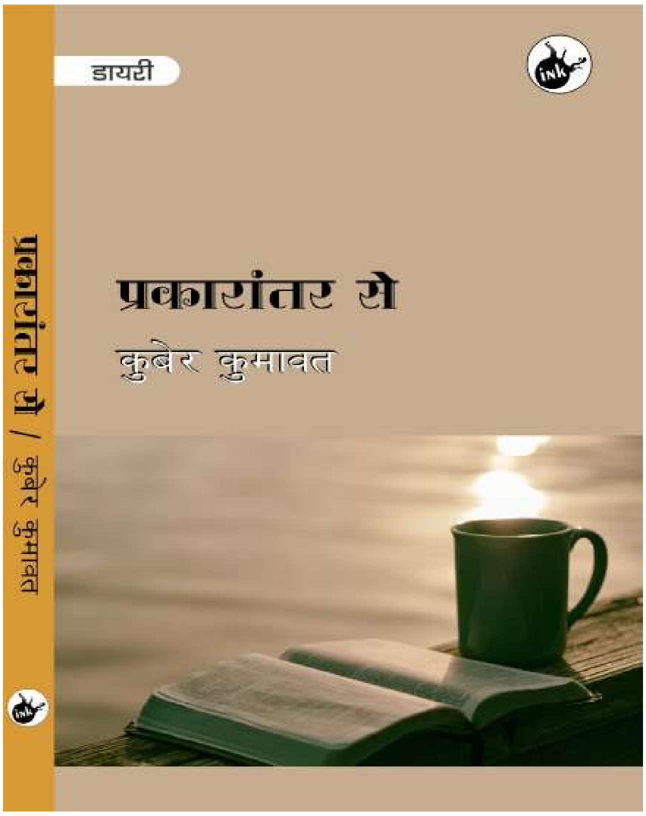

भारतीयता, भारतीय संस्कृति और आधुनिकता

प्रियंका यादव

'भारतीयता, भारतीय संस्कृति और आधुनिकता' पुस्तक डॉ. संगीता कुमारी द्वारा संपादित पुस्तक है जिसका प्रकाशन किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली से किया गया है। इसका प्रथम संस्करण वर्ष 2024 में प्रकाशित है। 132 पृष्ठों की इस पुस्तक में एक राष्ट्र के रूप में भारत, भारतीय संस्कृति और आधुनिकता से संबंधित विभिन्न पहलुओं का समावेश किया गया है। डॉ. संगीता कुमारी, हिंदी विभाग, जगजीवन महाविद्यालय, गया में सहायक आचार्य के रूप में कार्यरत हैं। यह महाविद्यालय मगध विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है।

लेखिका ने अपनी भूमिका में राष्ट्र के रूप में भारत की अवधारणा को लेकर यह प्रश्न उठाया है कि राष्ट्र के रूप में भारत 15 अगस्त, 1947 को अस्तित्त्व में आया या यह इससे पूर्व से ही एक राष्ट्र के रूप में अस्तित्त्व में था। उन्होंने आनंद कुमारस्वामी को उद्धृत करते हुए कहा है कि महाभारत काल से ही राष्ट्र के रूप में भारत का अस्तित्त्व था। इस संदर्भ में वे राष्ट्र की पहचान के दो मौलिक तत्त्वों का उल्लेख करती हैं– भौगोलिक आधार और राष्ट्र की चेतना/आत्मा। औपनिवेशिक शासन के प्रसंग में उनका मत है कि भारत की साझी सांस्कृतिक विरासत और आधुनिक पाश्चात्य विचार समानांतर रूप से साथ–साथ चले। इसके परिणामस्वरूप भारतीय चेतना के पुनर्विकास को वे देखती हैं।

डॉ. संगीता कुमारी की इस संपादित पुस्तक में देश के प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थाओं के शिक्षाविदों ने राष्ट्र के रूप में भारत, भारतीय संस्कृति की महत्ता और आधुनिकता के विभिन्न आयामों पर अपने शोध आलेख लिखे हैं। इस पुस्तक में कुल पंद्रह शोध आलेखों का संकलन किया गया हैं।

पुस्तक का पहला अध्याय 'भारतीय जीवन मूल्यों को अपनाकर विजय होगी मानवता' डॉ. चंद्रमोहन उपाध्याय द्वारा लिखा गया है। इस आलेख में भारतीय जीवन मूल्यों के महत्त्व और उसकी प्रासंगिकता का विवेचन किया गया है। डॉ. उपाध्याय ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि भारतीय जीवन मूल्यों को अपनाकर ही

भारतीयता, भारतीय संस्कृति और आधुनिकता, संगीता कुमारी, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2024, मूल्य– 295/–, पृष्ठ संख्या–132।

एक सार्थक जीवन जिया जा सकता है। 'भारतीय संस्कृतिः चित्र, चित्त और चरित्र' आलेख में डॉ. रत्नेश विष्वक्सेन ने भारत की भौगोलिक विविधता और विशालता, भारतीय वाङ्मय में वर्णित ज्ञान परंपरा और भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों को रेखांकित किया हैं। विभिन्न पौराणिक आख्यानों और दृष्टांतों के माध्यम से उन्होंने भारतीय चिंतन की विशिष्टता को रेखांकित किया है। 'भारतीय संस्कृति का नया परिप्रेक्ष्य' आलेख ओम प्रकाश सिंह और सोनम सिंह द्वारा लिखित है। इस आलेख में लेखकद्वय ने भारतीय संस्कृति की समृद्ध परंपरा पर विचार किया है। वर्तमान में पॉपुलर कल्चर के आगमन से जो परिवर्तन भारतीय समाज में हो रहे हैं, उसका भी विवरण प्रस्तुत किया गया है।

'भारतीय समाज की बेपरवाही और समकालिक परिदृश्य' आलेख राम बख्श ने लिखा है जिसमें भारतीय समाज की बेपरवाही पर उन्होंने चिंता व्यक्त की है। भारतीय समाज उन विषयों पर भी उदासीन है जहाँ उसे दृढ़ और संयमित होना चाहिए। 'भारतीय संस्कृति का सौंदर्य और उत्तर आधुनिक परिस्थिति' आलेख रीता सिन्हा ने लिखा है। इसमें उन्होंने कहा है कि भारतीय संस्कृति का सौंदर्य मानवतावाद और करुणा में निहित है। भारतीय संस्कृति को जानने के लिए लोक चेतना को समझने की आवश्यकता है। भारतीय ज्ञान परंपरा की समृद्धि पर भी उन्होंने चर्चा की है। उत्तर आधुनिक संस्कृति में उपभोक्तावाद अपने चरम पर है। ध्वंस के हथियारों का निर्माण हो रहा है। साम्राज्य विस्तार और उपनिवेशवाद की मानसिकता ने पूरे विश्व को युद्ध जैसी परिस्थितियों में ला दिया है। लेखिका ने अपने लेख में इन विषयों पर अपनी चिंता प्रकट की है। साथ–साथ लेखिका चरित्र निर्माण, सामासिक संस्कृति आदि पर भी अपनी बात रखती हैं। 'धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्र निर्माण' आलेख अभिषेक कुमार ने लिखा है। उन्होंने 'धर्म' और 'रिलिजन' दोनों को एक समझने पर आपत्ति प्रकट की है। उनका कहना है कि धर्म का समतुल्य अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। भारतीय राष्ट्रवाद पर भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया है। राष्ट्र निर्माण में संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में भाषा की उन्होंने चर्चा की है। भारतीय संस्कृति द्वारा उच्चतर मानवीय मूल्यों का लगातार पोषण होता रहा है। "भारतीय संस्कृति की धरोहर 'वसुधैव कुटुंबकम'" आलेख रूपेश कुमार चौहान ने लिखा है। उन्होंने इस आलेख में वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, धर्म आदि विषयों पर चर्चा की है। भारतीय चिंतन में विश्व कल्याण की भावना का प्रतिपादन हुआ है, विभिन्न प्रसंगों द्वारा उन्होंने इसकी पुष्टि की है।

'आधुनिकता और भारतीय धर्म' शीर्षक आलेख दीपक कुमार गुप्ता ने लिखा है। उन्होंने वैश्वीकरण के व्यक्ति और समाज पर पड़े प्रभाव को अपने आलेख में विश्लेषित किया है। उन्होंने नैतिकता और धर्म के पारस्परिक संबंध की विवेचना की है। धर्म और विज्ञान के पारस्परिक संबंध की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि धर्म और विज्ञान

दोनों का उद्देश्य मानव सेवा में तत्पर होना है और सत्य की खोज करना है। 'बदलते समय में साहित्य' शीर्षक आलेख रामानुज यादव ने लिखा है। कोविड महामारी के साथ–साथ विभिन्न महामारियों का प्रभाव किस प्रकार से साहित्य लेखन पर पड़ा है, इसका भी विवरण उन्होंने विभिन्न दृष्टांतों के द्वारा दिया है। उन्होंने कोरोना काल के दौरान उपजी समस्याओं की चर्चा की है और किस प्रकार ऐसे कठिन समय में लेखकों और कवियों ने अपने को अभिव्यक्त किया, इसकी भी चर्चा की है।

"प्रतिरोध की संस्कृति और "छिन्नमस्ता नहीं मैं' महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप" चंद्रकला का एक विचारात्मक लेख है। समसामयिक परिवेश में अपने हक की लड़ाई लड़ती महिलाओं को कितने मोर्चों पर संघर्ष का सामना करना पड़ता है, अपने वजूद को बचाने के लिए कितनी लड़ाई लड़नी पड़ती है, इसका चित्रण उन्होंने अपने आलेख में किया है। स्त्री अस्मिता और स्त्री संवेदना को लेकर लिखा गया उनका यह लेख स्त्री लेखन पर एक महत्त्वपूर्ण लेख है। 'सामर्थ्य और मुकाबले/सामना करने की रणनीतियों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव' पूनम फोगाट का आलेख है। वैश्विक महामारियों की चर्चा करते हुए भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उन्होंने इस महामारी की स्थिति को समझने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि महामारी हो या कोई अन्य मुद्दा हो, किसी भी समस्या के संपूर्ण संदर्भ को समझने की आवश्यकता होती है और तभी हम किसी बेहतर परिणाम की ओर बढ़ सकते हैं।

'भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं स्वामी विवेकानंदः वैश्विक शांति एवं उत्थान का एकमात्र मार्ग' कुमार पीयूष पुष्कर का आलेख है। भारत की विश्वगुरु के रूप में छवि पुनः स्थापित हुई है ऐसा उनका मानना है। विवेकानंद के विचारों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा की समृद्धि पर प्रकाश डाला है। उन्होंने दुनिया को विवेकानंद के दर्शन को स्वीकार करने की अपील की है। 'संस्कृति और समाज का अंतर्संबंधः एक अवलोकन' कुमारी शुभ्रा का आलेख है, जिसमें उन्होंने संस्कृति और समाज को महज दो शब्द नहीं बल्कि मनुष्य के जीवन का आधार कहा है। भारतीय संस्कृति की व्यापकता और विलक्षणता की उन्होंने चर्चा की है। 'नवनिर्माण के मुहाने पर खड़े भारत के समक्ष चुनौतियाँ' कमलेश का आलेख है। उन्होंने कोविड से उपजी परिस्थितियों को देखते हुए भारत के समक्ष जो चुनौतियाँ हैं, उनकी चर्चा अपने आलेख में की है। "'विश्व गुरु' के रूप में भारतीय संस्कृतिः मिथक या यथार्थ' संगीता कुमारी का आलेख है जिसमें उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा की समृद्धि की चर्चा की है।

यह पुस्तक पाठक को भारतीयता की अवधारणा से परिचित कराती है तथा भारतीय संस्कृति की विशेषताओं से अवगत कराती है। साथ ही भारतीय संस्कृति पर आधुनिकता के पड़ रहे प्रभाव का मूल्यांकन करती है। आधुनिकता के दबाव को भारतीय संस्कृति ने किस प्रकार सहन किया है और आधुनिकता के सम्मिश्रण से भारतीय जनजीवन ने किस प्रकार नई दिशा प्राप्त की है और किस प्रकार विश्व को

नई दिशा देने को भारत तैयार है, इसका भी विवेचन विभिन्न आलेखों में किया गया है।

इस पुस्तक के सजिल्द संस्करण का मूल्य दो सौ पचानवे रुपए रखा गया है जो निश्चय ही पाठकों की पहुँच में है। कुल मिलाकर यह एक पठनीय पुस्तक है।

❑❑❑

परिचय

संगीता कुमारी– विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में कई शोध–आलेख प्रकाशित। 'आलोचकों की नजर से रेणु' पुस्तक प्रकाशित।

प्रियंका यादव– संप्रति– समाजशास्त्र विभाग, पी. जी. डी. ए. वी. कॉलेज, आजमगढ़ में शोधार्थी।

संपर्क

लेखिकाः संगीता कुमारी,– हिंदी विभाग, जगजीवन महाविद्यालय (मगध विश्वविद्यालय), गया, बिहार–824234

समीक्षकः प्रियंका यादव– 5–भारती नगर, जौनपुर, उत्तर प्रदेश– 222002,
ईमेल : priyankaccms@rediffmail.com, मो. 8275783361

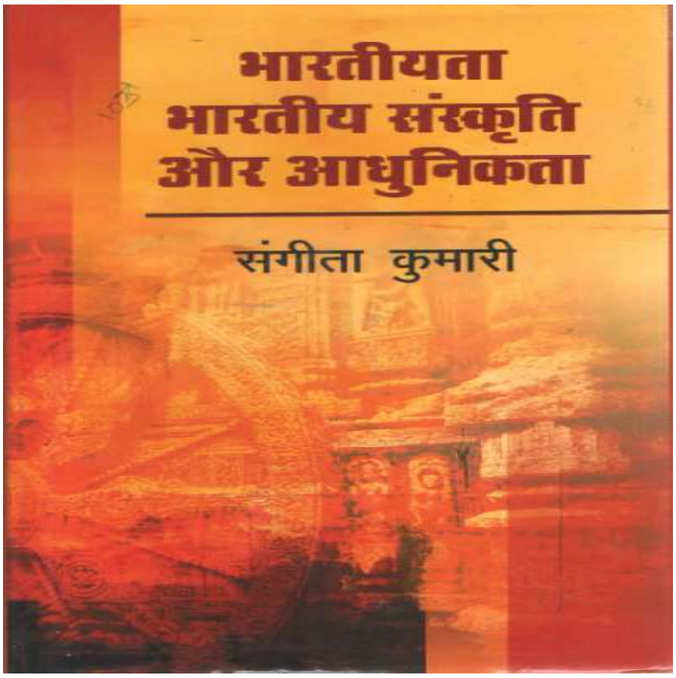

आपने लिखा

'भाषा' के सितंबर–अक्तूबर 2025 अंक में 'प्रधान संपादक की कलम से' अंतर्गत श्री हितेंद्र कुमार मिश्र की भारतीय संस्कृति पर अभिव्यक्त हमारे देश की सांस्कृतिक चेतना तथा सामाजिक मूल्य और परंपरा संबंधी सारगर्भित जानकारियाँ अति सराहनीय हैं, क्योंकि आए दिन संस्कृति पर हमले और संरक्षण पर चर्चाएँ जोर पर हैं। परोपकार या लोकहित के पक्ष में समर्पित हमारी सदियों पुरानी संस्कृति निस्संदेह हजारों वर्षों से मानव–धर्म की वकालत करती आई है जिसका उल्लेख आज भी हम हमारी विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों और कृतियों में हो रहा है। यह भी सच है कि आज के भूमंडलीकृत बाजारवादी युग में उपभोक्तावादी संस्कृति के जाल में फँसने के कारण अनेक प्रकार के सामाजिक बदलाव और राजनीतिक उठापटक में रचनाकारों पर मानसिक दबाव है, फिर भी हमारे साहित्यिक विभूतियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा मानव–धर्म की अवधारणा को पल्लवित और पुष्पित करने के अभियान को नहीं तोड़ा बल्कि दृढ़ संकल्पित होकर आज भी लगे हुए हैं, जो हमारे लिए निश्चय ही गर्व की बात है।

संपादकीय में एस. एम. नूर अहमद ने वैश्विक स्तर पर भारत के बढ़ते कदम और विचारों के वर्चस्व की चर्चा हमारी भाषाओं की कृतियों के संदर्भ की है और साथ ही हिंदी की बढ़ती लोकप्रियता की विवेचना भी की है, जो अक्षरशः विचारणीय है। सचमुच यह गर्व करने का विषय है कि आज हिंदी विश्व की लोकप्रिय और व्यवहृत भाषाओं में एक है और विश्व की कई भाषाओं के लोग हिंदी सीखने और पढ़ने में रुचि दिखा रहे हैं।

इस अंक में नेपाली के मूर्धन्य साहित्यकार श्री मनप्रसाद सुब्बा की कहानी 'उत्तर मानव' के हिंदी अनुवाद को पत्रिका में जगह देने के लिए अनुवादक की हैसियत से आभार व्यक्त करता हूँ और भविष्य में यथा संभव मौलिक या अनूदित रचनाएँ भेजने की कोशिश अवश्य करूँगा।

बिर्ख खडका डुवर्सेली
आमा खडकालय, दुर्गागढ़ी, दार्जीलिंग (प. बंगाल) 734330

भारतीय ज्ञान परंपरा और विज्ञान लेखन पर आया भाषा। पत्रिका का यह विशेषांक भारतीय चिंतन के नवोन्मेषी स्वरूप का द्योतक है। इस महती कार्य में संलग्न सभी को हार्दिक शुभकामनाएँ और बधाई।

अमित सिंह

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र

सेवा में,

निदेशक
केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, पश्चिमी खंड–7, आर. के. पुरम्, नई दिल्ली – 110066
ई–मेल – chdsalesunit@gmail.com
फोन नं. – 011–26105211 एक्सटेंशन नं. 248, 244

महोदय/महोदया,

कृपया मुझे भाषा (द्वैमासिक पत्रिका) का एक वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए/ दस वर्ष के लिए दिनांक .... से सदस्य बनाने की कृपा करें। मैं पत्रिका का वार्षिक/ पंचवर्षीय/ दसवर्षीय सदस्यता शुल्क .... रुपये, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट सं. .... दिनांक .... भेज रहा/रही हूँ। कृपया पावती भिजवाएँ।

नाम : ....
पूरा पता : ....
....
....
मोबाइल/दूरभाष : ....
ई–मेल : ....
संबद्धता/व्यवसाय : ....
आयु : ....
पूरा पता जिस पर : ....
पत्रिका प्रेषित की जाए ....

सदस्यता	शुल्क डाक खर्च सहित
एक प्रति का मूल्य	रु. 50.00
वार्षिक सदस्यता	रु. 250.00
पंच वर्षीय सदस्यता	रु. 1250.00
दस वर्षीय सदस्यता	रु. 2500.00

सदस्यता शुल्क सीधे www.bharatkosh.gov.in – Quick Payment – Ministry (007 Higher Educationn) Purpose (Education receipt)--- 211766 JR. ADMN. OFFICER, CENTRAL HINDI DIRECTORATE में digital mode से जमा करवाई जा सकती है।
डिमांड ड्राफ्ट निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए। कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम, पूरा पता और दूरभाष भी लिखें।

नाम एवं हस्ताक्षर

नोट : कृपया पते में परिवर्तन होने की दशा में कम से कम दो माह पूर्व सूचित करने का कष्ट करें।

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
कार्यक्रम एवं योजनाएँ

1. शब्दकोश
- (i) हिंदी–हिंदी कोश
- (ii) भारतीय भाषा कोश
- (iii) हिंदी–हिंदी कोश

2. पत्राचार पाठ्यक्रम
- (i) हिंदी सर्टिफिकेट
- (ii) हिंदी डिप्लोमा
- (iii) एडवांस हिंदी डिप्लोमा
- (iv) सिविल सेवा हिंदी पाठ्यक्रम
- (v) प्रबोध, प्रवीण तथा प्राज्ञ
- (vi) बेसिक कोर्स इन हिंदी

3. प्रतिपूरक शैक्षिक सामग्री
- (i) दृश्य–श्रव्य सामग्री
- (ii) हिंदी प्राइमर
- (iii) देवनागरी लिपि अभ्यास पुस्तक
- (iv) स्वयं शिक्षक
- (v) वार्तालाप पुस्तक

4. देवनागरी लिपि तथा हिंदी वर्तनी का मानकीकरण

5. हिंदी के प्रचार–प्रसार के लिए स्वैच्छिक हिंदी संस्थाओं को वित्तीय सहायता
- (i) हिंदी के प्रचार–प्रसार के लिए वित्तीय सहायता
- (ii) हिंदी के प्रकाशन के लिए वित्तीय सहायता

6. भाषा/वार्षिकी/साहित्यमाला

7. विस्तार
- (i) हिंदीतरभाषी हिंदी नवलेखक शिविर
- (ii) छात्र अध्ययन यात्रा
- (iii) शोध–छात्र यात्रा अनुदान
- (iv) प्राध्यापक व्याख्यानमाला
- (v) राष्ट्रीय संगोष्ठी
- (vi) हिंदीतरभाषी हिंदी लेखक पुरस्कार
- (vii) शिक्षा पुरस्कार

8. हिंदी पुस्तकों का निःशुल्क वितरण

9. पुस्तक प्रदर्शनी एवं बिक्री

पंजी. संख्या 10646/61
ISSN 0523-1418

भाषा (द्वैमासिक)
BHASHA-BIMONTHLY
पी. ई. डी. 305–1–2026
500

भाषा पत्रिका के महत्त्वपूर्ण विशेषांक

1.	शांति रक्षा विशेषांक	जून, 1964
2.	द्विवेदी स्मृति विशेषांक	अगस्त, 1964
3.	विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक	1983 ई.
4.	रजत जयंती विशेषांक	मार्च–जून, 1985
5.	रजत जयंती परिशिष्टांक विशेषांक	सितंबर, 1985
6.	संत कबीर विशेषांक	मई–जून, 1998
7.	विदेशों में हिंदी साहित्य विशेषांक	मार्च–अप्रैल, 2003
8.	उत्तरपूर्वी साहित्य विशेषांक	नवंबर–दिसंबर, 2004
9.	कवि शमशेर पर केंद्रित विशेषांक	जनवरी–फरवरी, 2011
10.	रामविलास शर्मा विशेषांक	मई–जून, 2013
11.	विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक	जुलाई–अगस्त–सितंबर–अक्तूबर, 2015
12.	अभिनवगुप्त और भारतीय साहित्य विशेषांक	सितंबर–अक्तूबर, 2016
13.	विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरिशस केंद्रित विशेषांक	जुलाई–अगस्त 2018
14.	गांधीः समग्र विचार–दर्शन विशेषांक	नवंबर–दिसंबर 2018
15.	हिंदी एवं भारतीय भाषाओं का अंतर्संबंध विशेषांक	नवंबर–दिसंबर, 2019
16.	भारतीय एवं विश्व सिनेमा विशेषांक	जुलाई–अगस्त 2020
17.	नई शिक्षा नीति विशेषांक	मार्च–अप्रैल 2021
18.	पूर्वोत्तर भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक	मार्च–अप्रैल 2022
19.	पूर्वोत्तर पर विशेष (विशेषांक)	मार्च–अप्रैल 2024
20.	भारतीय ज्ञान परंपरा और विज्ञान लेखन विशेषांक	नवंबर–दिसंबर 2025

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066
दूरभाषः–011–20862356/26105211
एक्सटेंशन– 248/234/231

Central Hindi Directorate
(Ministry of Education, Govt. of India)
West Block-7, Ramakrishnapuram,
New Delhi-110066
www.chd.education.gov.in

भाषा जनवरी–फरवरी 2026